ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

सम्यक्त्व-चिन्तामणि

लेखक :
डॉ० प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

ट्रस्ट-संस्थापक :
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्रकाशक :
मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट
१/१२८ बी० डुमरावबाग कॉलौनी,
अस्सी, वाराणसी–५ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण ५०० प्रति
१९८३

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी (उ० प्र०)
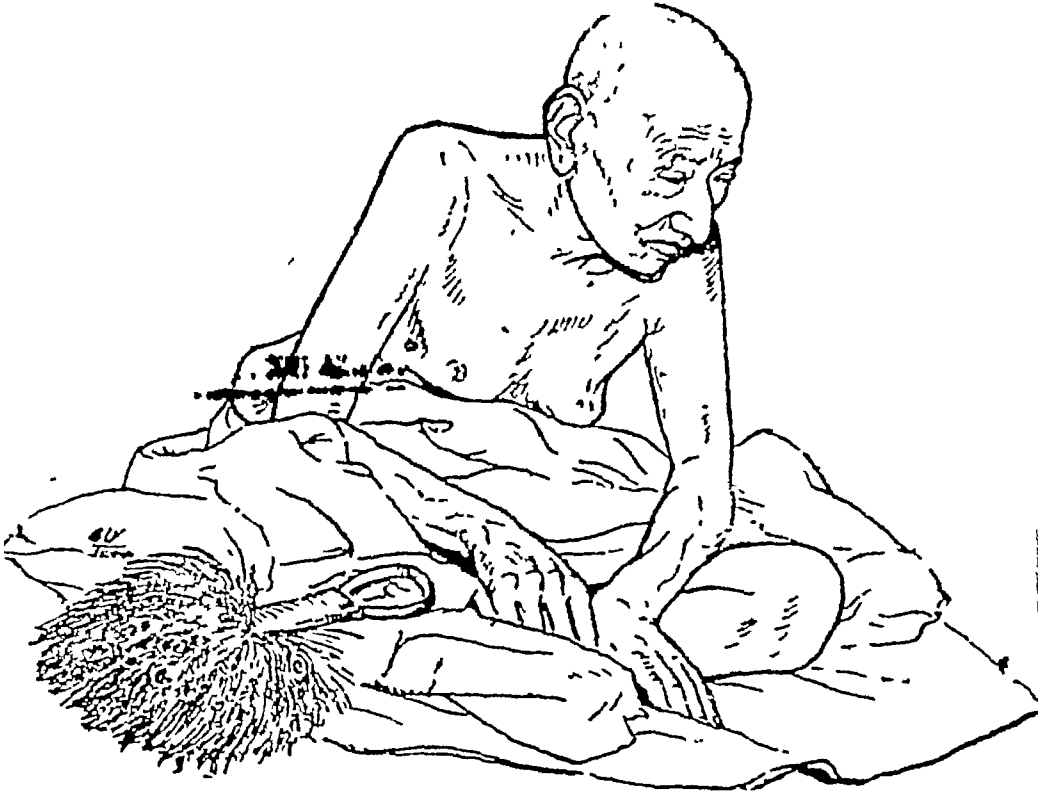
येषां कृपाकोमलदृष्टिपाते
सुपुष्पिताभून्मम सूक्तिवल्ली ।
तान् प्रार्थये वर्णिगणेशपादान्
फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना ॥

मैं अपने जीवन-निर्माता पूज्यपाद, समाधिप्राप्त क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी (कीर्तिसागर मुनिराज) के करकमलोंमें उनके असीम उपकारोंसे अभिभूत हो यह सम्यक्त्व-चिन्तामणि ग्रन्थ सादर-सविनय समर्पित करता हूँ।

—पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

प्राक्कथन

श्रीयुत पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य इस युगके उल्लेखनीय विद्वानोमेसे हैं। वे योग्य अध्यापक, कुशल वक्ता और कुशल साहित्य-सेवी हैं। उन्होने अनेक पुराणोका अनुवाद किया है। किन्तु उनकी प्रकृत रचना **'सम्यक्त्व-चिन्तामणि'** सस्कृत पद्योमे है। जहा तक हम जानते हैं इस प्रकार की यह रचना प्राचीन परिपाटी के अनुरूप है। इसमे विद्वान् रचयिताने जैन सिद्धान्तके प्राय· सभी विषयोका सग्रह कर दिया है इसका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनके स्वरूप और उसके भेदोंके कथनसे हुआ है, शायद इसीसे यह नाम दिया गया है। किन्तु इसमे सम्यग्दर्शनके विषय-भूत सात तत्त्वोका वर्णन करते हुए जीवके भेदोका, संसारी जीवके पच परावर्तनोका, चौदह गुणस्थानोका, चौदह मार्गणाओका, असंख्यात द्वीप-समुद्रोका, छह द्रव्योका, आस्रवके कारणोका, कर्मोके भेद-प्रभेदोका, गुण-स्थानोमे वन्धुव्युच्छित्तिका, वन्धके चारों भेदोका, सवरके कारणोका, वर्णन है। इस प्रकार प० जीने अपनी इस रचनामे तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसारके विषयो को संग्रहीत कर दिया है। इस एक ही ग्रन्थके स्वाध्यायसे उक्त ग्रन्थोका विषय समझमे आ जाता है। अन्तमे सिद्धोंके स्वरूपका वर्णन है।

पं० जी की रचना भाषा और विषय दोनो ही दृष्टियोंसे मनोहर है। उनकी संस्कृत रचनामे प्रसाद और माधुर्य गुण है। उसे पढते हुए ऐसा प्रतीत नही होता कि हम किसी नवीन रचयिताकी रचना को पढ रहे हैं। उसकी 'टोन' वरावर प्राचीन रचनाओंसे मेल खाती है। और वस्तु-निरूपण तो स्पष्ट और समझमे आने योग्य है हो। यह एक ऐसी रचना है, जो सस्कृतके छात्रोके लिये भी उपयोगी हो सकती है। हम इस रचनाके लिये प० जी को साधुवाद देते हैं। प० दरवारीलाल जी कोठियाने वीर-सेवामन्दिर-ट्रस्टसे इसका प्रकाशन करके अच्छा ही किया है। आशा है इस रचना का सर्वत्र समादर होगा।

(सिद्धान्ताचार्य) कैलाशचन्द्र शास्त्री
पूर्वप्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशकीय

गत महावीर-जयन्तीपर जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसाका प्रकाशन हुआ था और अब सम्यक्त्व-चिन्तामणिका प्रकाशन हो रहा है। इतने अल्पकाल—मात्र एक माह बाद ही उसका प्रकाशन निश्चय ही सुखद है।

स्वर्गीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर'की भावनाके यह सर्वथा अनुरूप है। उनका यावज्जीवन प्रयत्न रहा कि जैन साहित्यका जितना प्रकाशन होगा उतना ही सामान्य जनताको उसका परिचय मिलेगा और जैन तत्त्वज्ञानसे वह लाभान्वित होगी। वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट उनके इस प्रयत्नको आगे बढानेमें सदा अग्रसर है।

जैसाकि हम इससे पूर्व प्रकट कर चुके हैं कि **'पत्रपरीक्षा'** और **'समन्तभद्र-ग्रन्थावली'** ये दोनों ग्रन्थ भी जल्दी ही प्रकाशमें आ रहे हैं। इनकी प्रस्तावना लिखना मात्र शेष है। अन्य दो ग्रन्थ—आचार्य देवसेनका **'आराधनासार'** आदि (सस्कृतव्याख्या और हिन्दी अनुवाद सहित) और **'अरिष्टनेमि'** प्रेसमें हैं, जो आगामी दीपावली तक पाठकोंके समक्ष आ जावेंगे।

सहयोगके लिए हम सभीके आभारी हैं।

३१-५-१९८३
वाराणसी–५

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट

प्रस्तावना

जैन सस्कृतिमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनका बडा महत्त्व है। इन्हें 'रत्नत्रय'—तीन रतनके नामसे अभिहित किया गया है। जैसे हीरा, पन्ना, पोखराज आदि पाषाण-रत्नोंको लोकमें बहुमूल्य माना जाता है और उन्हें मजूषा (पिटारी) आदिमें सावधानीसे सुरक्षित रखा जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आत्म-रत्नोंको सावधानी और बडे पुरुषार्थसे प्राप्त करने तथा प्राप्त होनेपर उन्हें सुरक्षित रखनेका बार-बार उपदेश दिया है। हीरा आदि रतन तो मात्र शरीरको सजाते और सुख देते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन आदि तीन रतन आत्माको सजाते और उसे सुख देते हैं। इतना ही नही, वे उसे ससार-कारागारसे मुक्त करानेमें भी सक्षम हैं। आचार्य गृद्धपिच्छने[1] अपने मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) का आरम्भ करते हुए पहला सूत्र यही रचा है कि 'सम्यग्दर्शन आदि तीनोकी प्राप्ति मुक्तिका मार्ग (साधन) है।' स्वामी समन्तभद्रने[2] तो धर्मकी व्याख्या करते हुए उन्हें ही धर्म कहा है और उनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको अधर्म बतलाया है तथा उन्हें भव-पद्धति—ससार-परम्पराका कारण निरूपित किया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि सम्यग्दर्शन आदि तीनोकी प्राप्ति ससार-परम्पराकी निरोधक तथा मुक्तिको साधिका है।

इस दुर्लभ रत्नत्रयकी प्राप्तिपर तीर्थंकर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक और उनके उत्तरवर्ती असंख्य आचार्योंने बल दिया है तथ सहस्रों ग्रन्थोका निर्माण कर उसका उपदेश दिया है।

रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शनका तो और भी अधिक महत्त्व है। उसका मूल्याकन करते हुए यहाँ तक कहा गया है[3] कि सम्यग्दर्शनके समान तीन काल और तीन

---

१ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।'—त० सू० १-१।

२ सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥—र० क० श्रा० श्लो० ३।

३ न सम्यक्त्वसम किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनूभृताम् ॥—र० क० श्रा० श्लो० ३४।

लोकमें अन्य कोई चीज हितकारी नही है और मिथ्यात्वके समान अहितकारी नही है। इसका अर्थ है कि आत्माका कल्याण करने वाला यह सम्यग्दर्शन है। ससारका बन्धन उसीसे टूटता है। इसीसे मोक्ष-मार्गमें प्रथमत उसीकी उपासना—साधना—प्राप्ति की जाती है और ज्ञान तथा चारित्रकी उसके बाद। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गमें कर्णधार है। कर्णधार खेवटियाको कहते है। जिस प्रकार खेवटिया यात्रियोको नावसे समुद्रके उस पार पहुँचा देता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गरूपी नावद्वारा मुमुक्षु-यात्रियोको ससार-समुद्रके उस पार पहुँचा देता है। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शनके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सम्यक् कहे जाते हैं तथा उनकी उत्पत्ति, सरक्षण, वृद्धि और फलप्राप्ति होती है, उसके अभावमें नही।[२] इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिपर इतना बल क्यो दिया गया और दिया जाता है।

वस्तुत: सम्यक्त्व आत्माका वह विशेष गुण है जिसके प्रकट होते ही जड-चेतन, आत्मा और पुद्गल तथा स्व और परकी रुचि, श्रद्धा और विश्वास होता और उसके होते ही भेदज्ञान होता है। इस भेदज्ञानका मूल सम्यक्त्व है। दर्शनमोहनीयके कारण निजको पर और परको निजकी रुचि होती है और वैसा ही प्रत्यय होता है और यह स्पष्ट है कि वे दोनो मिथ्या हैं—मिथ्यात्व और मिथ्याज्ञान हैं। आचार्य समन्तभद्रने लिखा है कि मोह (दर्शनमोहनीय) एक तिमिर है—अन्धकार है उसके दूर होनेपर ही दर्शन (स्वको स्व और परको पर देखना) होता है और तभी सम्यग्ज्ञान (स्वपरभेद-प्रत्यय) होता है। यह सम्यग्दर्शन जिसे हो जाता है उसकी आँखें खुल जाती हैं—चामकी नही, ज्ञानकी। और तब उसे मोक्ष दूर नही रहता। देर हो सकती है, अन्धेर नही होगा।

डॉ० प० पन्नालालजी साहित्याचार्यने प्रस्तुत ग्रथमें उसी सम्यग्दर्शनपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। उनकी यह सस्कृत-रचना मौलिक कृति है। विविध छन्दोमें इसे उन्होने प्रस्तुत किया है। छन्द-वैविध्यसे जहाँ ग्रथके सौन्दर्यकी वृद्धि हुई है वहाँ पाठकोंको एक धर्मग्रथमें अनेक छन्दोके माध्यमसे मूल वस्तुको जाननेका अवसर मिलेगा। कही-कही उन्हें लगेगा कि वे काव्यग्रथ पढ रहे हैं, धर्मग्रथ नही। उनका यह लगना स्वाभाविक होगा, क्योकि साहित्याचार्यजी मूलत काव्यकार हैं और इससे उनकी रचनामें काव्यत्वका प्रतिबिम्ब

---

१ दर्शन ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शन कर्णधार तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥—र० क० श्लो० ३१।

२ विद्यावृत्तस्य सभूतिस्थितिवृद्धि फलोदया।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥—र० क० श्लो० ३२।

मिलना ही चाहिए। किन्तु वे धर्मशास्त्रके भी मूर्द्धन्य पण्डित हैं, यह उनकी विशेषता है।

हमें जहाँ तक ज्ञात है, वर्तमानमें ब्र० भूरामलजी (आचार्य ज्ञानसागरजी) की जयोदय, दयोदय आदि मौलिक संस्कृत-रचनाओंके बाद साहित्याचार्यजीकी ही यह प्रस्तुत मौलिक संस्कृत-रचना है। विशेषता यह है कि यह पूर्णतया धर्मशास्त्र है और उपर्युक्त कृतियाँ काव्य-रचनाएँ हैं।

जैन लेखकोंने युगानुरूप ग्रन्थ लिखे हैं। प्राकृतके युगमें प्राकृतमें, संस्कृतके युगमें संस्कृतमें, अपभ्रंशके युगमें अपभ्रंशमें और अब हिन्दीके युगमें हिन्दीमें लिखे जा रहे हैं।

हमें प्रसन्नता है कि डॉ० पन्नालालजी जैन परम्परामें भी संस्कृत-भाषामें ग्रन्थ लिखनेकी धाराको जीवित बनाये हुए हैं। हम उन्हें हार्दिक साधुवाद देते हैं।

दिनांक ३१-५-१९८३,
वाराणसी (उ० प्र०),

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया,
सेवानिवृत्त रीडर, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हृदयोद्‌गार

सन् १९२५ ई० मे मैंने क्वीन्स कालेज (सपूर्णानन्द स० विश्वविद्यालय) की प्रथमा-परीक्षा पास की थी। उस समय उसके पाठ्यक्रममे श्रुत-बोध था। श्रुत-बोधमें सस्कृतके प्रसिद्ध छन्दोके लक्षण हैं। उसके आधारपर मैंने पर्युषण पर्वके समय उत्तमक्षमादि धर्मोके विषयमें कुछ सस्कृत श्लोक बनाकर पूज्य वर्णीजीको दिखाये। सिघईजीके मन्दिरमें वर्णीजीकी शास्त्र-सभा होती थी। प्रवचनके बाद बोले—

'भैया, ई ने सस्कृतमें श्लोक-रचना करी है, सुनो।' सब लोगोने शान्तभाव-से वे श्लोक सुने। पश्चात् वर्णीजीने मेरी प्रशसामें बहुत कुछ कहा। उत्साह बढ गया और सस्कृत-कविताका प्रारम्भ हो गया। सन् १९३६ में आचार्य-परीक्षा पास करनेके बाद भाव हुआ कि कोई प्रबन्ध-काव्य रचना चाहिए। भावनाके अनुसार 'ऋजुकाव्य' नामक प्रबन्धकाव्य रचना प्रारम्भ किया। परन्तु राजाके वर्णनके बाद जब रानीके वर्णनका प्रसङ्ग आया, तब चित्त हट गया। और मनमें निश्चय किया कि काव्य-निर्माण करनेकी शक्ति यदि प्रकट हुई है तो जिनेन्द्र-देवकी पूजा, स्तुति तथा धर्मशास्त्रकी रचना की जाय।

निश्चयानुसार सामायिकपाठ[1], त्रैलोक्यतिलकव्रतोद्यापन[2], अशोक[3]-रोहिणीव्रतोद्यापन, [4]रविव्रतोद्यापन, [5]क्षत्रचूडालकार तथा प्रकीर्णक स्तोत्र आदि की रचनाएँ हो जानेके बाद 'रत्नत्रयी' ग्रन्थकी रचनाका विचार किया। सकल्प था कि इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (मुनिधर्म-श्रावकधर्म) का विस्तृत वर्णन करू। सकल्पानुसार सम्यग्दर्शनका वर्णन पूर्ण होनेपर गति रुक गई। गृहस्थीका जाल धीरे-धीरे बढता गया और उसके सचालनार्थ काव्य-रचनाका समय ट्यूशनोमें लग गया। ग्रीष्मावकाशके दो माह विविध ग्रन्थोके अनुवाद तथा सस्कृत-टीकाके निर्माणमें व्यतीत होने लगे।

---

१. वर्णी-ग्रन्थमालासे प्रकाशित
२-३ सूरतसे प्रकाशित,
४ महावीरजीसे प्रकाशित
५ गद्यचिन्तामणिके परिशिष्टमें भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित।

सम्यग्दर्शन

मोक्षमार्ग

यद्यपि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाववाला है तथापि अनादिकालसे कर्म-संयुक्त दशामें रागी-द्वेषी होता हुआ स्वभावसे च्युत हो रहा है तथा स्वभावसे च्युत होनेके कारण ही चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण कर रहा है। इस जीवका अनन्त काल ऐसी पर्यायमें व्यतीत हुआ है जहाँ इसे एक श्वासके भीतर अठारह बार जन्म-मरण करना पड़ा है। अन्तर्मुहूर्तके भीतर इसे छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस क्षुद्रभव धारण करना पड़े हैं। इन क्षुद्रभवोंके भीतर एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रियों तककी पर्याय इसने धारण की है। जिस प्रकार आतिशबाजीकी चकरीके घूमनेमें कारण, उसके भीतर भरी हुई बारूद है उसी प्रकार जीवके चतुर्गतिमें घूमनेका कारण, उसके भीतर विद्यमान रागादिक विकारी भाव हैं। संसार दुःखमय है, इस दुःखसे छुटकारा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती। जीव और कर्मरूप पुद्गलका पृथक्-पृथक् हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष प्राप्तिके उपायोंका वर्णन करते हुए आचार्योंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकताका वर्णन किया है। जब तक ये तीनों प्रकट नहीं हो जाते तब तक मोक्षकी प्राप्ति संभव नहीं है। सम्यग्दर्शनादिक आत्माके स्वभाव होनेसे धर्म कहलाते हैं और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म कहलाते हैं। अधर्मसे संसार और धर्मसे मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मोक्षके अभिलाषी जीवोंको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप धर्मका आश्रय लेना चाहिये। यहाँ तीनोंके स्वरूपपर प्रकाश डाला जाता है।

अनुयोगोंके अनुसार सम्यग्दर्शनके विविध लक्षण

जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे चार प्रकारका है। इन अनुयोगोंमें विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सम्यग्दर्शनके स्वरूपकी चर्चा की गई है। प्रथमानुयोग और चरणानुयोगमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप प्रायः इस प्रकार बताया गया है कि[1] परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुका तीन मूढ़ताओं और

---

१. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥—र० श्रा० ४।
अत्तागमतच्चाणं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं॥६॥—वसुनन्दि० ८।

आठ मदोंसे रहित तथा आठ अङ्गोसे सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति देव कहलाता है। जैनागममें अरहन्त और सिद्धपरमेष्ठीकी देवसज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिसे अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्योंके द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है और विषयोकी आशासे रहित निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह एव ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन साधु गुरु कहलाते हैं। हमारा प्रयोजन मोक्ष है, उसकी प्राप्ति इन्ही देव, शास्त्र, गुरुके आश्रयसे हो सकती है। अत. इनकी दृढ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभके वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओकी प्रतीति नही करना चाहिए।

द्रव्यानुयोगमें प्रमुखतासे द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर और मोक्ष इन सात तत्त्वो एव पुण्य और पाप सहित नौ पदार्थोंकी चर्चा आती है। अत: द्रव्यानुयोगमें सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धानको[1] बताया गया है। तत्त्वरूप अर्थ, अथवा तत्त्व—अपने अपने वास्तविक स्वरूपसे सहित जीव, अजीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा परमार्थ[2] रूपसे जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयीमें अभेद मानकर जीवादि पदार्थोको ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। अर्थात् इन नौ पदार्थोंका परमार्थरूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानुयोगमें स्वपरके श्रद्धानको भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योकि आस्रवादिक तत्त्व स्व—जीव और पर—कर्मरूप अजीवके सयोगसे होनेवाले पर्यायात्मक तत्त्व है अत स्वपरमें ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा इसी द्रव्यानुयोगके अन्तर्गत अध्यात्मग्रन्थोमें परद्रव्योसे भिन्न [3]आत्म द्रव्यकी प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहा है, क्योकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्वका निश्चय होनेसे पर वह स्वत छूट जाता है।

मूलमें तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। चेतनालक्षणवाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे पाँच प्रकारका है। परन्तु यहाँ उन सबसे प्रयोजन नही है। यहाँ तो जीवके साथ सयोगको प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप अजीवसे प्रयोजन है। चैतन्यस्वभाववाले जीवके साथ अनादि कालसे ये नोकर्म—शरीर, द्रव्यकर्म—

१ 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्'।—त० सू० १-२।

२. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पाव च।
आसवसवरणिज्जरबधो मोक्खो य सम्मत्त॥—स० सा० १३।

३. 'दर्शनमात्मविनिश्चिति:'—पुरुषार्थ०।

श्रद्धाके विना सम्यग्दर्शन कदापि नही होता। इसलिये अन्वयव्याप्तिके अनुसार कारणमें कार्यका उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

यही पद्धति तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षणमें भी सघटित करना चाहिये, क्योकि द्रव्यलिगी अपने क्षयोपशमके अनुसार तत्त्वार्थका ज्ञान प्राप्तकर उसकी श्रद्धा करता है, बुद्धिपूर्वक अश्रद्धाकी किसी बातको आश्रय नही देता, तत्त्वार्थका ऐसा विशद व्याख्यान करता है कि उसे सुनकर अन्य मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं; परन्तु परमार्थसे वह स्वय मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी श्रद्धामें कहाँ चूक रहती है, यह प्रत्यक्षज्ञानी जानते हैं। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोगप्रतिपादित सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तत्त्वार्थ-श्रद्धानपूर्वक होगी। अत कारणमें कार्यका उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूलरूपसे "शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है" ऐसा स्वपरका भेदविज्ञान द्रव्यलिंगी मुनिको भी होता है। द्रव्यलिंगी मुनि, घानीमें पेल दिये जानेपर भी सक्लेश नही करता और शुक्ललेश्याके प्रभावसे नौवें ग्रैवेयक तकमें उत्पन्न होनेकी योग्यता रखता है फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्वपरभेद-विज्ञानमें जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे जनसाधारण नही जान सकता। वह चूक प्रत्यक्षज्ञानका ही विषय है। इस स्थितिमें यह कहा जा सकता है कि करणानु-योग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है परन्तु उसकी प्राप्तिमें स्वपरका भेदविज्ञान कारण पडता है। अत कारणमें कार्यका उपचार कर उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

कषायकी मन्दतासे उपयोगकी चञ्चलता दूर होने लगती है, उस स्थितिमें द्रव्यलिंगी मुनिका उपयोग भी परपदार्थसे हट कर स्वमें स्थिर होने लगता है। स्वद्रव्य—आत्मद्रव्यकी वह बडी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्माके ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावका ऐसा भावविभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवोंको भी आत्मानुभव होने लगता है परन्तु वह स्वय मिथ्यादृष्टि रहता है। इस स्थितिमें इस आत्मश्रद्धानको करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शनका साधन मान कर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणोंमें जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे छद्मस्थ जान नही सकता, इसलिये व्यवहारसे इन सबको सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनके होते हुए सम्य-क्त्वका घात करनेवाली सात प्रकृतियोका उपशमादिक होकर करणानुयोगप्रति-पादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्वपरश्रद्धान और आत्मश्रद्धान ये चारों लक्षण एक-दूसरेके बाधक नही हैं क्योंकि एकके होनेपर दूसरे लक्षण स्वय प्रकट हो जाते हैं। पात्रकी योग्यता देखकर

आचार्योंने विभिन्न शैलियोसे वर्णन मात्र किया है। जैसे आचरणप्रधान शैलीको मुख्यता देनेकी अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीतिको, ज्ञानप्रधान शैलीको मुख्यता देनेकी अपेक्षा तत्त्वार्थश्रद्धानको और कषायजनित विकल्पोंकी मन्द-मन्दतर अवस्थाको मुख्यता देनेकी अपेक्षा स्वपरश्रद्धान तथा आत्मश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यताके अनुसार चारो शैलियोको अपनाया जा सकता है। इन चारो शैलियोमें भी यदि मुख्यता और अमुख्यताकी अपेक्षा चर्चा की जावे तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप ज्ञानप्रधान शैली मुख्य जान पडती है क्योकि उसके होने पर ही शेष तीन शैलियोको बल मिलता है।

सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है ?

मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि। जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हुआ है वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके मोहनीयकर्मकी छब्बीस प्रकृतियोकी सत्ता रहती है क्योकि दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीन प्रकृतियोमेंसे एक मिथ्यात्वप्रकृतिका ही बन्ध होता है, शेष दोका नही। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभावसे यह जीव मिथ्यात्वप्रकृतिके मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिके भेदसे तीन खण्ड करता है। इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीवके ही सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिकी सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवोमें मोहनीयकर्मकी सत्ताके तीन विकल्प बनते हैं—एक अट्ठाईस प्रकृतियोकी सत्तावाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियो की सत्तावाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियोकी सत्तावाला। जिस जीवके दर्शनमोहकी तीनो प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियोकी सत्तावाला है। जिस जीवने सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना कर ली है वह सत्ताईस प्रकृतियोकी सत्ता वाला है और जिसने सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिकी भी उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला है।

सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार करते हैं, क्योकि अनादि मिथ्यादृष्टिको सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशमके भेदसे दो प्रकारका है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनकी चर्चा है। द्वितीयोपशमकी चर्चा आगे की जायगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन सज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य जीवको ही होता है अन्यको नही। भव्योमे भी उसीको होता है जिसका ससारभ्रमणका

काल अर्धपुद्गल परावर्तनके कालसे अधिक बाकी नही है। लेश्याओंके विषयमें यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके तीन शुभ लेश्याओमेंसे कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियोंके जहा जो लेश्या बतलाई है उसीमें औपशमिक सम्यग्-दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये गोत्रका प्रतिबन्ध नही है अर्थात् जहाँ उच्च-नीच गोत्रोंमेंसे जो भी सभव हो उसी गोत्रमें सम्यग्दर्शन हो सकता है। कर्मस्थितिके विषयमें चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मोंकी स्थिति अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण हो तथा सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति सख्यात हजार सागर कम अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, इससे अधिक स्थितिबन्ध पडनेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता। इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त-प्रकृतियोंका अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग चतु स्थानगत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहा इतनी विशेषता और भी ध्यानमें रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टिके आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गकी सत्ता होती है उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नही होता। अनादि मिथ्यादृष्टिके इनकी सत्ता होती ही नही है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जीव दूसरी बार प्रथमोपशम सम्यक्त्वको तबतक प्राप्त नही कर सकता जब तक कि वह वेदक कालमें रहता है। वेदक कालके भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो वह वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है। वेदककालके विषयमें यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्यायमें भ्रमण करता है वह सज्ञी पञ्चेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यङ्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियोकी स्थिति एक सागरसे कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो नियमसे उसे वेदक—क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जीव विकलत्रयमें परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिकी स्थिति पृथक्त्वसागरप्रमाण शेष रहनेतक उसका वेदककाल कहलाता है। इस कालमें यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अव-सर आता है तो नियमसे वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको ही प्राप्त होता है। हाँ, सम्यक्त्वप्रकृतिकी अथवा सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति दोनोकी उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अनादिमिथ्या-दृष्टि जीवके सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादिमिथ्या-दृष्टियोंमें २६ या २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवके दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है किन्तु २८ प्रकृतिकी सत्तावाले जीवके वेदक कालके भीतर

दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक—क्षायोपशमिक ही होता है। हाँ, वेदक कालके निकल जानेपर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता रखने वाला सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जागृत, साकार उपयोगयुक्त, चारो गति वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करनेके सम्मुख होता है तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पाच लब्धियोको प्राप्त होता है।[1] इनमें करण लब्धिको छोडकर शेष चार लब्धिया सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनोंको प्राप्त होती हैं परन्तु करण लब्धि भव्य जीवको ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होने-पर सम्यग्दर्शन नियमसे प्रकट होता है। उपर्युक्त लब्धियोका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **क्षायोपशमिक लब्धि**—पूर्व सचित कर्मपटलके अनुभागस्पर्धकोंका विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन होते हुए उदीरणाको प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धिके द्वारा जीवके परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

(२) **विशुद्धि लब्धि**—साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियोके बन्धमें कारण-भृत परिणामोकी प्राप्तिको विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

(३) **देशना लब्धि**—छहो द्रव्य और नौ पदार्थोंके उपदेशको देशना कहते हैं। उक्त देशनाके दाता आचार्य आदिकी लब्धिको और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणाकी शक्तिकी प्राप्तिको देशना लब्धि कहते हैं।

(४) **प्रायोग्य लब्धि**—आयुकर्मको छोडकर शेष कर्मोंकी स्थितिको अन्त:-कोडाकोडी सागर प्रमाण कर देना और अशुभकर्मोंमेंसे घातिया कर्मोंके अनुभागको लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मोंके अनुभागको नीम और काजी इन दो स्थान गत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

(५) **करण लब्धि**—करण भावोको कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले करणो—भावोकी प्राप्तिको करण लब्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—अथाप्रवृत्त-करण अथवा अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जो करण—परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हो उन्हें अथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा सार्थक

---

१ चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुपगमई॥—जी० का० ६५१।
खयउवसमियविसोहि देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करण पुण होदि सम्मत्ते॥—जी० का० ६५०।

नाम अध करण है। जिसमें आगामी समयमें रहने वाले जीवोके परिणाम पिछले समयवर्ती जीवोके परिणामोसे मिलते जुलते हो उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसमें समसमयवर्ती तथा विषमसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान और असमान-दोनो प्रकारके होते हैं। जैसे पहले समयमें रहने वाले जीवोके परिणाम एकसे लेकर दस नम्बर तकके हैं और दूसरे समयमें रहने वाले जीवोके परिणाम छहसे लेकर पन्द्रह नम्बर तकके हैं। पहले समयमें रहने वाले जीवके छहसे लेकर दश नम्बर तकके परिणाम विभिन्न समयवर्ती होने पर भी परस्पर मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार प्रथम समयवर्ती अनेक जीवोंके एकसे लेकर दस तकके परिणामोंमे समान परिणाम हो सकते हैं अर्थात् किन्ही दो जीवोंके चौथे नम्बरका परिणाम है और किन्ही दो जीवोके पांच नम्बरका परिणाम है। यह परिणामोकी समानता और असमानता नाना जीवोकी अपेक्षा घटित होती हैं। इस करणका काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धिको लिए हुए असख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व अपूर्व—नये नये परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे पहले समयमें रहने वाले जीवोंके यदि एकसे लेकर दस नम्बर तकके परिणाम हैं तो दूसरे समयमें रहने वाले जीवके ग्यारहमे बीस नम्बर तकके परिणाम होते हैं। अपूर्वकरणमे समसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान और असमान दोनो प्रकारके होते हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं। जैसे, पहले समयमें रहनेवाले और दूसरे समयमें रहनेवाले जीवोके परिणाम कभी समान नही होते परन्तु पहले अथवा दूसरे समयमें रहनेवाले जीवो के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी। यह चर्चा भी नाना जीवोंकी अपेक्षा है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु यह अन्त-र्मुहूर्त अध प्रवृत्तकरणके अन्तर्मुहूर्तसे छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालमें भी उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होते हुए असख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

जहाँ एक समयमें एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करणमें समसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमय-वर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं। इसका कारण है कि यहाँ एक समयमें एक ही परिणाम होता है इसलिये उस समयमें जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयोमें जो जीव होंगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु अपूर्वकरणकी अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इसके प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है। इन तीनो करणोंमें परिणामोंकी विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उपर्युक्त तीन करणोमेंसे पहले अथाप्रवृत्त अथवा अधःकरणमें चार आवश्यक होते हैं—(१) समय समयमे अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें नवीन बन्धकी स्थिति घटती जाती है। (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग अनन्तगुण बढ़ता जाता है और (४) प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग अनन्तवा भाग घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरणमें निम्नलिखित आवश्यक और होते हैं। (१) सत्तामें स्थित पूर्व कर्मोंकी स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर घटती जाती है अत स्थितिकाण्डक घात होता है (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर पूर्व कर्मका अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डक घात होता है और (३) गुणश्रेणीके कालमें क्रमसे असख्यातगुणित कर्म, निर्जराके योग्य होते है इसलिए गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरणमें गुणसक्रमण नामका आवश्यक नही होता। किन्तु चारित्रमोहका उपशम करनेके लिए जो अपूर्वकरण होता है उसमें होता है। अपूर्वकरणके बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरणके कालके सख्यातवें भाग होता है। इसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर[1] अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरणके कालके पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्मके निषेकोका अन्तर्मुहूर्तके लिए अभाव होता है। अन्तरकरणके पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरणके द्वारा अभावरूप किये हुए निषेकोके ऊपर जो मिथ्यात्वके निषेक उदयमें आनेवाले थे उन्हें उदयके अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धीचतुष्कको भी उदयके अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदययोग्य प्रकृतियोका अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम समयमें मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिकमें, अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें तीन खण्ड करता है, ऐसा सूचित किया है।[2] तदनन्तर चरम समयमें मिथ्यादर्शनके तीन भाग करता

---

१. किमन्तरकरण नाम ? विवक्खियकम्माण हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अतोमुहुत्तमेत्ताण ट्ठिदीण परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणमतरकरणमिदि भण्णदे।—जयधवल अ० प्र० ९५३।

अर्थ—अन्तरकरणका क्या स्वरूप है ? उत्तर—विवक्षित कर्मोकी अधस्तन और उपरिम स्थितियोंको छोडकर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियोके निषेकोका परिणामविशेषके द्वारा अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं।

२ ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शन त्रिधा विभक्त करोति—सम्यक्त्व मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व चेति। एतासा तिसृणा प्रकृतीनाम् अनन्तानुवन्धिक्रोधमानमायालोभाना चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकाल प्रथमसम्यक्त्व भवति।—त० वा० अ० ९, पृष्ठ ५८९।

है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्‌मिथ्यात्व । इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियोंका इस प्रकार सात प्रकृतियोंके उदयका अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है । यही भाव षट्खण्डागम (धवला पुस्तक ६) के निम्नलिखित दो सूत्रोंमें भी प्रकट किया गया है—

'ओहट्टेदूण मिच्छत्त तिण्णि भागं करेदि सम्मत्त मिच्छत्त सम्मामिच्छत्तं ॥७॥

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्मके तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्‌मिथ्यात्व ।

दंसणमोहणीय कम्म उवसामेदि ॥८॥

अर्थ—मिथ्यात्वके तीन भाग करनेके पश्चात् दर्शनमोहनीयकर्मको उपशमाता है ।

द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन

औपशमिक सम्यग्दर्शनके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इस प्रकार दो भेद हैं । इनमेंसे प्रथमोपशम जिसके और जब होता है । इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है । द्वितीयोपशमकी चर्चा इस प्रकार है । प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका अस्तित्व चतुर्थगुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है । क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थानके सातिशय अप्रमत्त भेदमें उपशमश्रेणी माड़नेके सन्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । इस सम्यग्दर्शनमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम होता है । इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला जीव उपशमश्रेणी माडकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँसे पतन कर नीचे आता है । पतनकी अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थानमें भी इसका सद्भाव रहता है ।

क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्‌मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमान कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामीकालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृतिका उदय रहनेपर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं । इस सम्यक्त्वमें सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं । छह सर्वघाती प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमको प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयकी अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं । वैसे ये दोनो हैं पर्यायवाची ।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोके हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियोमें जो वेदककालके भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियोमें जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदक सम्यग्-दर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीवको, चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारो गतियोमें उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोके क्षयसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।[1] दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूलमें।[2] परन्तु इसका निष्ठापन चारो गतियोमें हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदकसम्यक्त्वपूर्वक ही होता है तथा चौथेसे सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है। होकर कभी छूटता नही है जब कि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असख्यात बार होकर छूट सकते है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भवसे मोक्ष चला जाता है या तीसरे भवमें, चौथे भवमें, चौथे भवसे अधिक ससारमें नही रहता।[3] जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होनेसे नरकमें जाता है अथवा देवगतिमें उत्पन्न होता है वह वहाँसे मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। इस प्रकार तीसरे भवमें मोक्ष जाता है और जो बद्धायुष्क होनेसे भोगभूमिमें मनुष्य या तिर्यंच होता है वह वहाँसे देवगतिमें जाता है। वह वहाँसे आकर मनुष्य हो, मोक्ष जाता है। इस प्रकार चौथे भवमें उसका मोक्ष जाना बनता है।[4] चारो गति-सम्बन्धी आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्-दृष्टिका चारो गतियोमें जाना सभव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्वके

---

१ दसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४॥—जी का०।

२ स्वय श्रुतकेवली हो जाने पर फिर केवली या श्रुतकेवलीके सन्निधानकी आवश्यकता नही रहती।

३. दसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिय-तुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभव ण विणस्सदि सेससम्म वा॥—क्षे० जी० का० स० मा०

४. चत्तारि वि खेत्ताइ, आयुगबधेण होइ सम्मत्त।
अणुवद-महव्वदाइ ण लहइ देवाउगं मोत्तु ॥—६५२॥—जी० का०।

कालमें यदि मनुष्य और तिर्यञ्चके आयुबन्ध होता है तो नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्यायुका ही बंध होता है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके बहिरङ्ग कारण

कारण दो प्रकारका होता है—एक उपादानकारण और दूसरा निमित्तकारण। जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है वह उपादानकारण कहलाता है। और जो कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है वह निमित्तकारण कहलाता है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे निमित्तके दो भेद हैं। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका उपादानकारण[1] आसन्नभव्यता आदि विशेषताओंसे युक्त आत्मा है। अन्तरङ्ग निमित्तकारण सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है और बहिरङ्ग निमित्तकारण सद्‌गुरु आदि है। अन्तरङ्ग निमित्तकारणके मिलनेपर सम्यग्दर्शन नियमसे होता है परन्तु बहिरङ्ग निमित्तके मिलनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नही भी होता है। सम्यग्दर्शनके बहिरङ्ग निमित्त चारो गतियोमें विभिन्न प्रकारके होते हैं। जैसे नरकगतिमें तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदनानुभव ये तीन, चौथेसे सातवें तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो, तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन ये तीन, देवगतिमें बारहवें स्वर्गतक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवर्द्धिदर्शन ये चार, तेरहवेंसे सोलहवें स्वर्गतक देवर्द्धिदर्शनको छोडकर तीन और उसके आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरङ्ग निमित्त हैं। ग्रैवेयकके ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वहाँ बहिरङ्गनिमित्तकी आवश्यकता नही है। इस सन्दर्भमें सर्वार्थसिद्धिका **'निर्देशस्वामित्व'** आदि सूत्र तथा धवला पुस्तक ६ पृ० ४२० आदिका प्रकरण द्रष्टव्य है।

सम्यग्दर्शनके भेद

उत्पत्तिकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो भेद हैं। जो पूर्व सस्कारकी प्रबलतासे परोपदेशके बिना हो जाता है वह **निसर्गज सम्यग्दर्शन** कहलाता है और जो परके उपदेशपूर्वक होता है वह **अधिगमज सम्यग्दर्शन** कहलाता है। इन दोनो भेदोमें अन्तरङ्ग कारण—सात प्रकृतियोंका उपशमादिक समान होता है, मात्र बाह्यकारणकी अपेक्षा दो भेद होते हैं।

करणानुयोगकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भेद होते हैं। जो सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है वह **औपशमिक**

---

१. आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धिभाक् ।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीव. सम्यक्त्वमश्नुते ॥—सा० ध० ।

कहलाता है। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशमकी अपेक्षा दो भेद हैं। जो सात प्रकृतियोके क्षयसे होता है उसे क्षायिक कहते है और जो सर्वघाती छह प्रकृतियोके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृतिनामक देशघाती प्रकृतिके उदयसे होता है उसे **क्षायोपशमिक** अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। कृतकृत्यवेदक सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका अवान्तरभेद है। दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करनेवाले जिस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके मात्र सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय शेष रह गया है, शेषकी क्षपणा हो चुकी है उसे **कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि** कहते हैं।

चरणानुयोगकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शनके निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। वहाँ परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुकी विपरीताभिनिवेशसे रहित श्रद्धा करनेको **निश्चयसम्यग्दर्शन** कहा जाता है और उस सम्यग्दृष्टिकी पच्चीस दोषोसे रहित जो प्रवृत्ति है उसे **व्यवहारसम्यग्दर्शन** कहा जाता है। शङ्कादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ताएँ ये व्यवहारसम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहलाते है।[1]

द्रव्यानुयोगकी पद्धतिसे भी सम्यग्दर्शनके निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। यहाँ जीवाजीवादि सात तत्त्वोके विकल्पसे रहित शुद्ध आत्माके श्रद्धानको **निश्चयसम्यग्दर्शन** कहते हैं और सात तत्त्वोके विकल्पसे सहित श्रद्धानको **व्यवहारसम्यग्दर्शन** कहते हैं।[2]

अध्यात्ममें वीतरागसम्यग्दर्शन और सरागसम्यग्दर्शनके भेदसे दो भेद होते हैं। यहाँ आत्माकी विशुद्धि मात्रको **वीतराग सम्यग्दर्शन** कहा है और प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणोकी अभिव्यक्तिको **सराग सम्यग्दर्शन** कहा है।

आत्मानुशासनमें[3] ज्ञानप्रधान निमित्तादिककी अपेक्षा १. आज्ञासम्यक्त्व, २ मार्ग-सम्यक्त्व, ३ उपदेशसम्यक्त्व, ४. सूत्रसम्यक्त्व, ५ बीजसम्यक्त्व, ६ सक्षेपसम्यक्त्व, ७ विस्तारसम्यक्त्व, ८ अर्थसम्यक्त्व, ९. अवगाढ सम्यक्त्व और १०. परमावगाढसम्यक्त्व ये दश भेद कहे हैं।

---

१. मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषा पञ्चविंशति ॥

२. जीवादीसद्दहण सम्मत्त जिणवरेहि पण्णत्त।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्त ॥२०॥—दर्शनपाहुड।

३ आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्या भवमवगाढपरमावगाढ च ॥११॥—आत्मानुशासन

मुझे जिन-आज्ञा प्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञाकी प्रधानतासे जो सूक्ष्म, अन्तरित एव दूरवर्ती पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसे **आज्ञासम्यक्त्व** कहते हैं। निर्ग्रन्थ मार्गके अवलोकनसे जो सम्यग्दर्शन होता है उसे **मार्गसम्यक्त्व** कहते हैं। आगमज्ञ पुरुषोके उपदेशसे उत्पन्न सम्यग्दर्शन **उपदेशसम्यक्त्व** कहलाता है। मुनिके आचारका प्रतिपादन करनेवाले आचारसूत्रको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे **सूत्रसम्यक्त्व** कहते हैं। गणितज्ञानके कारण बीजोके समूहसे जो सम्यक्त्व होता है उसे **बीजसम्यक्त्व** कहते हैं। पदार्थोंके सक्षेपरूप विवेचनको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे **सक्षेपसम्यक्त्व** कहते हैं। विस्ताररूप जिनवाणीको सुननेसे जो श्रद्धान होता है उसे **विस्तारसम्यक्त्व** कहते हैं। जैन शास्त्रके वचन बिना किसी अर्थके निमित्तसे जो श्रद्धा होती है उसे **अर्थसम्यक्त्व** कहते हैं। श्रुतकेवलीके तत्त्वश्रद्धानको **अवगाढ़ सम्यक्त्व** कहते हैं। और केवलीके तत्त्वश्रद्धानको **परमावगाढ सम्यक्त्व** कहते हैं। इन दश भेदोमें प्रारम्भके आठ भेद कारणकी अपेक्षा और अन्तके दो भेद ज्ञानके सहकारीपनाकी अपेक्षा किये गए हैं।

इस प्रकार शब्दोंकी अपेक्षा सख्यात, श्रद्धान करनेवालोंकी अपेक्षा असख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके अनन्त भेद होते हैं।

सम्यग्दर्शनका निर्देश आदिकी अपेक्षा वर्णन

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीने पदार्थके जाननेके उपायोका वर्णन करते हुए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह उपायोंका वर्णन किया है।[1] यहाँ सम्यग्दर्शनके सदर्भमें इन उपायोंका भी विचार करना उचित जान पडता है। वस्तुके स्वरूप निर्देशको **निर्देश** कहते हैं। वस्तुके आधिपत्यको **स्वामित्व** कहते हैं। वस्तुकी उत्पत्तिके निमित्तको **साधन** कहते हैं। वस्तुके आधारको **अधिकरण** कहते हैं। वस्तुकी कालावधिको **स्थिति** कहते हैं और वस्तुके प्रकारोको **विधान** कहते हैं। ससारके किसी भी पदार्थके जाननेमें इन छह उपायोका आलम्बन लिया जाता है।

यहाँ सम्यग्दर्शनका निर्देश—स्वरूप क्या है? इसका उत्तर देनेके लिए कहा गया है कि यथार्थ देव-शास्त्र-गुरुका श्रद्धान करना, अथवा सप्त तत्त्व, नौ पदार्थका श्रद्धान करना आदि सम्यग्दर्शनका निर्देश है। **सम्यग्दर्शनका स्वामी कौन है?** इस प्रश्नका विचार सामान्य और विशेषरूपसे किया गया है। सामान्यकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन सज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य जीवके ही होता है अत

---

१ 'निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानत.'—त० सू० १–७।

वही इसका स्वामी है। विशेषकी अपेक्षा विचार इस प्रकार है[1]—

गतिकी अपेक्षा नरकगतिमें सभी पृथिवियोंके पर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। प्रथम पृथिवीमें पर्याप्तकोंके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं तथा अपर्याप्तकोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयादि पृथिवियोमें अपर्याप्तकोंको एक भी सम्यग्दर्शन नही होता। तिर्यञ्चगतिमें औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यंचोके ही होता है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनोके होते है। अपर्याप्तक तिर्यंचोके सम्यग्दर्शन भोगभूमिज तिर्यंचोकी अपेक्षा होते है। तिरश्चियोंके पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनो ही अवस्थाओंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन नही होता, क्योंकि दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्यके ही होता है और क्षपणाके पहले तिर्यञ्च आयुका बन्ध करने वाला मनुष्य, भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यंचोमें उत्पन्न होता है स्त्रीवेदी तिर्यंचोंमें नहीं। नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तक तिरश्चियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्योके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्योके ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्योके नही, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनमें किसीका मरण होता नही है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शनमें मरा हुआ जीव नियमसे देवगतिमें ही जाता है। मानुषी—स्त्रीवेदी मनुष्योंके पर्याप्तक अवस्थामें तीनो सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपर्याप्तक अवस्थामें एक भी नही होता। मानुषियोके जो क्षायिक सम्यग्दर्शन बतलाया है वह भाववेदकी अपेक्षा होता है द्रव्यवेदकी अपेक्षा नही। देवगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोके तीनो सम्यग्दर्शन होते है। द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवोमें उत्पन्न होते हैं इस अपेक्षा वहाँ अपर्याप्तक अवस्थामें भी औपशमिक सम्यग्दर्शनका सद्भाव रहता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओ तथा सौधर्मैशानकी देवागनाओके अपर्याप्तक अवस्थामें एक भी सम्यग्दर्शन नही होता, किन्तु पर्याप्तक अवस्थामें नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। स्वर्गमें देवियोंका सद्भाव यद्यपि सोलहवें स्वर्ग तक रहता है तथापि उनकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्ग तक ही होती है इसलिये आगेकी देवियोका समावेश पहले-दूसरे स्वर्गकी देवियोंमें ही समझना चाहिये।

---

१. विशेषकी अपेक्षा निम्नलिखित चौदह मार्गणाओमें होता है—
गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥—जी० का०।

इन्द्रियोकी अपेक्षा सज्ञी पञ्चेन्द्रियोंको तीनो सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य इन्द्रियवालोके एक भी नही होता। कायकी अपेक्षा त्रसकायिक जीवोंके तीनो होते हैं परन्तु स्थावरकायिक जीवोके एक भी नहीं होता। त्रियोगियोंके तीनो सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अयोगियोके मात्र क्षायिक ही होता है। वेदकी अपेक्षा तीनो वेदोमें तीनो सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपगतवेद वालोंके औपशमिक और क्षायिक ही होते हैं। यहाँ वेदसे तात्पर्य भाववेदसे है। कपायकी अपेक्षा क्रोधादि चारों कपायोमें तीनो होते हैं परन्तु अकपाय—कपाय रहित जीवोके औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं। औपशमिक मात्र ग्यारहवें गुणस्थानमें होता है। ज्ञानकी अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ज्ञानके धारक जीवोके तीनो होते हैं परन्तु केवलज्ञानियोके एक क्षायिक ही होता है। सयमकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना सयम के धारक जीवोंके तीनो होते हैं, परिहारविशुद्धिवालोके औपशमिक नही होता, शेप दो होते हैं, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातवालोके औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं और सयतासयत तथा असयतोंके तीनो होते है। दर्शनकी अपेक्षा चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनके धारक जीवोंके तीनो होते हैं परन्तु केवलदर्शनके धारक जीवोके एक क्षायिक ही होता है। लेश्याकी अपेक्षा छहों लेश्या वालोके तीनो होते हैं परन्तु लेश्यारहित जीवोंके एक क्षायिक ही होता है। भव्य जीवोकी अपेक्षा भव्योके तीनो होते हैं परन्तु अभव्योंके एक भी नही होता। सम्यक्त्वकी अपेक्षा जहाँ जो सम्यग्दर्शन होता है वहाँ उसे ही जानना चाहिये। सज्ञाकी अपेक्षा सज्ञियोंके तीनो होते हैं असज्ञियोके एक भी नही होता। सज्ञी और असज्ञीके व्यपदेशसे रहित सयोगकेवली और अयोगकेवलीके एक क्षायिक ही होता है। आहारकी अपेक्षा आहारकोंके तीनो होते हैं, छद्मस्थ अनाहारकोके भी तीनो होते हैं परन्तु समुद्घातकेवली अनाहारकोंके एक क्षायिक ही होता है।

सम्यग्दर्शनके साधन क्या हैं? इसका उत्तर सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंके सदर्भमें आ चुका है।

सम्यग्दर्शनका अधिकरण क्या है?

अधिकरणके बाह्य और आभ्यन्तरकी अपेक्षा दो भेद हैं। आभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामिसम्बन्धके योग्य आत्मा ही है और बाह्य अधिकरण एक राजू चौडी तथा चौदह राजू लम्बी लोकनाडी है।

सम्यग्दर्शनकी स्थिति क्या है?

औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छयासठ

सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नही होता, इसलिये इस अपेक्षा उसकी स्थिति सादि अनन्त है परन्तु संसारमें रहनेकी अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड वर्ष पूर्व तथा तेंतीस सागरकी है।

सम्यग्दर्शनका विधान क्या है ?

सम्यग्दर्शनके विधान—भेदोका वर्णन पिछले स्तम्भमे आ चुका है।

सम्यक्त्वमार्गणा और उसका गुणस्थानोंमें अस्तित्व

सम्यक्त्वमार्गणाके औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, सम्यङ्मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व ये छः भेद है। औपशमिक सम्यग्दर्शनके दो भेद है—प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। इनमें प्रथमोपशम चौथेसे लेकर सातवें तक और द्वितीयोपशम चौथेसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर सातवें तक होता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर चौदहवें तक तथा सिद्ध अवस्थामे भी रहता है। सम्यङ्मिथ्यात्व मार्गणा तीसरे गुणस्थानमें, सासादनमार्गणा दूसरे गुणस्थानमें और मिथ्यात्वमार्गणा पहले गुणस्थानमें ही होती है। सम्यङ्-मिथ्यात्वमार्गणा सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे होती है। इसमें जीवके परिणाम दही और गुडके मिले हुए स्वादके समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोरूप होते हैं। इस मार्गणामें किसीका मरण नही होता और न मारणान्तिक समुद्घात ही होता है। औपशमिक सम्यक्त्वका काल एक समयसे लेकर छह आवली तक शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभमेसे किसी एक कषायका उदय आनेसे जिसका सम्यक्त्व आसादना—विराधनासे सहित हो गया है वह सासादन कहलाता है। जहाँ मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमे अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम होता है वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके अगृहीत और गृहीतकी अपेक्षा दो भेद, एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिककी अपेक्षा पाँच भेद अथवा गृहीत, अगृहीत और सांशयिककी अपेक्षा तीन भेद होते है।[1]

सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग

जिन्हें मिला कर अङ्गीकी पूर्णता होती है अथवा अङ्गीको अपना कार्य पूर्ण करनेमें जो सहायक होते हैं उन्हें अङ्ग कहते हैं। मनुष्यके शरीरमें जिसप्रकार हाथ, पैर आदि आठ अङ्ग होते हैं उन आठ अंगोंके मिलनेसे ही मनुष्यके शरीर-

१. केषाचिदन्धतमसायतेऽगृहीत ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह गृहीत शल्यति सांशयिकमपरेषाम्॥—सा० ध० १-५

की पूर्णता होती है और वे अग ही उसे अपना कार्य पूर्ण करनेमें सहायक होते है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके नि शङ्कित आदि आठ अग हैं। इन आठ अगोंके मिलनेसे ही सम्यग्दर्शनकी पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शनको अपना कार्य करनेमें उनसे सहायता मिलती है। कुन्दकुन्दस्वामीने अष्टपाहुडके अन्तर्गत चारित्र-पाहुडमें चारित्रके सम्यक्त्वाचरण और सयमाचरण इस तरह दो भेद कर सम्यक्त्वाचरणका निम्नलिखित गाथाओंमें वर्णन किया है—

एव चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥
णिस्सकिय णिक्कखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥
त चेव गुणविसुद्ध जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
ज चरइ णाणजुत्त पढम सम्मत्तचरणचारित्त ॥८॥

ऐसा जान कर हे भव्य जीवो! जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्वमें मल उत्पन्न करनेवाले शङ्का आदि मिथ्यात्वके दोषोंका तीनों योगोंसे परित्याग करो।

नि शङ्कित, नि काङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्वके गुण हैं।

नि शङ्कितादि गुणोसे विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिनसम्यक्त्व कहलाता है तथा जिनसम्यक्त्व ही उत्तम मोक्षरूप स्थानकी प्राप्तिके लिये निमित्तभूत है। ज्ञानसहित जिनसम्यक्त्वका जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्वाचरण नामक चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि शङ्कादिक दोषोंको दूर कर नि शङ्कित आदि गुणोंका आचरण करना सम्यक्त्वाचरण कहलाता है, यही दर्शनाचार कहलाता है। स्वरूपाचरण इससे भिन्न है।

अष्टपाहुडके अतिरिक्त समयसारकी गाथाओ (२२९ से लेकर २३६) में भी कुन्दकुन्द स्वामीने सम्यग्दृष्टिके नि शकित आदि गुणोंका वर्णन किया है। यही आठ गुण आगे चलकर आठ अगोके रूपमें प्रचलित हो गये। रत्नकरण्डश्रावका-चारमें समन्तभद्रस्वामीने इन आठ अगोका सक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें अमृतचन्द्रस्वामीने भी इनके लक्षण बतलानेके लिए आठ श्लोक लिखे हैं। यह आठ अगोकी मान्यता सम्यग्दर्शनका पूर्ण विकास करनेके लिए आवश्यक है। अगोंकी आवश्यकता बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामीने लिखा

है कि जिस प्रकार कम अक्षरो वाला मन्त्र विष-वेदनाको नष्ट करनेमे असमर्थ रहता है उसी प्रकार कम अङ्गोवाला सम्यग्दर्शन संसारकी [सन्ततिके छेदनेमें असमर्थ रहता है।[1] अगोका स्वरूप तथा उनमें प्रसिद्ध पुरुषोका चरित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके प्रथम अधिकारसे ज्ञातव्य है ।

सम्यग्दर्शनके अन्य गुणोंकी चर्चा

प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शनके चार गुण हैं । बाह्य दृष्टिसे ये भी सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं। इनके स्वरूपका विचार पञ्चाध्यायीके उत्तरार्धमें विस्तारसे किया गया है । सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

[2]पञ्चेन्द्रियोके विषयोमें और असख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोमें स्वभावसे मनका शिथिल होना **प्रशम भाव** है। अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जीवोके विषयमें कभी भी उनके मारने आदिकी प्रयोजक बुद्धिका न होना प्रशमभाव है ।

[3]धर्ममें और धर्मके फलमें आत्माका परम उत्साह होना अथवा समानधर्मवालोमें अनुरागका होना या परमेष्ठियोमे प्रीतिका होना **सवेग** है ।

[4]अनुकम्पाका अर्थ कृपा है या सब जीवोपर अनुग्रह करना अनुकम्पा है या मैत्री भावका नाम अनुकम्पा है या मध्यस्थभावका रखना अनुकम्पा है या शत्रुताका त्याग कर देनेसे नि शल्य हो जाना **अनुकम्पा** है ।

[5]स्वत सिद्ध तत्त्वोंके सद्भावमें निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्मके हेतु और धर्मके फलमें आत्माकी अस्ति आदि रूप बुद्धिका होना **आस्तिक्य** है ।

---

१ नाङ्गहीनमल छेत्तुं दर्शन जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥

२ प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च
लोकासख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिल मन ॥४२६॥
सद्य कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धि प्रशमो मत ॥४२७॥—पचाध्यायी ।

३ सवेग परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित ।
सधर्मस्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥४३१॥

४. अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रह ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्य नैशल्य वैरवर्जनात् ॥४३२॥

५. आस्तिक्य तत्त्वसद्भावे स्वत सिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चित ॥४५२॥—पचाध्यायी उ० ।

उपर्युक्त प्रशमादिगुणोसे अतिरिक्त सम्यग्दर्शनके आठ गुण और भी प्रसिद्ध हैं। जैसा कि निम्नलिखित गाथासे स्पष्ट है—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते॥

(वसु० श्रावकाचार)

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्वके आठ गुण हैं।

वास्तवमें ये आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणोंके अतिरिक्त नहीं हैं क्योंकि संवेग, उपशम और अनुकंपा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणोंमें नामोक्त ही हैं। निर्वेद, संवेगका पर्यायवाची है। तथा भक्ति और वात्सल्य संवेगके अभिव्यंजक होनेसे उसमें गतार्थ हैं तथा निन्दा और गर्हा-उपशम (प्रशम) के अभिव्यंजक होनेसे उसमें गतार्थ हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति

सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयका त्रिक और अनन्तानुबन्धीका चतुष्क इन सात प्रकृतियोंके अभाव (अनुदय) में प्रकट होनेवाला श्रद्धागुणका परिणमन है और स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरणनामक मतिज्ञानावरणके अवान्तरभेदके क्षयोपशमसे होनेवाला क्षायोपशमिक ज्ञान है। ये दोनों सहभावी हैं, इसलिए कितने ही लोग स्वानुभूतिको ही सम्यग्दर्शन कहने लगते हैं पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण हैं। छद्मस्थका ज्ञान लब्धि और उपयोगरूप होता है अर्थात् उसका ज्ञान कभी तो आत्माके विषयमें ही उपयुक्त होता है और कभी संसारके अन्य घट-पटादि पदार्थोंमें भी उपयुक्त होता है। अतः सम्यग्दर्शन और उपयोगात्मक स्वानुभूतिकी विषम व्याप्ति है। जहाँ स्वानुभूति होती है वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है पर जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ स्वानुभूति भी होती है और घट-पटादि अन्य पदार्थोंकी भी अनुभूति होती है। इतना अवश्य है कि लब्धिरूप स्वानुभूति सम्यग्दर्शनके साथ नियमसे रहती है। यहाँ यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि जीवको ज्ञान तो उसके क्षयोपशमके अनुसार स्व और परकी भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी अनेक पर्यायोंका हो सकता है परन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्यायमात्रका ही होता है। वस्तुतः[1] सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और वचनोंका अविषय

---

१ सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥४००॥—पंचाध्यायी उ.
सम्यक्त्वं वस्तुतः स्पष्टं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वमनःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥

है। इसलिए कोई भी जीव विधिरूपसे उसके कहने और सुननेका अधिकारी नही है अर्थात् यह कहने और सुननेको समर्थ नही है कि यह सम्यग्दृष्टि है अथवा इसे सम्यग्दर्शन है। किन्तु ज्ञानके माध्यमसे ही उसकी सिद्धि होती है। यहाँ ज्ञानसे स्वानुभूतिरूप ज्ञान विवक्षित है। जिस जीवके यह स्वानुभूति होती है उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है क्योकि सम्यग्दर्शनके बिना स्वानुभूति नही होती। प्रश्न उठता है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषयभोग या युद्धादि कार्योंमें संलग्न होता है उस समय उसका सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है? उत्तर यह है कि उसका सम्यग्दर्शन उसीमें रहता है परन्तु उस कालमें उसका ज्ञानोपयोग स्वात्मामें उपयुक्त न होकर अन्य पदार्थोंमें उपयुक्त हो रहा है। इसलिए ऐसा जान पडता है कि इसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है पर वास्तविकता यह है कि उस अवस्था में भी सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। लब्धि और उपयोगरूप परिणमन ज्ञानका है सम्यग्दर्शनका नही। सम्यग्दर्शन तो सदा जागरूक ही रहता है।

सम्यग्दर्शनको घातनेवाली प्रकृतियोंकी अन्तर्दशा

मुख्यरूपसे सम्यग्दर्शनको घातने वाली दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियाँ हैं—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति। इनमें मिथ्यात्वका अनुभाग सबसे अधिक है, उसके अनन्तवें भाग सम्यङ्मिथ्यात्वका है और उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्वप्रकृतिका है। इनमें सम्यक्त्वप्रकृति देशघाती है। इसके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात तो नही होता, किन्तु चल, मलिन और अगाढ दोष लगते हैं। 'यह अरहन्तादिक मेरे हैं यह दूसरेके हैं' इत्यादिक भाव होनेको चल दोष कहते हैं। शकादिक दोषोका लगना मल दोष है और शान्तिनाथ शान्तिके कर्ता हैं इत्यादि भावका होना अगाढ दोष है। ये उदाहरण व्यवहारमात्र है नियमरूप नही। परमार्थसे सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयमें क्या दोष लगते हैं, उन दोषोके समय आत्मामें कैसे भाव होते हैं, यह केवलीके प्रत्यक्षज्ञानका विषय है। इतना नियमरूप जानना चाहिये कि सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयमें सम्यग्दर्शन निर्मल नही रहता। क्षायोपशमिक या वेदक सम्यग्दर्शनमें इस प्रकृतिका उदय रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला कर्मभूमिज मनुष्य जब क्षायिक सम्यग्दर्शनके सम्मुख होता है तब वह तीन करण करके सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धीचतुष्कका विसयोजन—अप्रत्याख्यानावरणादिरूप परिणमन कर अभाव करता है। पश्चात् पुन. तीन करण करके मिथ्यात्वके परमाणुओको सम्यङ्मिथ्यात्वरूप या सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमाता है उसके बाद सम्यङ्मिथ्यात्वके परमाणुओको सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमाता है, पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृतिके निषेक उदयमें आकर खिरते हैं। यदि उसकी स्थिति आदि अधिक हो तो उन्हें स्थितिकाण्डकादि घातके

द्वारा घटाता है। जब उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी रह जाती है तब कृतकृत्यवेदक-सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पश्चात् क्रमसे इन निषेकोंका नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुबन्धीका प्रदेशक्षय नही होता किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादिरूप करके उसकी सत्ताका नाश करता है। इस प्रकार इन सात प्रकृतियोंको सर्वथा नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धीकी दो अवस्थाएँ होती हैं—या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसयोजन होता है। जो अपूर्वादि करण करनेपर उपशमविधानसे उपशम होता है उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं और जो उदयका अभाव है उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धीका तो प्रशस्त उपशम होता नही है, मोहकी अन्य प्रकृतियोका होता है। इसका अप्रशस्त उपशम होता है। तीन करण कर अनन्तानुबन्धीके परमाणुओको जो अन्य चारित्रमोहनीयकी प्रकृतिरूप परिणमाया जाता है उसे विसयोजन कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अप्रशस्त उपशम ही होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति में अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना नियमसे होती है ऐसा किन्ही आचार्योका मत है और किन्ही आचार्योंका मत है कि विसयोजनाका नियम नही है। क्षायिक सम्यक्त्वमें नियमपूर्वक विसयोजना होती है। जिस उपशम और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके विसयोजनाके द्वारा अनन्तानुबन्धीकी सत्ताका नाश होता है वह सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वमें आने पर अनन्तानुबन्धीका जब नवीन बन्ध करता है तभी उसकी सत्ता होती है।

यहाँ कोई **प्रश्न** कर सकता है कि जब अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है तब उसके द्वारा चारित्रका ही घात होना चाहिये, सम्यग्दर्शनका घात उसके द्वारा क्यो होता है? इसका **उत्तर** यह है कि अनन्तानुबन्धीके उदयसे क्रोधादिकरूप परिणाम होते हैं, अतत्त्वश्रद्धान नही होता, इसलिये परमार्थसे अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी ही प्रकृति है परन्तु अनन्तानुबन्धीके उदयमें होने वाले क्रोधादिकके कालमें सम्यग्दर्शन नही होता, इसलिये उपचारसे उसे भी सम्यग्दर्शनका घातक कहा है। जैसे त्रसपनाका घातक तो स्थावरनामकर्मका उदय है परन्तु जिसके एकेन्द्रियजाति नामकर्मका उदय होता है उसके त्रसपना नही हो सकता, इसलिये उपचारसे एकेन्द्रियजाति नामकर्मको भी त्रसपनाका घातक कहा जाता है। इसी दृष्टिसे कही अनन्तानुबन्धीमें दो प्रकारकी शक्तियाँ मान ली गई हैं चारित्रको घातनेकी और सम्यग्दर्शनको घातनेकी।

प्रश्न—यदि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है तो उसके उदयका अभाव होने पर असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें भी कुछ चारित्र होना चाहिये, उसे असयत क्यो कहा जाता है?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी आदि भेद कषायकी तीव्रता या मन्दताकी अपेक्षा नही हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके तीव्र या मन्द कषायके होते हुए अनन्तानुबन्धी आदि चारो कषायोका उदय युगपत् रहता है। मिथ्यादृष्टिके कषायका इतना मन्द उदय हो सकता है कि उस कालमें शुक्ल लेश्या हो जावे और असयत सम्यग्दृष्टिके इतनी तीव्र कषाय हो सकती है कि उस कालमें कृष्ण लेश्या हो जाय। जिसका अनन्त अर्थात् मिथ्यात्वके साथ अनुबन्ध–गठबन्धन हो वह अनन्तानुबन्धी है। जो एकदेशचारित्रका घात करे वह अप्रत्याख्यानावरण है, जो सकलचारित्रका घात करे वह प्रत्याख्यानावरण है और जो यथाख्यातचारित्रका घात करे वह सज्वलन हैं। असयत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीका अभाव होनेसे यद्यपि कषायकी मन्दता होती है परन्तु ऐसी मन्दता नही होती जिससे चारित्र नाम प्राप्त कर सके। कषायके असख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं उनमें सर्वत्र पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर मन्दता पायी जाती है परन्तु उन स्थानोमें व्यवहारकी अपेक्षा तीन मर्यादाएँ की गई हैं—१ प्रारम्भसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके कषायस्थान असयमके नामसे, २ पञ्चम गुणस्थानके कषायस्थान देशचारित्रके नामसे और ३. षष्ठादि गुणस्थानोके कषायस्थान सकलचारित्रके नामसे कहे जाते हैं।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामीने कहा है[1]—

'ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठताको प्राप्त होता है इसलिये मोक्षमार्गमें उसे कर्णधार—खेवटिया कहते हैं।

जिस प्रकार बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नही होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अभावमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नही होती।

'निर्मोह—मिथ्यात्वसे रहित—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें स्थित है परन्तु मोहवान्—मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नही है। मोही मुनिकी अपेक्षा मोहरहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।'

'तीनो कालों और तीनो लोकोमें सम्यग्दर्शनके समान अन्य कोई वस्तु देहधारियोंके लिए कल्याणरूप और मिथ्यात्वके समान अकल्याणरूप नही है।

'सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य व्रतरहित होने पर भी नरक और तिर्यञ्च गति, नपुसक और स्त्री पर्याय, नीचकुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रताको प्राप्त नही होते।'

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार ३१–४१ तक।

[1]यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पहले किसी मनुष्यने नरक आयुका बन्ध कर लिया है तो वह पहले नरकसे नीचे नही जाता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्यका बन्ध कर लिया है तो भोगभूमिका तिर्यञ्च और मनुष्य होता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिकोंमें उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शनके कालमें यदि तिर्यञ्च और मनुष्यके आयुबन्ध होता है तो नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्यायुका ही बन्ध होता है।[2] सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गतिकी स्त्रीपर्यायको प्राप्त नही होता। मनुष्य और तिर्यञ्च गतिमें नपुसक भी नही होता।

'सम्यग्दर्शनसे पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभवसे सहित उच्च कुलीन, महान् अर्थसे सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते है।'

'सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि स्वर्ग जाते है तो वहां अणिमा आदि आठ'गुणोकी पुष्टिसे सतुष्ट तथा सातिशय शोभासे युक्त होते हुए देवाङ्गनाओके समूहमें चिर काल तक क्रीडा करते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्गसे आकर नौ निधि और चौदह रत्नोंके स्वामी समस्त भूमिके अधिपति तथा मुकुटबद्ध राजाओके द्वारा वन्दित चरण होते हुए सुदर्शन चक्रको वर्तानेमें समर्थ होते हैं—चक्रवर्ती होते हैं।'

'सम्यग्दर्शनके द्वारा पदार्थोंका ठीक-ठीक निश्चय करने वाले पुरुष अमरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा मुनीन्द्रोके द्वारा स्तुतचरण होते हुए लोकके शरण्यभूत तीर्थंकर होते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव अन्तमें उस मोक्षको प्राप्त होते हैं जो जरासे रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्याका वैभव चरम सीमाको प्राप्त है तथा जो कर्ममलसे रहित है।'

'जिनेन्द्र भगवान्में भक्ति रखने वाला—सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य, अपरिमित महिमासे युक्त इन्द्रसमूहकी महिमाको, राजाओंके मस्तकसे पूजनीय चक्रवर्तीके चक्ररत्नको और समस्त लोकको नीचा करने वाले धर्मेन्द्रचक्र—तीर्थंकरके धर्मचक्रको प्राप्त कर निर्वाणको प्राप्त होता है।

---

१ दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थिति ॥

२ हेट्ठिमछप्पुढवीण जोइसिवणभवणसव्वइत्थीण।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ।१२७।—जी० का०।

सम्यग्दर्शन और अनेकान्त

पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। अत उसका निरूपण करनेके लिए आचार्योंने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयोको स्वीकृत किया है। द्रव्यार्थिक नय मुख्यरूपसे द्रव्यका निरूपण करता है और पर्यायार्थिक नय मुख्यरूपसे पर्यायको विषय करता है। अध्यात्मप्रधान ग्रथोमें निश्चयनय और व्यवहारनयकी चर्चा आती है। निश्चयनय गुण-गुणीके भेदसे रहित तथा परके सयोगसे शून्य शुद्ध वस्तुतत्त्वको ग्रहण करता है और व्यवहारनय, गुण-गुणीके भेदरूप तथा परके सयोगसे उत्पन्न अशुद्धतासे युक्त वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नयके विषय परस्परविरोधी हैं। द्रव्यार्थिकनय पदार्थको नित्य तथा एक कहता है तो पर्यायार्थिकनय अनित्य तथा अनेक कहता है। निश्चयनय आत्माको शुद्ध तथा अभेदरूप वर्णन करता है तो व्यवहारनय अशुद्ध तथा भेदरूप बतलाता है। नयोके इस विरोधको दूर करनेवाला अनेकान्त है। विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्मोको गौणमुख्यरूपसे जो ग्रहण करता है उसे अनेकान्त कहते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इसी अनेकान्तका आश्रय लेकर वस्तुस्वरूपको समझता है और पात्रकी योग्यता देखकर दूसरोको समझाता है। सम्यग्दर्शनके होते ही इस जीवकी एकान्तदृष्टि समाप्त हो जाती है, क्योकि निश्चय और व्यवहारके वास्तविक स्वरूपको समझकर दोनो नयोके विषयमें मध्यस्थताको ग्रहण करने वाला मनुष्य ही जिनागममे प्रतिपादित वस्तुस्वरूपको अच्छी तरह समझ सकता है।[1] सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभासको समझकर उन्हें छोडता है तथा वास्तविक वस्तुस्वरूपको ग्रहणकर कल्याणपथमें प्रवर्तता है।

सम्यग्दृष्टिकी अन्तर्दृष्टि

श्री अमृतचन्द्र स्वामीने कहा है—'**सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्ति**' सम्यग्दृष्टि जीवके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति प्रकट हो जाती है इसलिए वह ससारके कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टिको अन्तर्मुखी रखता है। 'मैं अनन्तज्ञानका पुञ्ज, शुद्ध—रागादिके विकारसे रहित चेतनद्रव्य हूँ, मुझमें अन्य द्रव्य नही हैं, मैं अन्य द्रव्यमें नही हूँ और आत्माके अस्तित्वमें दिखनेवाले रागादिक भाव मेरे स्वभाव नही है।' इस प्रकार स्वरूपकी ओर दृष्टि रखनेसे सम्यग्दृष्टि जीव, अनन्त ससारके कारणभूत बन्धसे बच जाता है। प्रशम-सवेगादि गुणोके प्रकट हो जानेसे उसकी कषायका वेग ईंधन रहित अग्निके समान

---

१ व्यवहारनिश्चयौ य प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकल शिष्य ॥—पुरुषार्थ० ।

उत्तरोत्तर घटता जाता है। यहाँ तक कि बुराई होने पर उसकी कषायका सस्कार छह महीनेसे ज्यादा नही चलता। यदि छह माहसे अधिक कषायका सस्कार किसी मनुष्यका चलता है तो उसके अनन्तानुन्धी कषायका उदय है और उसके रहते हुए वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है[1] ऐसा समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी वैराग्यशक्तिके कारण सासारिक कार्य करता हुआ भी जलमें रहनेवाले कमलपत्रके समान निर्लिप्त रहता है। वह मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्यागी हो जाता है। भय, आशा, स्नेह या लोभके वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओकी उपासना नही करता। किसी पर स्वय आक्रमण नही करता। हाँ, किसीके द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने पर आत्मरक्षाके लिए युद्ध आदि भी करता है। मास-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सम्यक् दृष्टिकी चाल-ढाल ही बदल जाती है।[2]

विनीत
पन्नालाल जैन

---

१. अतोमुहुत्त पक्खो छम्मास सख सख णतभव।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियेमण ॥—गो०क०का०।

२ रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्रस्तावनाका एक अश।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम मयूख

द्वितीय मयूख

तृतीय मयूख

चतुर्थ मयूख

पञ्चम मयूख

षष्ठ मयूख

सप्तम मयूख

अष्टम मयूख

नवम मयूख

दशम मयूख

सम्यक्त्व-चिन्तामणिमें
प्रयुक्त छन्दोंकी नामावली

१. मालिनी
२. स्वागता
३. उपजाति
४. इन्द्रवज्रा
५. आर्या
६. अनुष्टुप्
७. शार्दूलविक्रीडित
८. वसन्ततिलका
९. उपेन्द्रवज्रा
१०. प्रमदानव
११. भुजङ्गप्रयात
१२ द्रुतविलम्बित
१३. वंशस्थ
१४. स्रग्धरा
१५. शालिनि
१६ मञ्जुभाषिणी
१७. शिखरिणी
१८. रथोद्धता
१९. हिन्दीगीतिका

●

श्रीवीतरागाय नमः ।

सम्यक्त्व-चिन्तामणिः

प्रथमो मयूखः

निर्विघ्नरूपसे प्रारम्भित ग्रन्थकी समाप्तिके लिए पाच बालयति तीर्थंकर वासुपूज्य मल्लिनाथ-नेमिनाथ-पार्श्वनाथ और वर्धमान भगवान्का स्तवन करते हुए मङ्गलाचरण करते हैं—

मालिनी छन्द

जयति जनसुवन्द्यश्चिच्चमत्कारनन्द्यः
शमसुखभरकन्दोऽपास्तकर्मारिवृन्दः ।
निखिलमुनिगरिष्ठः कीर्तिसत्तावरिष्ठः
सकलसुरपपूज्यः श्रीजिनो वासुपूज्यः ॥१॥

अर्थ—जो समस्त मनुष्योंके द्वारा वन्दनीय है, चैतन्य-चमत्कारसे समृद्धियुक्त है, सहज शान्ति और सुखसमूहके कन्द हैं कर्मरूप शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेवाले हैं, अखिल मुनियोंमें श्रेष्ठतम है, कीर्तिके सद्भावमें लोकोत्तम है तथा समस्त इन्द्रोंके द्वारा पूज्य हैं, वे वासुपूज्य जिनेन्द्र जयवन्त रहे ॥१॥

स्वागता छन्द

मोहमल्लमदभेदनधीरं कीर्तिमानमुखरीकृतवीरम् ।
धैर्यखड्गविनिपातितमारं तं नमामि वरमल्लिकुमारम् ॥२॥

अर्थ—जो मोहरूपी मल्लका मद भेदन करनेमें धीर है, जिन्होने कीर्तिके मानसे वीरोंको मुखरीकृत किया है—समस्त वीर जिनका सुयश गाते हैं और धैर्यरूपी कृपाणके द्वारा जिन्होने कामको मार गिराया है उन बालयति मल्लिनाथ भगवान्को नमस्कार करता हूँ ॥२॥

उपजाति छन्द

विज्ञातलोकत्रितयं समन्तादनन्तबोधेन बुधाधिनाथम् ।
तं माननीयं मुनिनाथनेमिं नौमीश्वरं धर्मरथस्य नेमिम् ॥३॥

अर्थ—जिन्होंने अनन्तज्ञानके द्वारा तीनों लोकोंको जान लिया है, जो सर्वत्र विद्वानोंके अधिपति है, माननीय है तथा धर्मरूपी रथके प्रवर्तक हैं उन मुनिराज नेमिनाथ भगवान्को मैं नमस्कार करता हूं ॥३॥

इन्द्रवज्रा

येनातिमानः कमठस्य मानो ध्वस्तोऽसमस्थैर्यगुणाणुनैव ।
देहप्रभादीपितपार्श्वदेशं तं पार्श्वनाथं सततं नमामः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन्होने कमठके बहुत भारी मानको अपने अनुपम धैर्यरूपी गुणके एक अंशमात्रसे नष्ट कर दिया था तथा जिन्होने अपनी प्रभासे समीपवर्ती प्रदेशको देदीप्यमान कर दिया था, उन पार्श्वनाथ भगवान्को हम सदा नमस्कार करते है ॥४॥

उपजाति

यं जन्मकल्याणमहोत्सवेषु सुराः समागत्य सुरेशलोकात् ।
क्षीराब्धिनीरैरधिमेरुशृङ्गं समभ्यसिञ्चन् वरभक्तिभावात् ॥५॥
तं वर्धमानं भुवि वर्धमानं श्रेयःश्रिया ध्वस्तसमस्तमानम् ।
भक्त्या भृतः समुदितश्च नित्यं नमामि वीरं हतकर्मतानम् ॥६॥

अर्थ—जन्मकल्याणकके महोत्सवोमे देवोने स्वर्गलोकसे आकर सुमेरु पर्वतके शिखरपर उत्कृष्ट भक्तिभावसे क्षीरसागरके जलसे जिनका अभिषेक किया था, जो पृथ्वीपर कल्याणकारी लक्ष्मीसे बढ रहे है, जिन्होने समस्त मानको नष्ट कर दिया है तथा कर्मसमूहको नष्ट कर दिया है ऐसे भगवान् वर्धमान स्वामीको भक्तिसे परिपूर्ण तथा प्रकृष्ट हर्षसे युक्त हो निरन्तर नमस्कार करता हूँ ॥५-६॥

अब पूर्वाचार्यपरम्पराके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते है—

आर्या

कुन्दकुसुमसमकीर्तिं मूर्तिं ह्यध्यात्मतत्त्वविद्यानाम् ।
बुधवृन्दारकवृन्दैर्वन्द्यं वन्दे च कुन्दकुन्दं तम् ॥ ७ ॥

अनुष्टुप्

उमास्वामिगुरुः शास्त्राम्भोधिमन्थनमन्दरः ।
तत्त्वार्थसूत्रकृद् वन्द्यः केषां नाम न भूतले ॥ ८ ॥
उद्दण्डवादिवेतण्ड-गण्डमण्डलदण्डनः ।
जीयात्समन्तभद्रोऽयं वन्दनीयः सतां सदा ॥ ९ ॥

आर्या

येन सर्वार्थसिद्धी रचिता सर्वार्थसिद्धिदा पुंसाम् ।
जीयाज्जगति स पूज्यः प्राचार्यः पूज्यपादोऽयम् ॥१०॥
व्यपगतकर्मकलङ्कं सकलं विकलं मदेन शास्त्रज्ञम् ।
कोविदकमलदिवाकरमीडे ह्याचार्यमकलङ्कम् ॥११॥
सुपदा शोभनवर्णा विभाति कान्तेव भारती यस्य ।
तमहं जिनसेनगुरुं महाकवीन्द्रं नमामि सद्भक्त्या ॥१२॥
अमृतोपमा यदीया वाचां धारा बुधेन्द्रसंश्लाघ्या ।
प्रवहति लोके सततं वन्देऽमृतचन्द्रसूरिं तम् ॥१३॥
अपहृतबुधजनतन्द्रं व्यपगतनिद्रं परोपहितदक्षम् ।
प्रणमामि नेमिचन्द्रं चन्द्रं शास्त्राम्बुधेः पूर्णम् ॥१४॥

अनुष्टुप्

यस्य लोके लसत्कीर्त्या पूर्णचन्द्रोऽपि लज्जितः ।
जयाताच्छुभचन्द्रोऽयं चिरं चारुगुणालय· ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनकी कीर्ति कुन्दकुसुमके समान उज्ज्वल है, जो अध्यात्मतत्त्व सम्बन्धी विद्याओकी मूर्ति है और बडे-बडे विद्वानोके समूह जिन्हे वन्दना करते है उन कुन्दकुन्दाचार्यको मै नमस्कार करता हूँ ॥७॥ जो शास्त्ररूपी समुद्रका मन्थन करनेके लिये मन्दराचल है तथा तत्त्वार्थसूत्रकी जिन्होने रचना की है ऐसे उमास्वामी गुरु पृथ्वीतलपर किनके वन्दनीय नही हैं ॥८॥ जो उद्दण्डवादीरूप हाथियोंके गण्डस्थलको दण्डित करनेवाले है तथा सत्पुरुषोंके सदा वन्दना करनेके योग्य है वे समन्तभद्राचार्य सदा जयवन्त रहे ॥९॥ जिन्होने मनुष्योके समस्त प्रयोजनोकी सिद्धि करने वाली सर्वार्थसिद्धि—तत्त्वार्थसूत्रकी टीका रची है तथा जगत्मे जो सबके पूज्य है वे पूज्यपाद महान् आचार्य जयवन्त रहे ॥१०॥ जिन्होने कर्मरूपी कलङ्कको दूर किया है, जो अनेक कलाओसे सहित है, गर्वसे रहित है। शास्त्रके ज्ञाता है तथा विद्वज्जनरूपी कमलोको विकसित करनेके लिये सूर्य है उन आचार्य अकलङ्कदेवकी मैं स्तुति करता हूँ ॥११॥ जिनकी वाणी कान्ताके समान सुपदा—अच्छे पदोसे सहित (कान्तापक्षमे सुन्दर चरणोसे सहित) और सुवर्णा—उत्तम अक्षरोसे युक्त (कान्ता पक्षमे सुन्दर रूपसे युक्त) सुशोभित है उन महाकवीन्द्र जिनसेन गुरुको मै उत्तम भक्तिसे

नमस्कार करता हूं ॥१२॥ बडे-बडे विद्वानोंके द्वारा प्रशंसनीय जिनकी अमृततुल्य वचनधारा लोकमें निरन्तर बहती रहती है उन अमृतचन्द्र सूरिको मैं नमस्कार करता हूं ॥१३॥ जिन विद्वज्जनोंकी तन्द्राको नष्ट कर दिया है, जिनकी स्वयं की निद्रा—प्रमाददशा नष्ट हो गई है जो परोपकार-मे निपुण हैं तथा शास्त्ररूपी समुद्रको वृद्धिङ्गत करनेके लिये पूर्ण चन्द्रमा है उन नेमिचन्द्र आचार्यको मैं प्रणाम करता हू ॥१४॥ लोकमें जिनकी शोभायमान कीर्तिसे पूर्ण चन्द्रमा भी लज्जित हो जाता है उत्तम गुणोंके गृहस्वरूप वे शुभचन्द्राचार्य चिरकाल तक जयवन्त रहे ॥१५॥

आगे ग्रन्थकर्ता अपने वर्तमान धर्मविद्यागुरुओंका स्तवन करते है—

उपजाति

येषां कृपाकोमलदृष्टिपातैः सुपुष्पिताभून्मम सूक्तिवल्ली ।
तान्प्रार्थये वर्णिगणेशपादान् फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना ॥१६॥
यस्यार्जवोऽसौ सततं मनो मे धिनोति शिष्यैरुपसेव्यमानम् ।
नमाम्यहं धर्मगुरुं सुभक्त्या दयासुधादीधितिमालिनं तम् ॥१७॥

अर्थ—जिनके कृपाकोमलदृष्टिपातसे मेरी सूक्तिरूपी लता सुपुष्पित हुई है उन वर्णी गणेशके चरणोंमे मैं उस लता पर नम्रीभूत मस्तकसे फलोदयकी प्रार्थना करता हू ॥१६॥ जिनकी सरलता सदा मेरे मनको सतुष्ट करती रहती है तथा जो अनेक शिष्योंके द्वारा सेवनीय हैं उन धर्मगुरु श्रीदयाचन्द्रको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हू ॥१७॥

आगे ग्रन्थकर्ता ग्रंथ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

शार्दूल विक्रीडित

पूर्वाचार्यपरम्परामनुगतः सन्मार्गनिर्देशनीं
शास्त्रागारविशारदप्रमुग्धजनतासंक्लेशतापापहम् ।
सम्यक्त्वाभिधरत्नरश्मिविमलालोकेन संशोभितं
वक्ष्ये ग्रन्थमपश्चिमं लघुमिमं सम्यक्त्वचिन्तामणिम् ॥१८॥

वसन्ततिलका

ईशाङ्घ्रिपङ्कजयुगं हतपापपुञ्जं
मञ्जुप्रभं प्रचुरभक्तिभरेण नत्वा ।
अज्ञानगाढतमसा हृतनेत्रजाल—
बालप्रबोधविधये विदधामि यत्नम् ॥१९॥

अर्थ—सन्मार्गका निर्देश करनेवाली पूर्वाचार्योकी परम्पराका अनुसरण करता हुआ मै शास्त्ररूपी गृहमे प्रवेश करनेवाली प्रमुग्ध जनताके सक्लेशजन्य तापको हरनेवाले तथा सम्यक्त्व नामक रत्नकी किरणोके निर्मल प्रकाशसे सुशोभित इस सम्यक्त्वचिन्तामणि नामके लघुकाय किन्तु श्रेष्ठ ग्रन्थको कहूँगा ॥१८॥ पापपुञ्जको नष्ट करनेवाले श्री जिनेन्द्र भगवान्के सुन्दर चरणकमल-युगलको बहुत भारी भक्तिसे नमस्कार कर अज्ञानरूपी गाढ अन्धकारसे दृष्टिहीन बालकोके प्रबोधके लिये प्रयत्न करता हूँ ॥१९॥

अनुष्टुप्

अथातः संप्रवक्ष्यामि सम्यग्दर्शनमल्पशः ।
ससारसिन्धुमग्नानां पोतपात्रमनुत्तमम् ॥ २० ॥
तत्र सद्दर्शनाभावे भुञ्जानो दुःखसन्ततिम् ।
वर्ण्यते पुरुषः पूर्वं श्लोकैर्भव्यतमाक्षरैः ॥ २१ ॥

अर्थ—अब आगे उस सम्यग्दर्शनका सक्षेपमे कथन करूँगा, जो ससार-सागरमे निमग्न जीवोके लिये उत्तम जहाजके समान है ॥२०॥ इस सदर्भमे सबसे पहले सम्यग्दर्शनके अभावमे दु खसमूहको भोगनेवाले पुरुष (आत्मा) का उत्तम अक्षरावलीसे युक्त श्लोकोके द्वारा निरूपण किया जाता है ॥२१॥

आगे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके पहले इस जीवकी कैसी परिणति होती है, यह कहते है। मिथ्यादृष्टि जीव कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और कुधर्मकी सेवा करता है, इसलिये कुदेवादिकका वर्णन भी यहा प्रसङ्गवश किया जाता है—

अनादिबद्धमिथ्यात्वगाढध्वान्तापलोचनः ।
हिताहितानभिज्ञोऽयं शाठ्योपहतमानस ॥ २२ ॥
रागद्वेषादिदोषाणां सघेन परिसस्कृतम् ।
गदाद्यायुधशुम्भन्तं भामिनीहृतमानसम् ॥ २३ ॥
अविद्याया कुलागारं मायामोहनिकेतनम् ।
कदम्बक कुदेवानामयमर्चति जातुचित् ॥ २४ ॥
पूर्वापरविरोधेन पूरितोदरसभृतम् ।
हिंसादिपापपुञ्जानामसाधारणदेशनम् ॥ २५ ॥
अबोधोपहतस्वान्तैर्मोहाद्दूपितमानसैः ।
प्राकृतैर्जातनिर्माण मिथ्याशास्त्रकदम्बकम् ॥२६ ॥

सादर वन्दते नित्य हितलाभमनीषया ।
तदप्राप्त्या भृश भूयः क्लेशमाप्नोति सन्ततम् ॥२७॥
मिथ्यातपश्चमत्कारैर्मुग्धमर्त्यविमोहितम ।
हिंसासकेतसदनं कामकेलिकुलालयम् ॥२८॥
नैकदुःखतरङ्गाणामाश्रये भवसागरे ।
तितीर्षूणां नृणां नून पापाणमयपोतकम् ॥२९॥
अभिमानमहीकान्त दीर्घससारमसृतिम् ।
सघ तापसधूर्तानां मुक्तिहेतुं च मन्यते ॥३०॥
संसारेऽवारपारेऽस्मिन्मज्जन्त्या जनतातते ।
दृढ हस्तावलम्ब त सद्धर्मं प्रविहाय हा ॥३१॥
हिंसास्तेयाश्रय नून पातालपुरपद्धतिम् ।
शिवद्वारार्गल धर्मं दुःखिनां दुःखदायकम् ॥३२॥
श्रद्धधाति सदा काम कामिताभृतमानसः ।
इष्टानिष्टपदार्थेषु तोष रोष च गच्छति ॥३३॥

अर्थ—अनादि कालसे बँधे हुए मिथ्यात्वरूपी सघन अन्धकारसे जो दृष्टिहीन हो रहा है, हित और अहितसे अनभिज्ञ है तथा शठता—अज्ञान दशासे जिसका मन आघातको प्राप्त हो रहा है ऐसा यह मिथ्यादृष्टि जीव कभी उन कुदेवो—मिथ्या देवोके समूहको पूजता है, जो रागद्वेषादि दोषोके समूहसे सहित है, गदा आदि शस्त्रोसे सुशोभित हैं, स्त्रियोंके द्वारा जिनका मन हरा गया है, जो अविद्या—अज्ञानके कुलभवन हैं और माया तथा मोहके घर हैं ॥२२-२४॥

कभी मिथ्याशास्त्रोके उस समूहकी हितवुद्धिसे बडे आदरके साथ वन्दना करता है और हितकी प्राप्ति नही होनेसे अत्यधिक क्लेशको प्राप्त होता है, जो पूर्वापर विरोधसे भरा हुआ है, हिंसादि पाच पापोका असाधारण उपदेश देता है, तथा अज्ञानी और मोहसे दूषित हृदयवाले साधारण मनुष्योके द्वारा जिसकी रचना हुई है ॥२५-२६॥

कभी धूर्त तापसोके उस समूहको मुक्तिका हेतु मानता है जो मिथ्या तपके चमत्कारोसे भोले-भाले मनुष्योको विमोहित करने वाला है, हिसाका सकेत-गृह है, कामक्रीडाओका कुलभवन है, अनेक दुःखरूपी तरङ्गोके

अधारभूत ससार-सागरमे पार होनेके इच्छुक मनुष्योके लिये जो मानो पत्थरकी नाव है, अभिमानका स्वामी है तथा जिसका ससार-भ्रमण लम्बा है ॥२७-२९॥

कभी इच्छाओसे परिपूर्ण हृदय होता हुआ इस ससार-सागरमे डूबते हुए जनसमूहको सुदृढ हस्तावलम्बन स्वरूप समीचीन धर्मको छोडकर उस धर्मकी सदा इच्छानुसार श्रद्धा करता है और इष्ट-अनिष्ट पदार्थोमे रागद्वेष करता है, जो हिंसा और चोरीको आश्रय देनेवाला है, मानो पातालपुरी—नरकका मार्ग है, मोक्षके द्वारपर लगा हुआ आगल है और दु खी मनुष्योको दु ख देनेवाला है ॥३०-३३॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीवकी अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणतिका वर्णन करते है—

सचैतन्यचमत्कार जीवतत्त्वममूर्तिमत् ।
न बुद्ध्वा हन्त देह वै जीवत्वेन प्रमन्यते ॥३४॥
ततश्चेम कृश स्थूल जीर्ण शीर्ण च दुर्बलम् ।
बलाढ्यं च हतं जात निज मत्वा तथैव हा ॥३५॥
क्षणमाक्रन्दमाप्नोति क्षणं च हसति क्वचित् ।
क्षणं रोरुद्यमानोऽयं क्षणं किञ्चित्प्रजल्पति ॥३६॥
आत्मानं नित्यमश्रान्तमजीर्णमपुरातनम् ।
अकर्तारमभोक्तारं श्रद्धाति न जातुचित् ॥३७॥
शरीराश्रितसम्बन्ध पुत्र मित्र सहोदरम् ।
भगिनीं गेहिनीं किञ्च पितर मातरं तथा ॥३८॥
पितृव्यं तस्य पुत्रं च मातामहपितामहौ ।
भ्रातृस्त्रीं मातुलानीं च मातुलं भगिनीपतिम् ॥३९॥
भागिनेय महाभाग्यं भागिनेयीं च सत्कृताम् ।
श्वसुर च तथा श्वश्रूं श्याल श्यालस्य मानिनीम् ॥४०॥
श्यालपुत्र निजं पौत्र दौहित्र मित्रमण्डलम् ।
सर्व स्वात्मभव हन्त मन्यते हतमानस ॥४१॥
एतेषां हि कृते नित्य क्लेशमाप्नोति विस्तृतम् ।
बहुनालं क्वचित्प्राणान् त्यक्तुमिच्छति कामितान् ॥४२॥

एतानात्मानुकूलांस्तान् कर्तुमिच्छुस्तदा तदा ।
तादृशान्न च दृष्ट्वाथो भृश क्रोधाद् विताम्यति ॥४३॥

अर्थ—खेद है कि मिथ्यादृष्टि जीव चैतन्यचमत्कारस सहित अमूर्तिक जीवतत्त्वको न जानकर शरीरको ही जीवरूप मानता है ॥३४॥ तदनन्तर इस शरीरको कृश, स्थूल, जीर्ण, शीर्ण, दुर्बल, बलवान्, मृत और उत्पन्न जानकर अपने आपको वैसा ही मानता है ॥३५॥ और उसके फलस्वरूप किसी क्षण रोने लगता है, किसी क्षण हँसने लगता है, किसी क्षण रोता हुआ कुछ प्रलाप करने लगता ह ॥३६॥ आत्मा नित्य, भ्रान्तिरहित, अजीर्ण, अपुरातन, अकर्त्ता और अभोक्ता है ऐसी श्रद्धा कभी नही करता ॥३७॥ जिनका सम्बन्ध शरीरके आश्रित है ऐसे पुत्र, मित्र, भाई, बहिन, स्त्री, माता, चाचा, चाचाका पुत्र, नाना, बाबा, भाभी, मामी, मामा, बहिनोई, भाग्यशाली भानेज, सुसत्कृत भानेजन, श्वसुर, सासू, साला, सालेकी स्त्री, सालेका पुत्र, पौत्र, धेवता तथा मित्रसमूह इन सबको अपने आत्मासे उत्पन्न मानता है और निर्विचार होकर दु खी रहता है ॥३८-४१॥ इन सबके लिये निरन्तर बहुत भारी क्लेशको प्राप्त होता है। अधिक क्या कहा जाय, अपने प्रिय प्राणोका भी परित्याग करना चाहता है। मिथ्यादृष्टि जीव इन सबको अपने अनुकूल करना चाहता है परन्तु विभिन्न अवसरोमे जब अपने अनुकूल नही देखता है तब क्रोधसे अत्यन्त दु खी होता है ॥४२-४३॥

आगे मिथ्यादृष्टिकी और भी मान्यताओका वर्णन करते है—

सर्वेषां हि पदार्थानां परिणामो नियतो भवेत् ।
आत्माधीन न किञ्चित् स्यादिति हन्त न मन्यते ॥४४॥
रागादयो विभावा ये स्वात्मन्येव भवन्ति हि ।
ज्ञात्वा तान् सर्वथा भिन्नान् स्वच्छन्द विचरत्यसौ ॥४५॥
कदाचिन्नूनमात्मानं मत्वा सिद्धं च निर्मलम् ।
मुक्त्यर्थं न प्रयत्नेन चेष्टतेऽयं व्रतच्युत ॥४६॥
तपसा सम्प्रयोगेणानुष्ठानादिविधानत ।
कदाचित्स्वर्गितां प्राप्य नित्य तत्रापि ताम्यति ॥४७॥
दुःखरोधस्य निर्दोष-कारणं मोहरोधनम् ।
हन्त हन्त न कुत्रापि श्रद्दधाति कदाचन ॥४८॥

अर्थ—समस्त पदार्थोंका परिणमन उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार नियत है, अपने अधीन कुछ नही है, खेद है कि वह ऐसा नही मानता ॥४४॥ जो रागादिक विभाव भाव अपनी आत्मामे ही उत्पन्न होते है उन्हे वह सर्वथा आत्मासे भिन्न मानकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है॥४५॥ कभी निश्चयसे अपने आपको सिद्ध परमेष्ठीके समान निर्मल मानकर मुक्तिके लिये पुरुषार्थपूर्वक चेष्टा नही करता है, किन्तु व्रतसे च्युत हो जाता है ॥४६॥ तपोके योगसे और व्रत अनुष्ठान आदिसे यदि कभी देव पर्यायको प्राप्त होता है तो वहाँ भी निरन्तर दु खी रहता है ॥४७॥ दु ख दूर करनेका निर्दोष कारण मोहका रोकना है परन्तु अत्यन्त खेद है कि मिथ्यादृष्टि इसकी कभी और कही भी श्रद्धा नही करता है ॥४८॥

आगे अजीवतत्त्वके विषयमे मिथ्यादृष्टिकी कैसी परिणति होती है, इसका वर्णन करते है—

चेतनालक्षणाद् भिन्नादजीवाद् गतचेतनात् ।
आत्मानं भिन्नमत्यन्तं मन्यते नैव जातुचित् ॥ ४९ ॥
सर्वेषां खलु चैतेषां परिणाम कर्तुमिच्छति ।
आत्माधीनं न तद् दृष्ट्वा पूत्करोति निरन्तरम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो चैतन्यलक्षणवाले जीवसे भिन्न है तथा स्वय अचेतन है ऐसे अजीवमे आत्मा अत्यन्त भिन्न कभी नही मानता है ॥४९॥ इन सबके परिणमनको वह अपने अधीन करना चाहता है पर जब अपने अधीन नही देखता है तब निरन्तर रोता है—दु खी होता है ॥५०॥

अब आस्रवतत्त्व विषयक विपरीत मान्यताका कथन करते है—

आस्रवसंज्ञित तत्त्व काययोगादिभेदितम् ।
उपादेयं विजानाति दीर्घसंसारविभ्रमः ॥ ५१ ॥
हिंसास्तेयमृषावास्यात्रअवित्तादिसंज्ञितम् ।
मोदते सततं मोहात्कुर्वाणः पापपञ्चकम् ॥ ५२ ॥
देवपूजाव्रताधानप्रमुख शुभसंज्ञितम् ।
आस्रवं सर्वथा ग्राह्यं बुद्ध्वा स्वर्गेषु सीदति ॥ ५३ ॥
कर्मणां दुर्विपाकेन जातं दुःखाग्निकारणम् ।
द्वेष्टि हन्त न तन्मूलमास्रवं बन्धकारणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसका ससार-परिभ्रमण दीर्घ है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव काययोगादिके भेदसे युक्त आस्रवतत्त्वको उपादेय जानता है ॥५१॥ मोह-वश हिंसा, चोरी, असत्य वचन, कुशील तथा परिग्रह इन पाँच पापोको करता हुआ निरन्तर हर्षको प्राप्त होता है ॥५२॥ देवपूजा तथा व्रतग्रहण आदि शुभास्रवको सर्वथा ग्राह्य मानकर स्वर्गको प्राप्त होता है तथा वहा सासारिक सुखमे निमग्न हो दु खी होता है ॥५३॥ कर्मोके दुर्विपाकसे यदि दु:खरूप अग्निके कारण उपस्थित होते हैं तो यह जीव उनसे द्वेष करता है परन्तु उस दु खका मूल हेतु बन्धका कारण जो आस्रवभाव है उससे द्वेष नही करता ॥५४॥

आगे बन्धतत्त्वका यथार्थ ज्ञान न होनेसे मिथ्यादृष्टि जीव दु खी होता है, यह कहते है—

इष्टानिष्टपदार्थेषु　पुरा　रागादिकल्पनात् ।
आत्मनैव कृत कर्म दुःखदं यद् बहुविधम् ॥ ५५ ॥
उदये　तस्य मोहेनेतरद् दुःखस्य कारणम् ।
ज्ञात्वा　तत्प्रतीकाराभावे बह्वथ　ताम्यति ॥ ५६ ॥

अर्थ—इष्टानिष्ट पदार्थोमे रागादि भावोके करनेसे इस जीवने पहले जो दु खदायक नाना प्रकारके कर्म किये थे उन्हीका उदय होनेपर दु खका कारण उपस्थित होता है। परन्तु यह जीव दु खका मूल कारण न जानकर अज्ञानवश दूसरेको दु खका कारण मानकर उसका प्रतिकार करता है और जब प्रतीकारमे सफल नही होता है तब बहुत दु खी होता है। तात्पर्य यह है कि दु खका मूलकारण बन्धतत्त्व है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव अन्य किसी दूसरे पदार्थको दु खका कारण मानकर उससे द्वेष करता है॥५५-५६॥

आगे सवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वकी भी यथार्थ रुचि न होनेसे मिथ्यादृष्टि जीव दु खी होता है, यह कहते है—

आगच्छत्कर्मदुर्वैरिद्वाररोधविधायकम्　।
संवर शंकरं नाम मनसापि न बुध्यते ॥ ५७ ॥
कर्मणां निर्जरां नैव कृत्वा सौख्यमभीप्सति ।
अहो वह्निमनाशाम्य शीतत्वमभिकाङ्क्षति ॥ ५८ ॥
भृत सौख्यसुधासारैर्नित्य चैतन्यशालिनम् ।
अपवर्गं न विज्ञाय संसारे बहु सीदति ॥ ५९ ॥

अर्थ—आते हुए कर्मरूपी दुष्ट शत्रुओके द्वारको रोकनेवाले सुखदायक सवर तत्त्वका यह मनसे भी कभी विचार नही करता है ॥५७॥ कर्मोकी निर्जरा किये बिना ही यह जीव सुखकी इच्छा करता है। अहो, आश्चर्य है कि यह अग्निको बुझाये विना ही शीतलताकी इच्छा करता है ॥५८॥ सुखरूपी अमृतके सारसे निरन्तर भरे हुए, चैतन्यगुणसे सुशोभित मोक्ष तत्त्वको न जानकर यह जीव ससारमे बहुत दु खी होता है ॥५९॥

आगे मिथ्यात्वके कारण यह जीव नरकादि चारो गतियोमे दु ख उठाता है, यह कहते हुए सर्वप्रथम नरकगतिके दु खोका सक्षिप्त वर्णन करते है—

कदाचिन्नारकागारे ताडन पीडनं तथा ।
तर्जनं भर्त्सन चैव दात्रवृन्दैश्च कर्तनम् ॥ ६० ॥
विकृतश्वापदादीनां तिग्मदन्तमुखैर्नखैः ।
दंशनं स्फोटनं भूय· पुटपाकाग्निपातनम् ॥ ६१ ॥
शाल्मल्यारोहणं तीव्रज्वालाजालाभिदाहनम् ।
वैतरणीवगाह पुत्तलिका प्रतिलिङ्गनम् ॥ ६२ ॥
तप्तायोरसपानं च शैत्य तीव्रं च निस्तुलम् ।
औष्ण्य वसुन्धराजातमसुरैः कारित तथा ॥ ६३ ॥
क्षुधाबाधासमुत्पन्नमुदन्याजन्यतापनम् ।
तोमरासिगदाप्रासभिण्डिपालशिलायुधैः ॥ ६४ ॥
मुद्गरैर्भेदनं किञ्च रसपाकं चिरन्तनम् ।
दुःखजातमहो भुक्त्वा भृश हन्त विषीदति ॥ ६५ ॥

अर्थ—कदाचित् यह जीव नरकगतिमे जाता है तो वहाँ ताडन, पीडन, तर्जन, तिरस्कार, शस्त्रोके द्वारा काटा जाना, विक्रियासे निर्मित हिंसक जीवोके तीक्ष्ण दात, मुख और नखोके द्वारा काटा जाना, फाडा जाना, पुटपाक, अग्निमे गिराया जाना, सेमरके वृक्षपर चढाया जाना, ज्वालाओके समूहमे जलाया जाना, वैतरणीमे प्रवेश कराना, पुतलियोका आलिङ्गन, सतप्त लोहके रसका पिलाया जाना, बेजोड ठण्डका दु ख, गर्मीका दु ख, पृथिवीके स्पर्शसे होनेवाला दु ख, असुरकुमार देवोके द्वारा कराया हुआ दु ख, भूख और प्याससे उत्पन्न दु ख, तोमर, तलवार, गदा, भाला, भिण्डिपाल नामक तीक्ष्ण शस्त्र तथा मुद्गरोसे भेदा जाना और

चिरकालतक रसमे पकाया जाना आदिके बहुत भारी दु खोको भोगकर दु खी होता है ।।६०-६५।।

आगे तिर्यञ्चगतिमे भी दु ख उठाता है, यह कहते है—

मध्ये जातु निगोदस्योत्पद्यते म्रियते क्षणम् ।
भूजलानलवातद्रुकायिकेषु पुन पुनः ।। ६६ ।।
छेदन भेदन किञ्च मोडन ताडन तथा ।
खनन रोधनं हन्त हन्त वाधासहस्रकम् ।। ६७ ।।
प्रतीकारापरत्वेन विपाकं कर्मणां सदा ।
भुङ्क्ते ससारपाथोधिनिमग्नोऽय निरन्तरम् ।। ६८ ।।
ततो भाग्यवशाल्लब्ध्वा विकलेषु समुद्भवम् ।
क्षुत्पिपासाविदीर्णोऽय नानादुःखमुपाश्नुते ।। ६९ ।।
काकतालीयवत्प्राप्य सकलेन्द्रियतां तत ।
उत्पद्य क्रूरजीवेषु हन्ति निर्बलजन्तुकान् ।। ७० ।।
कदाचिद् भारवाहित्व ताडनं पीडन तथा ।
अन्नपाननिरोधं च हिमानीं वर्ष्मशातिनीम् ।। ७१ ।।
औष्ण्य वर्षाप्रयोग च दुष्टदशाभिदशनम् ।
अङ्गच्छेदमुपाङ्गानां भेदन मोडन तथा ।। ७२ ।।
कामवाधां रुजाबाधां तप्तायःपरितापनम् ।
भुञ्जानोऽय चिरं नामानाश्त हन्त सीदति ।। ७३ ।।

अर्थ—यदि कभी निगोद पर्यायमे उत्पन्न होता है तो वहाँ क्षण-क्षणमे जन्म-मरण करता है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिकोमे उत्पन्न होकर वार-वार छेदा जाना, भेदा जाना, मोडा जाना, ताडित होना, खोदा जाना और रोका जाना आदिके हजारो दु खोको उठाता है। अत्यन्त खेदकी बात है कि यह जीव कर्मोका प्रतिकार करनेमे असमर्थ हो निरन्तर उनके विपाकको भोगता है तथा ससाररूपी समुद्रमे निरन्तर निमग्न रहता है । यदि भाग्यवश उस एकेन्द्रिय पर्यायसे निकलकर विकलत्रय जीवोमें जन्मको प्राप्त होता है तो वहाँ भी भूख-प्यासके दु खसे विदीर्ण हुआ नाना दु खोको प्राप्त होता है । यदि काकतालीय न्यायसे कदाचित् सकलेन्द्रिय—पञ्चेन्द्रिय जीवोमे जन्म लेता है तो वहाँ सिंहादिक

जातुचित्क्लीवको भूत्वा सततं कामबाधया ।
अशक्तत्वात्क्रियापूर्तावधिकाधिमुपाश्नुते ॥ ८४ ॥
जराजीर्णशरीरत्वाद् वार्धक्ये ह्यनिवारिते ।
शक्तेर्विरलभावत्वादिच्छायाश्च विवर्धनात् ॥ ८५ ॥
पुत्रपौत्रप्रपौत्राणां स्वाशयाननुवर्तनात् ।
श्रमोपार्जितवित्तस्य व्यर्थव्ययविधानतः ॥ ८६ ॥
किं वहुना ततस्तीव्र-कषायस्य विवर्तनैः ।
नित्य खेदमवाप्नोति मानवो गतदर्शनः ॥ ८७ ॥

अर्थ—कभी किसी बडे भाग्यसे नाना प्रकारके मलमूत्रादिसे भरे हुए मानुषीके उदरमे कृमिकुलकी सदृशताको प्राप्तकर निश्चयसे निवास करता है। वहाँ अङ्गोका सकोच, भूखका दु ख और प्यासका उपद्रव भोगता है। माताके द्वारा खाये हुए भोजनका भक्षण करता है। पश्चात् प्रसूतिके समय दु खसमूहसे अत्यधिक पीडित होता है ॥७४-७६॥

यह जीव बाल्यावस्थामे हीनशक्ति होनेसे खाने, पीने तथा वस्त्र धारण करनेमे परतन्त्र होनेसे दु खके भारको भरता है ॥७७॥ पूर्वकृत पापकर्मके उदयसे यदि माता-पिताका वियोग हो जाता है तो बहुत दु ख-को प्राप्न होता है ॥७८॥ यदि कभी नीचगोत्रमे उत्पन्न हुआ तो दूसरोकी सेवा करनेसे खिन्न रहता है और मर्मघाती-तिरस्कारके वचन सुनता हुआ पृथ्वीपर भ्रमण करता है ॥७९॥ कभी पुत्रके न होनेसे, कभी पुत्रके मर जानेसे और कभी पुत्रके कुपथगामी होनेसे दु खी होता है ॥८०॥कभी धनके नाशसे, कभी धनकी रक्षासे और कभी धनके उपार्जनसे बहुत भारी खेदको प्राप्त होता है ॥८१॥

कभी निर्धन अवस्थामे बहुत सन्तानोका जन्म हो गया और उनके सरक्षण-सवर्धनके साधन नही हुए तो बहुत खिन्न होता है ॥८२॥ कभी स्त्रीपर्यायमे उत्पन्न हुआ और वहाँ पतिका वियोग हो गया तो वृक्षसे गिरी हुई लताके समान सुशोभित नही होता है ॥८३॥ कभी नपुसक हुआ तो क्रियाकी पूर्तिमे अशक्त होनेसे कामबाधाके द्वारा अत्यधिक मानसिक पीडाको प्राप्त होता है ॥८४॥ जब अनिवार्य बुढापा आता है तब वृद्धा-वस्थाके कारण शरीर जीर्ण हो जाता है, शक्तिका ह्रास हो जाता है, इच्छाए बढने लगती है, पुत्र पौत्र और प्रपौत्र अपनी इच्छाके अनुसार नही चलते है, बडे श्रमसे उपार्जित धनका अपव्यय करते है तब अधिक क्या

कहा जाय, तीव्रकषायकी प्रवृत्तिसे यह मिथ्यादृष्टि जीव नित्य ही खेदको प्राप्त होता है ॥८५-८७॥

आगे यह मिथ्यादृष्टि जीव देवगतिमे किस प्रकारके दु ख उठाता है, यह कहते हैं—

अथ मन्दकषायेण कदाचिद् भवनामरे ।
व्यन्तरे ज्योतिषे वापि देवत्वेन विराजते ॥ ८८ ॥
तत्रापि नाम भोगानां मध्ये मग्नतया सदा ।
जातदुष्कर्मबन्धेन सततं हन्त सीदति ॥ ८९ ॥
इच्छाया बहुलीभावादिष्टानाञ्च समासतः ।
चिर खेदमवाप्नोति दीव्यद्देवीभिरञ्चितः ॥ ९० ॥
ततो निर्गत्य लोकेऽस्मिन् तिर्यक्नामनि सर्वतः ।
चिर बभ्रम्यमाणोऽयं दुःखराशिमुपाश्नुते ॥ ९१ ॥
अथापि भागधेयस्य महतः खलु योगतः ।
वैमानिकेषु देवत्वं लब्ध्वा दुःखं व्रजत्यसौ ॥ ९२ ॥
तत्रेतरेषां देवानामतिवृद्धर्द्धिदर्शनात् ।
अभ्यसूयावशान्नित्यं सुदुःखी भवति ध्रुवम् ॥ ९३ ॥
आयुरन्ते च मालाया राजन्त्या धमनीधमे ।
म्लानत्वाद् दुःखजालेन भाविभोगाभिकाङ्क्षया ॥९४॥
आकुलाकुलचित्तत्वाद् बद्धदुष्कर्मसंचयः ।
एकाक्षेपु समुत्पद्यानन्तदुःखमुपाश्नुते ॥ ९५ ॥

अर्थ—यदि कदाचित् मन्दकषायसे भवनवासी, व्यतर और ज्योतिष्क देवोमे देवत्व पदसे सुशोभित होता है अर्थात् उत्पन्न होता है तो वहाँ भी निरन्तर भोगोमे निमग्न रहनेसे सदा दुष्कर्मोंका बन्ध होते रहनेके कारण दु खी होता है। यद्यपि वहाँ क्रीड़ा करती हुई देवियोसे सहित होता है तथापि इच्छाओकी बहुलता और इष्ट पदार्थोंकी अल्पता होनेसे चिरकाल तक खेदको प्राप्त होता रहता है। वहाँसे निकलकर इस मध्यम लोकमे परिभ्रमण करता हुआ दु खसमूहको प्राप्त होता है ॥८८-९१॥

यदि किसी महान् भाग्यके उदयसे वैमानिक देवोमे भी उत्पन्न होता है तो वहाँ भी दु खको प्राप्त होता है। वहाँ दूसरे देवोकी बडी-बड़ी

ऋद्धियो—विभूतियोको देखकर ईर्ष्यावश निरन्तर दु खी होता है। आयु-के अन्तमे जव कण्ठमे सुशोभित रहनेवाली माला म्लान हो जाती है तब अत्यन्त दु खी होता है और आगामी भोगोकी इच्छासे अत्यन्त व्याकुल होकर खोटे कर्मसमूहका वन्ध करता है तथा उसके फलस्वरूप एकेन्द्रियो-मे उत्पन्न होकर अनन्त दु खको प्राप्त होता है। भावार्थ—आर्तध्यानके कारण दूसरे स्वर्ग तकके देव एकेन्द्रियोमे जन्म ले सकते हैं और बारहवें स्वर्ग तकके देव पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हो सकते है ॥९२-९५॥

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवके चतुर्गति सम्बन्धी दु खोका वर्णन कर उसकी सामान्य प्रवृत्तिका वर्णन करते है—

एव द्रव्य च क्षेत्र च कालभावौ भव तथा।
आजवजवमध्येऽस्मिन् परिवर्तनपञ्चकम् ॥ ९६ ॥
कुर्वतोऽनन्तकालेन निजाप्राप्त्या ह्यनारतम्।
उन्मत्तस्येव मूढस्येवोत्कीर्णस्येव केनचित् ॥ ९७ ॥
आहतस्येव चौरेणाविष्टस्येव दैत्यतः।
चित्रितस्येव दीर्णस्येव स्खलितस्येव दैवतः ॥ ९८ ॥
क्रुध्यतो मानयुक्तस्य मायाधारस्य लोभिनः।
वायुरोगाभिभूतस्य लोकस्येव कदाचन ॥ ९९ ॥
हसतो रोदतश्चापि मूकीभवतः क्वचित्।
क्वचिच्च जल्पतः किञ्चित् किञ्चिद्वै कुप्यतः क्वचित् ॥१००॥
क्वचिद्रागाभिभूतस्य क्वचिद् द्वेषविधायिनः।
क्वचिच्छोकभराक्रान्तचेतसा खिद्यतः क्वचित् ॥१०१॥
पुमांस रममाणस्य ललनां वाञ्छतः क्वचित्।
कुत्रचिच्च तयोर्द्वन्द्वमिच्छतो जातुचित्खलु ॥१०२॥
वातव्याधिधरस्येव भिद्यमानाङ्गसहतेः।
मिथ्यादृशः पर दुख केन व्यावर्ण्यते भुवि ॥१०३॥

अर्थ—इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव निज-शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धि न होनेसे अनन्तकालसे इस ससारमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परिवर्तनोको कर रहा है। यह कभी उन्मत्तके समान, कभी किसीके

के द्वारा उकेरे हुएके समान, कभी चोरोसे लुटे हुए के समान, कभी पिशाचग्रस्तके समान, कभी चित्रलिखितके समान, कभी विदीर्णके समान, कभी भाग्यसे स्खलितके समान, कभी क्रोध करता है, कभी अहकार करता है, कभी माया करता है, कभी लोभ करता है, कभी वायुरोगसे आक्रान्त मनुष्यके समान हँसता है, कभी रोता है, कभी मौन रहता है, कही कुछ निरर्थक बोलता है, कही किसीसे कुछ कोप करता है, कही रागसे अभिभूत होता है, कही द्वेष करता है, कही मनको शोकसे आक्रात करता है, कही डरता है, कही स्त्रीपर्यायमे पुरुषके साथ रमण करता है, कभी पुरुषपर्यायमे स्त्रीकी इच्छा करता है, कभी नपुसकपर्यायमे स्त्री-पुरुष दोनोकी इच्छा करता है। इस तरह जिसका अग-अग दु ख रहा है ऐसे वातरोगसे पीडित मनुष्यके समान यह मिथ्यादृष्टि निरन्तर दु खी रहता है। परमार्थसे पृथिवीपर इसके दु खका वर्णन कौन कर सकता है ? ९६-१०३ ॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीव इस लोकभय आदि सात भयोसे आक्रान्त रहता है, यह दिखाते हैं—

अत्र जन्मनि भोगानामिष्टानां मम जातुचित् ।
हानिर्नैव कुतोऽपि स्यादेवं चिन्तयति ध्रुवम् ॥ १०४ ॥
माभून्नाम परत्रापि भोगानां मम लेशतः ।
भङ्गो, भीतिमहो नित्यमासाद्येति प्रखिद्यते ॥ १०५ ॥
देहमेव निज बुद्ध्वा मूर्तिमन्त जडं तथा ।
हन्त ध्यायति लोकोऽय तद्घात-प्रतिघातनम् ॥१०६॥
न भवेद् वेदना काचित्प्राणनाशकरी मम ।
इत्थं चिन्तामवाप्नोति वहिरात्मशिरोमणिः ॥१०७॥
माता नास्ति पिता नास्ति सैन्य नास्ति दृढं मम ।
कुतो रक्षा प्रजायेत ममेत्येव विषीदति ॥१०८॥
देहनाशेन मे नाशो नियमेन भविष्यति ।
इति भ्रान्त्या सदा मृत्योर्बिभेति क्षतदर्शनः ॥१०९॥
अयं प्रासादपृष्ठो वा भित्तीनां च कदम्बकम् ।
आश्रितः पादपश्चायं सघनं गगनं नु वा ॥११०॥

पतित्वा मम मूर्धानं भिन्द्यान्नाम यदा तदा ।
दुर्भिक्षो वा प्रजायेत सकले च महीतले ॥१११॥
ईतिव्याप्तो नु वा लोको भीत्याक्रान्तो नु वा क्वचित् ।
भवेच्चेत्तत्र किं मे स्यादित्येवं हि विषीदति ॥११२॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर ऐसा विचार करता है कि इस जन्ममे मुझे इष्ट भोगोकी हानि किसी भी कारण न हो ॥१०४॥ परलोकमे भी मेरे भोगोका लेशमात्र भी अभाव न हो, इस प्रकार परलोकभयको प्राप्तकर यह जीव खेदको प्राप्त होता है ॥१०५॥ मूर्तिमान् जड शरीरको ही आत्मा मानकर यह जीव ऐसा ध्यान करता है कि कोई इसका घात-प्रतिघात न करे । इस प्रकार अगुप्तिभयसे दु खी होता है ॥१०६॥ मुझे प्राणोका नाश करनेवाली कोई वेदना न हो, इस प्रकारकी चिन्ता मिथ्या-दृष्टि जीव निरन्तर करता है ॥१०७॥ मेरी माता नही है, पिता नही है और बलवती सेना मेरे पास नही है, फिर मेरी रक्षा कैसे होगी, इस प्रकार अरक्षक भयका आश्रय लेकर यह जीव विषाद करता है ॥१०८॥ शरीरके नाशसे मेरा नाश नियमसे हो जायगा, इस प्रकारकी भ्रान्ति द्वारा मिथ्यादृष्टि जीव मृत्युसे सदा डरता रहता है ॥१०९॥

यह मकानकी छत, यह दीवालोका समूह मेरे द्वारा आश्रित यह वृक्ष अथवा मेघ सहित यह आकाश गिरकर मेरा शिर जब तब फोड़ सकता है । समस्त पृथिवीतलपर दुर्भिक्ष पड जाय, अथवा यह ससार ईतिभीतिसे व्याप्त हो जाय, तो मेरा क्या होगा ? इस प्रकार आकस्मिक भयका विचारकर यह मिथ्यादृष्टि जीव दु खी होता है ॥११०–११२॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीव, सशय, काक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुप-गूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना इन आठ दोषोका आश्रय होता है, यह कहते हैं —

दर्शनज्ञानवृत्तानि सम्यक्पदयुतानि वै ।
मोक्षमार्गो भवेदेवाहोस्विन्मुग्धप्रवञ्चनम् ॥११३॥
तपसा क्रियमाणेन कर्मणां निर्जरा ननु ।
जायते वा न वा क्लेशकारण तपसां चयः ॥११४॥
अस्ति मोक्षोऽपि नाकोऽपि नरकोऽपि भयङ्करः ।
ईश्वरो वा समीचीनो मिथ्या वा तत्प्रपञ्चनम् ॥११५॥

मृतात्पश्चात्पुनर्जातमात्मानं च तमेव हि ।
दृष्टवान् कः कदेत्येवं संशेते हतदर्शनः ॥११६॥
तपस्तप्त्वा व्रत कृत्वानुष्ठान च विधाय तत् ।
वणिजामिव सार्थोऽयं तत्फलं जातु काङ्क्षति ॥११७॥
जलप्रक्षालनाभावात्कच्चर वहिरङ्गतः ।
मुनीनां विग्रहं दृष्ट्वा ग्लानिभावं दधात्यसौ ॥११८॥
मिथ्यामतेः कुमन्त्रेषु तन्त्रेषु च वचःसु च ।
दृष्ट्वा हन्त चमत्काराभासं मूढो भवत्यसौ ॥११९॥
अहो मात्सर्यशालित्वादखिलं परदूषणम् ।
ब्रवीत्यसौ सदा स्वस्य गुणाभासं च सर्वतः ॥१२०॥
कुतश्चित्कारणाद् धर्माच्च्युतं चापि निजं परम् ।
व्रणेषु क्षारमाकीर्य भृशं पातयति ध्रुवम् ॥१२१॥
हन्त हन्त कलिं कृत्वा कषायोद्रिक्तचेतसा ।
ध्रुवं धर्मात्मजीवानां कुलं प्रद्वेष्टि सन्ततम् ॥१२२॥
विद्यागारविनाशेन शास्त्रागारस्य रोधतः ।
मिथ्याप्रभावनाभिश्च प्रतिकूलप्रवृत्तिभिः ॥१२३॥
मिथ्यातपो-वचोजाल-वाणिज्यादिविधानकैः ।
विगीतैः सतत सद्भिर्धर्मं दूषयति ध्रुवम् ॥१२४॥

अर्थ—'निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके मार्ग है अथवा भोले लोगोको धोखा देना मात्र है। किये गये तपसे कर्मों- की निर्जरा होती है या तप मात्र क्लेशका कारण है। मोक्ष भी है, स्वर्ग भी है, भयकर नरक भी है और शुद्धात्मा रूप समीचीन ईश्वर भी है या उनका मिथ्या विस्तार है ? मरनेके बाद उत्पन्न हुए आत्माको कब किसने देखा है ?' मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार सशय करता रहता है ॥११३-११६॥ जिस प्रकार व्यापारियोका समूह व्यापारकर तत्काल उसका फल चाहता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव तप तपकर, व्रत धारणकर और अनुष्ठानकर कभी उसका फल चाहता है। तात्पर्य यह है कि भोगोपभोग- की आकाड्क्षासे यह व्रतादिक करता है ॥११७॥ जल स्नानका अभाव

होनेके कारण बाह्यरूपे मलिन दिखने वाले मुनियोके शरीरको देखकर यह ग्लानि करता है ॥११८॥ मिथ्यादृष्टि जीवोके कुमन्त्रो, तन्त्रो अथवा वचनोमे चमत्काराभास देखकर यह भ्रान्त हो जाता है ॥११९॥ आश्चर्य है कि यह मात्सर्यसे सहित होनेके कारण दूसरोके दोष और अपने थोथे गुणोको सर्वत्र सदा कहता फिरता है ॥१२०॥ यदि कोई व्यक्ति किसी कारण धर्मसे च्युत हो जाता है तो यह घावपर नमक छिडककर उसे बिलकुल गिरा देता है ॥१२१॥ बडे दु खकी बात है कि यह कषायाकुलित चित्तसे कलह उत्पन्नकर धर्मात्मा जीवोके समूहके प्रति निरन्तर द्वेष रखता है ॥१२२॥ विद्यालयोके विनाशसे, सरस्वतीसदनोको बन्द करनेसे, मिथ्या प्रभावनाओसे, प्रतिकूल आचरणोसे, मिथ्यातप, वचनसमूह और व्यापार आदिके द्वारा तथा सत्पुरुषोकी निन्दा आदिके द्वारा धर्मको दूषित करता है अर्थात् अपनी खोटी प्रवृत्तियोसे धर्मको कलङ्कित करता है ॥१२३-१२४॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीवके ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ वस्तुओको लेकर सदा मद रहा करता है, यह कहते हैं—

धर्मे व्याकरणे कोशे न्याये साहित्यसंगमे ।
वादे नादे च सग्रामे को वा मे समतामियात् ॥१२५॥
अह कलाकुलावासः पण्डिताखण्डलोपमः ।
अहं सर्वज्ञकल्पोऽस्मि को वा सर्वज्ञनामभाक ॥१२६॥
को वा बृहस्पतिश्चापि का वा देवेन्द्रपद्धतिः ।
स देवानां प्रियः कस्मात्कविः पूज्यो मनस्विनाम् ॥१२७॥
इमे वराकाः किं मेऽग्रे जानन्त्यद्यतना इव ।
एव भङ्गुरमत्यल्पमाकुलत्वविधायकम् ॥१२८॥
क्षायोपशमिक बोध लब्ध्वा मानं करोत्यसौ ।
न वयः कृतमज्ञत्व विज्ञत्वं चापि विद्यते ॥१२९॥
तत्तु कर्मकृत नून नैव जानाति जातुचित् ।
इत्थ ज्ञानमदं कृत्वा बम्भ्रमीति भवे भवे ॥१३०॥
अहो मदीयपादान्त राजानोऽपि निरन्तरम् ।
किङ्करा इव सेवन्ते किं मे नाम दुरासदम् ॥१३१॥

पिता मे वर्तते भूपोऽहश्च तस्य प्रिय सुतः ।
जाते मयापराधानां शते को नु निवारयेत् ॥१३२॥
मातुलो मे महीकान्तः कान्तालापविराजित ।
भागिनेये महाभाग्ये मयि प्रीतिधरो भुवि ॥१३३॥
कश्चक्री कः सुरो नागो को वा विद्याधरो रविः ।
ममाग्रे नाम सर्वेऽपि स्थातुं नैव भवन्ति हि ॥१३४॥
अहमृद्धीश्वरो जातस्तपसां संविधानतः ।
अयं तपस्यन्नो प्राप्त ऋद्धिमल्पतरामपि ॥१३५॥
अहमातापनं ग्रीष्मे वर्षायोगं च प्रावृषि ।
हेमन्ते हिमयोगश्च करोम्यत्र न चेतरः ॥१३६॥
रूपेण जितमारोऽहं लावण्यलवणोदधिः ।
इमे मेऽग्रे न शोभन्ते शशिनस्तारका इव ॥१३७॥
एवमुन्नीतनेत्राभ्यामात्मान प्रोन्नतं परम् ।
अमन्देतरमेवेह भुवने पश्यति ध्रुवम् ॥१३८॥
अन्यान् श्रेष्ठगुणाधारान् तुच्छानेव हि मन्यते ।
मिथ्यात्वाख्यमहानागगरलेनाभिमूर्च्छितः ॥१३९॥

अर्थ—धर्म, व्याकरण, कोश, न्याय, साहित्य, वाद-विवाद, शब्दोच्चारण और सग्राममे कौन मनुष्य मेरी समताको प्राप्त हो सकता है ? मै समस्त कलाओका कुलभवन हूँ, पण्डितोमे इन्द्रके समान हूँ, मै सर्वज्ञ तुल्य हूँ, अथवा सर्वज्ञ है ही कौन ? बृहस्पति क्या है ? इन्द्रकी पद्धति क्या है ? वह मूर्ख शुक्र मनस्वी मनुष्योका पूज्य कैसे हो सकता है ? ये बेचारे मेरे सामने जानते ही क्या हैं ? ये मानो आजके बालक है। इस प्रकार आकुलताको उत्पन्न करने वाले अत्यन्त अल्प क्षायोपशमिक ज्ञानको प्राप्तकर यह अहकार करता है। अज्ञानता और विज्ञता अवस्थाकृत नही है अर्थात् अल्प अवस्थावाले भी ज्ञानी होते है और अधिक अवस्था वाले भी अज्ञानी होते है। इस तरह ज्ञानका मद कर यह जीव भव-भवमे भ्रमण करता है ॥१२५-१३०॥

अहो ! राजा लोग भी किङ्करोके समान मेरे चरणसमीपकी सेवा करते है, मुझे दुर्लभ क्या है ? ॥१३१॥ मेरे पिता राजा हैं और मैं उनका

प्रिय पुत्र हू। अत सैकडो अपराध होनेपर भी कौन रोक सकता है? ॥१३२॥ मेरे मामा मधुर भाषणसे सुशोभित राजा हैं और मुझ भाग्यशाली भानेजपर अत्यधिक प्रीति रखते है ॥१३३॥ चक्रवर्ती क्या है? सुर, नाग, विद्याधर अथवा सूर्य कौन है? ये सब मेरे आगे खडे भी नही हो सकते है ॥१३४॥ तप करनेसे मैं ऋद्धियोका स्वामी हो गया और यह तपस्या करता हुआ थोडी भी ऋद्धिको प्राप्त नही कर सका है ॥१३५॥ मै ग्रीष्म ऋतुमे आतापनयोग, वर्षा ऋतुमे वर्षायोग और हेमन्त ऋतुमे शीतयोग धारण करता हूँ। मेरे समान अन्य कोई योग धारण नही करता है ॥१३६॥ मैं रूपके द्वारा कामको जीतनेवाला हूँ, सौन्दर्यका सागर हूँ, मेरे आगे ये सब चन्द्रमाके आगे नक्षत्रोके समान शोभित नही होते हैं ॥१३७॥ इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, बडप्पनसे परिपूर्ण नेत्रोके द्वारा अपने आपको ससारमे बहुत बड़ा मानता है और दूसरे गुणी मनुष्योको तुच्छ समझता है। क्या करे बेचारा मिथ्यात्वरूपी महाभुजङ्गके विषसे मूर्च्छित जो हो रहा है ॥१३८-१३९॥

आगे मिथ्यादृष्टि जीवके तीन मूढताओका प्रकोप रहता है, यह कहते हैं—

भागीरथीवगाहेन प्रयागे पितृदानतः।
काश्यां मरणकार्येण रेवायामवगाहनात् ॥१४०॥
पत्यौ मृते सतीभावात्पर्वतात्पतनात्तथा।
हतबुद्धितया मुक्ति मन्यतेऽय निरन्तरम् ॥१४१॥
पूर्वमुक्त कुदेव च कुगुरु च कुधर्मकम्।
पुत्रादिलाभलोभेन वन्दतेऽसौ निसर्गतः ॥१४२॥

अर्थ—गङ्गामे अवगाहन करनेसे, प्रयागमे पितृदान करनेसे, काशीमे मरण होनेसे, नर्मदामे प्रवेश करनेसे, पतिके मर जानेपर सती होनेसे और पर्वतसे गिरनेसे यह मिथ्यादृष्टि निर्बुद्धि होनेके कारण निरन्तर मुक्ति मानता है। पहले कहे हुए कुदेव, कुगुरु और कुधर्मकी पुत्रादिकी प्राप्तिके लोभसे स्वभावत वन्दना करता है—उन्हे भक्तिका स्थान समझ उनकी भक्ति आदि करता है। इस प्रकार लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढतामे फँसा रहता है ॥१४०-१४२॥

आगे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति किसे होती है, यह कहते है—

प्रत्यासन्नभवस्याथ भव्यस्यैव विवेकिनः।
पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्त-संज्ञित्वाभ्यां विशुम्भतः ॥१४३॥

कदाचिद् भागधेयेन महतां हि महीयसा ।
प्रतिक्षण प्रसर्पन्त्या विशुद्धया निजकर्मणाम् ॥१४४॥
बद्धहीनस्थितेः पूर्वस्थितानामपि शुद्धितः ।
कृतमन्दस्थितेस्तस्य भेदविज्ञानशालिनः ॥१४५॥
लब्धिपञ्चकलाभेन सम्यक्त्वमुपजायते ।
मिथ्यात्वादिकसप्तानां कर्मणामुपशान्तितः ॥१४६॥

अर्थ—जिसका ससार अल्प रह गया है, जो स्वपरविवेकसे सहित है, पञ्चेन्द्रिय है, पर्याप्तक और सज्ञीपनेसे सुशोभित है ऐसे किसी भव्य जीवके बहुत भारी पुण्योदयसे कदाचित् प्रतिक्षण बढने वाली विशुद्धिके कारण जब नवीन बध्यमान कर्मोंकी स्थिति हीन अर्थात् अधिकसे अधिक अन्त.कोडाकोडी सागर प्रमाण बँधती है और सत्तामे स्थित कर्मोकी स्थिति भी इसीके भीतर रह जाती है तब उस भेदविज्ञानीके पाँच लब्धियोकी प्राप्तिपूर्वक मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोके उपशमसे सम्यग्दर्शन होता है ॥१४३-१४६॥

विशेषार्थ—यहाँ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति कब और किस जीवके होती है इसकी आगमानुसार चर्चा करते हैं—मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके है—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि । जिसे आजतक कभी सम्यग्दशन प्राप्त नही हुआ है वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि है । अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके मोहनीय कर्मकी छब्बीस प्रकृतियोकी सत्ता रहती है क्योकि दर्शनमोहकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति, इन तीन प्रकृतियोमेसे एक मिथ्यात्वप्रकृतिका ही बन्ध होता है, शेष दोका नही । प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होनेपर उसके प्रभावसे यह जीव मिथ्यात्वप्रकृतिके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिके भेदसे तीन खण्ड करता है । इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीवके ही सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता हो सकती है । सादि मिथ्यादृष्टि जीवोमे मोहनीय कर्मकी सत्ता के तीन विकल्प बनते है—एक अट्ठाईस प्रकृतियोकी सत्तावाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियो की सत्ता वाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियोकी सत्ता वाला । जिस जीवके दर्शनमोहकी तीनो प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियोकी सत्ता वाला है । जिस जीवने सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना कर ली है वह सत्ताईस प्रकृतियोकी सत्तावाला है और जिसने

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी भी उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियोकी सत्ता वाला है।

सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार करते है, क्योकि अनादि मिथ्यादृष्टिको सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशमके भेदसे दो प्रकारका है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की चर्चा है। द्वितीयोपशमकी चर्चा आगे की जायगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन सञ्ज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक भव्य जीवको ही होता है अन्यको नही। भव्योमे भी उसीको होता है जिसका ससार भ्रमणका काल अर्धपुद्गलपरावर्तनके कालसे अधिक बाकी नही है। लेश्याओके विषयमे यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चोके तीन शुभ लेश्याओमेसे कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियोके जहाँ जो लेश्या बतलाई है उसीमे औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिए गोत्रका प्रतिबन्ध नही है अर्थात् जहाँ उच्च नीच गोत्रोमेसे जो भी सम्भव हो वहाँ उसी गोत्रमे सम्यग्दर्शन हो सकता है।

कर्मस्थितिके विषयमे चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मोकी स्थिति अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण हो तथा सत्तामे स्थित कर्मोकी स्थिति सख्यात हजार सागर कम अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण रह गई हो, वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थितिबन्ध पडनेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता। इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग चतु:-स्थानपतित होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहाँ इतनी विशेषता और भी ध्यानमे रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टिके आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गकी सत्ता होती है उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नही होता है। अनादि मिथ्या-दृष्टिके इनकी सत्ता होती ही नही है। इसी प्रकार प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव दूसरे प्रथमोपशम सम्यक्त्वको तब तक प्राप्त नही कर सकता जबतक कि वह वेदककालमे रहता है। वेदककालके भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो वह वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है।

वेदककालके विषयमे यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रिय पर्यायमे भ्रमण करता है वह संज्ञी पञ्चे-

न्द्रिय पर्याप्तक होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियोकी स्थिति एक सागरसे कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो उसे नियमसे वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जीव विकलत्रयमे परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्वकी स्थिति पृथक्त्वसागर शेष रहने तक उसका वेदक काल कहलाता है। इस कालमे यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो नियमसे वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन-को ही प्राप्त होता है। हाँ, सम्यक्त्व प्रकृतिकी अथवा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति—दोनोकी उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुन. सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके सर्वप्रथम प्रथमो-पशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादि मिथ्यादृष्टियोमे २६ या २७ प्रकृतियोकी सत्ता वाले जीवके दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है किन्तु २८ प्रकृतियोकी सत्ता वाले जीवको वेदक कालके भीतर दूसरी वार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक—क्षायोपशमिक ही होता है। हाँ, वेदक कालके निकल जानेपर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता रखने वाला सज्ञी पचे-न्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जागृत, साकार उपयोगयुक्त चारो गति-वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करनेके सन्मुख होता है तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण, इन पाच लब्धियोको प्राप्त होता है। इनमे करणलब्धिको छोड़कर शेष चार लब्धियाँ सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनोको प्राप्त होती है परन्तु करणलब्धि भव्य जीवको ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होनेपर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके योग्य भावोको करण कहते है। उनके अध.प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीन भेद होते हैं।

इन तीन करणोमेसे पहले अधःप्रवृत्तकरणमे चार आवश्यक होते है—(१) समय-समयमे अनतगुणी विशुद्धता होती है। (२) प्रत्येक अन्तर्मु-हूर्तमे नवीन बन्धकी स्थिति घटती जाती है। (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग अनन्तगुणा बढता जाता है और (४) प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग अनन्तवाँ घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरणमे निम्नलिखित आवश्यक

और होते है—(१) सत्तामे स्थित कर्मोंकी स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमे उत्तरोत्तर घटती जाती है अत स्थितिकाण्डक घात होता है। (२) प्रत्येक अन्तमुहूर्तमे उत्तरोत्तर पूर्व कर्मका अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डक घात होता है और (३) गुणश्रेणीके कालमे क्रमसे असख्यात गुणित कर्म निर्जराके योग्य होते है इसलिये गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरणमे गुणसक्रमण नामका आवश्यक करण नही होता, किन्तु चारित्रमोहका उपशम करनेके लिये जो अपूर्वकरण होता है उसमे होता है। अपूर्वकरणके बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरणके कालके सख्यातवें भाग होता है। इसमे पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होनेपर अन्तरकरण[1] होता है अर्थात् अनिवृत्ति करणक कालके पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्मके निषेकोका अन्तर्मुहूर्तके लिये अभाव होता है। अन्तरकरणके पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरणके द्वारा अभावरूप किये हुए निषेकोके ऊपर मिथ्यात्वके जो निषेक उदयमे आने वाले थे उन्हे उदयके अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धीचतुष्कको भी उदयके अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदय योग्य प्रकृतियोका अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम समयमे मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिकमे अनिवृत्तिकरणके चरम समयमे तीन खण्ड करता है, ऐसा सूचित किया है[2]। तदनन्तर चरम समयमें मिथ्यादर्शनक तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग् मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियो तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया,

---

१. किमन्तरकरण नाम ? विवक्खिय कम्माण हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतोमुहुत्तमेत्ताण ट्ठिदीण परिणामविसेसेण णिसेगाणामभावीकरणमिदि भण्णदे। जयधवल अ० प्र० ९५३।

अर्थ—अन्तरकरणका क्या स्वरूप है ? उत्तर—विवक्षित कर्मोकी अधस्तन और उपरिम स्थितियोको छोडकर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितियोंके निषेकोका परिणामविशेषके द्वारा अभाव करनेको अन्तरकरण कहते है।

२ ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शन त्रिधा विभक्त करोति—सम्यक्त्व मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व चेति। एतासा तिसृणा प्रकृतीना अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाना चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकाल प्रथम सम्यक्त्व भवति।

—त०वा० ९-१, पृष्ठ ५८९, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण।

लोभ इन चार प्रकृतियोका, इस प्रकार सात प्रकृतियोके उदयका अभाव होनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (धवला पुस्तक ६) के निम्नलिखित सूत्रोमे भो प्रकट किया गया है—'ओहट्टेदूण मिच्छत्त तिण्णि भाग करेदि सम्मत्त मिच्छत्त समामिच्छत्त ॥७॥

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्मके तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ् मिथ्यात्व।

दसणमोहणीय कम्म उवसामेदि ॥८॥

अर्थ—मिथ्यात्वके तीन भागकर पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्मको उपशमाता है।

आगे सम्यग्दर्शनका माहात्म्य बतलानेकी प्रतिज्ञा करते है—

अस्य भेदादिक तावद् गदिष्यामः सविस्तरम्।
गदामः साम्प्रत तस्य किञ्चिन्माहात्म्यमान्तरम् ॥१४७॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनके भेद आदिका आगे विस्तारसे कथन करेगे। इस समय उसका कुछ आन्तरिक महत्त्व कहते है ॥१४७॥

अब सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते है—

इदं सद्दर्शन नाम यस्मिन्नासादिते खलु।
ससारसिन्धुमग्नोऽपि निमज्जत्येव नो सुधी ॥१४८॥
प्रज्वलद्भवहव्याशसपरीतोऽपि पण्डितः।
हिमानीकुण्डमध्याप्त इव शीतायते चिरम् ॥१४९॥
दुष्टव्याधिशताकीर्णो जीर्यमाणाङ्गसंहतिः।
मुक्तव्याधिरिव स्वैर चेष्टतेऽयं जनो मुदा ॥१५०॥
पुत्रमित्रकलत्राणां वियोगेऽपि सुदुर्भरे।
सर्पसिंहसपत्नानां योगे चापि न खिद्यते ॥१५१॥
अलं, पाताललोकेऽपि पातालपुरवासिभिः।
वेलां वेलामहो तीव्रैस्ताडयमानोऽपि ताडनैः ॥१५२॥
सर्वं कर्मकृत बाधं बोध किञ्चिन्न ताम्यति।
नाकेऽपि नाकिनां भोगे रमते नैव जातुचित् ॥१५३॥
असख्येयविकल्पेषु कषायोद्रेकधामसु।
स्वभावादस्य चेतोऽपि शिथिलं जायतेतराम् ॥१५४॥

नानादुःखसमाकीर्णादनित्यात्परवस्तुनः ।
ससारात्सततं चेतः सविग्न जायतेऽस्य वै ॥१५५॥
एकेन्द्रियादिजीवानामशातीभवतां चये ।
अनुकम्पासमाकीर्णं स्वान्तमस्याभिजायते ॥१५६॥
आप्ते च परलोके च शास्त्रे च व्रतधारणे ।
आस्तिक्याभियुतः शश्वच्छ्रद्धाधारी विराजते ॥१५७॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन वह वस्तु है कि जिसके प्राप्त होनेपर यह ज्ञानी जीव, ससाररूपी सागरमे मग्न होता हुआ भी निमग्न नही होता है। भावार्थ—जिस जीवको एक बार भी सम्यग्दर्शन हो जावे और पश्चात् सम्यग्दर्शनसे च्युत होकर अर्धपुद्गल परावर्तन तक ससारमे भ्रमण करता रहे तो भी वह नियमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥१४८॥ जलती हुई ससार-रूपी अग्निसे व्याप्त होनेपर भी भेदविज्ञानी-सम्यग्दृष्टि जीव बहुत बडे बर्फके कुण्डके बीच प्राप्त हुए के समान चिरकाल तक शीतलता—शान्तिका अनुभव करता है ॥१४९। सैकडो दुष्ट बीमारियोंसे जो जकडा हुआ है तथा जिसके अङ्गोका समूह जीर्ण हो रहा है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव बीमारियोसे मुक्त हुए के समान हर्षपूर्वक स्वेच्छानुसार चेष्टा करता है ॥१५०॥ पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि इष्टजनोका बहुत भारी वियोग, तथा सर्प, सिह और शत्रु आदि अनिष्ट पदार्थोका सयोग होनेपर भी यह जीव खेदखिन्न नही होता है ॥१५१॥ अधिक क्या कहा जावे, पाताललोक—नरकलोकमे भी नारकियोके द्वारा प्रतिक्षण तीव्रताडनो—वज्रप्रहारोके द्वारा ताडित होता हुआ भी यह सम्यग्दृष्टि जीव, उस समस्त दु खको कर्मकृत जानता हुआ दुखी नही होता है। इसी प्रकार स्वर्गमे भी देवोके भोगोमे कभी आनन्दित नही होता है ॥१५२-१५३॥

असख्यात विकल्पोसे युक्त कषायोदयके स्थानोमे इसका चित्त स्वभावसे अत्यन्त शिथिल हो जाता है अर्थात् वह प्रशमगुणका धारक होता है ॥१५४॥ नानादु खोसे व्याप्त, अनित्य तथा परवस्तु स्वरूप ससारसे इसका चित्त निश्चयपूर्वक सविग्न होता है। अर्थात् वह संवेगगुणका धारक होता है ॥१५५॥ निरन्तर दु खका अनुभव करनेवाले एकेन्द्रियादि जीवोके समूहपर इसका चित्त अनुकम्पासे युक्त होता है। अर्थात् अनु-कम्पा गुणसे युक्त होता है ॥१५६॥ सम्यग्दृष्टि जीव आप्त, परलोक,

शास्त्र तथा व्रतके धारण करनेमे निरन्तर श्रद्धासे युक्त होता हुआ सुशोभित रहता है अर्थात् आस्तिक्य गुणसे युक्त होता है ॥१५७॥

आगे और भी सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हैं—

गृहस्थावासलीनोऽपि चारित्रावरणोदयात् ।
सत्य तत्र न लीनोऽयं जले पद्मपलाशवत् ॥१५८॥
सम्यग्दृष्टिरयं तावदबद्धायुष्कबन्धनः ।
तिरश्चां नारकाणां च योनिं दुष्कर्मसाधिताम् ॥१५९॥
क्लीबत्व ललनात्वं वा दुष्कुलत्व च दुःस्थितिम् ।
अल्पजीवितवत्त्वं च भवनत्रिकवासिताम् ॥१६०॥
दारिद्र्य विकलाङ्गत्वं कुक्षेत्रं च कुकालकम् ।
प्रतिष्ठाश्रयवत्त्वं च प्राप्नोत्येव न जातुचित् ॥१६१॥
बद्धायुष्कोऽपि नरकं प्रथम नातिवर्तते ।
भोगभूमिजतिर्यक्त्वं चापि सम्यक्त्वसंयुतः ॥१६२॥
सम्यग्दर्शनयोगेन बोधो वृत्त च साधुताम् ।
प्राप्नुतस्तद् विना नित्यमाजवजवकारणे ॥१६३॥
सम्यग्दर्शनमित्येतद् हृदयस्य रसायनम् ।
पुण्यवद्भिः समालभ्यमलभ्यञ्च दुरात्मनाम् ॥१६४॥
आत्मनात्मनि सजात सम्यग्दर्शनमात्मनः ।
अस्ति धर्मस्ततो नात्र पर्यायादेरपेक्षता ॥१६५॥
सम्यग्दर्शनसयुक्तास्तिर्यङ्नारकयोनयः ।
मातङ्गास्तरुणा बाला वृद्धा बालाश्च योषितः ॥१६६॥
अव्रतिनोऽपि चारित्रमोहोदयनकारणात् ।
जम्बालाच्छन्नकासारजलसङ्घा इवामलाः ॥१६७॥
सम्यग्दर्शनहीनेन निर्ग्रन्थेनापि योगिना ।
नाप्यते शुद्धसम्यक्त्वसनाथगृहिणस्तुला ॥१६८॥
अपारे भवकूपारे दुःखनक्रसमाश्रिते ।
सम्यग्दर्शनमेवैतत्पोतयानायते चिरम् ॥१६९॥

अर्थ—जिस प्रकार कमलपत्र पानीमे रहता हुआ भी उसमे लीन नही होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहके उदयमे गृहस्थावासमे रहता हुआ भी उसमे लीन नही होता है ॥१५८॥ जिसने आयुका वन्ध नही किया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, पापकर्मसे प्राप्त होनेवाली तिर्यञ्च और नरकगतिको, नपु सकवेद, स्त्रीवेद, नीचकुलता, कष्टमय जीवन, अल्पायु, भवनत्रिक देवोमे उत्पत्ति, दरिद्रता, विकलाङ्गपना, खोटा क्षेत्र, खोटा काल और मानहानिको कभी नही प्राप्त होता है ॥१५९-१६१॥ जिस जीवने सम्यक्त्व होनेके पहले नरकायुका वन्ध कर लिया है वह भी प्रथम नरकसे नीचे नही जाता। इसी प्रकार जिसने सम्यक्त्वके पहले तिर्यञ्च आयुका वन्ध किया है वह भोगभूमिका ही तिर्यञ्च होता है, अन्यत्रका नही। भावार्थ—चारो गतियोकी आयुका वन्ध हो जानेपर सम्यग्दर्शन हो सकता है परन्तु सम्यग्दर्शन हो जानेपर मनुष्य और तिर्यञ्चको नियमसे देवायुका वन्ध होता है और देव तथा नारकीको नियमसे मनुष्यायुका वन्ध होता है। जिस जीवने सम्यक्त्वके पहले नरकायुका वन्ध किया है वह मरकर पहले नरक तक ही जावेगा उससे नीचे नही। और जिसने तिर्यञ्च आयुका वन्ध किया है वह भोगभूमिका ही तिर्यञ्च होता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य या तिर्यञ्चने मनुष्यायुका वन्ध किया है वह भी भोगभूमिका ही मनुष्य होता है। किन्तु मनुष्यायुका वन्ध करनेवाला देव और नारकी कर्मभूमिका मनुष्य होता है ॥१६२॥ सम्यग्दर्शनके सयोगसे ज्ञान और चारित्र सम्यक् व्यवहारको प्राप्त होते हैं। उसके बिना वे निरन्तर संसारके कारण माने जाते है ॥१६३॥ सम्यग्दर्शन, यह हृदयकी वह रसायन है जो पुण्यात्मा जीवोको प्राप्त होती है तथा पापी जीवोको दुर्लभ रहती है ॥१६४॥ यतश्च सम्यग्दर्शन अपने आपके द्वारा अपने आपमे उत्पन्न होता है अत वह आत्माका धर्म है इसमे पर्यायादिक अपेक्षा नही है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन नरकादि चारो गतियोमे हो जाता है। यह जीव, चाहे तिर्यञ्च हो, चाहे नारकी हो, चाहे चाण्डाल, चाहे तरुण हो, चाहे बालक हो, चाहे वृद्ध हो, चाहे लडकी हो, चाहे स्त्री हो—सब सम्यग्दर्शनसे युक्त हो सकते है ॥१६५-१६७॥ चारित्रमोह कर्मके उदयसे जो व्रतधारण नही कर पा रहे हैं वे भी शेवालसे आच्छादित तालाबके जलसमूहके समान निर्मल हैं। भावार्थ—जिस प्रकार किसी तालाबके जलमे ऊपरसे शेवाल आ जानेके कारण वह हरा-हरा दिखाई देता है परन्तु परमार्थसे हरा नही है, स्वच्छ ही है इसी प्रकार यह जीव यद्यपि व्रतधारण नही करनेके

कारण ऊपरसे मलिन जान पडता है तथापि श्रद्धा ठीक होनेसे निर्मल ही होता है ॥१६७॥ सम्यक्त्वसे रहित मुनि, निर्ग्रन्थ होकर भी शुद्ध-सम्यक्त्वसे सहित गृहस्थकी सदृशता प्राप्त नही कर सकता । भावार्थ—करणानुयोगकी अपेक्षा मिथ्यात्वयुक्त द्रव्यलिङ्गी मुनि मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती है और अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती है । मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती मुनिके एक भी प्रकृतिका सवर नही है जबकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थके इकतालीस प्रकृतियोका संवर हो जाता है ॥१६८॥ दुःखरूपी मगरमच्छोसे भरे हुए इस अपार ससार-सागरमे यह सम्यग्दर्शन ही चिरकाल तक जहाजके समान आचरण करता है । भावार्थ—यह सम्यग्दर्शन, तेतीस सागरके लम्बे कालतक व्रत रहित होनेपर भी जीवको सदा के लिये ससारमे निमग्न नही रखता किन्तु सयम प्राप्त कराकर मोक्ष प्राप्त कराता है । आगममे चतुर्थ गुणस्थानका उत्कृष्ट काल तेतीस सागर और अन्तर्मुहूर्त कम एक करोड वर्ष पूर्व बतलाया है । इसके बाद नियमसे सयमकी प्राप्ति कर जीव मोक्षको प्राप्त होता है ॥१६९॥

आगे और भी सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते है—

सम्यग्दर्शनसपन्ना महर्द्धिपरिमण्डिते ।
स्वर्गिणां निचये यान्ति चिरमानन्दसन्ततिम् ॥१७०॥
सम्यग्दर्शनसंभूषासभूषितकलेवरा ।
देवाङ्गनाकदम्बेषु रमन्ते बहुकालकम् ॥१७१॥
सम्यग्दर्शनसूर्येण भव्यचित्तसरोरुहाम् ।
वृन्दं प्रस्फुटितं नित्यं भवेदेव मनोरमम् ॥१७२॥
सम्यग्दर्शनचन्द्रेण चक्षूंषि भविकात्मनाम् ।
चन्द्रकान्तोपलानीव द्रवन्त्येवाचिरेण वै ॥१७३॥
सम्यग्दर्शनसद्भावे सानुभूतिर्हि जायते ।
यस्यां सत्यां समस्तोऽपि विश्वानन्दो न किञ्चन ॥१७४॥
सम्यग्दर्शनमेवेदं चक्रिवर्तिपदं शुभम् ।
निधिरत्नादिसम्पत्तिं भव्येभ्यः प्रददाति च ॥१७५॥
किं बहुना प्रजल्पेन सम्यग्दर्शनमेव तत् ।
मोक्षप्रवेशमार्गस्थाररोद्घाटनतत्परम् ॥१७६॥

इदं सद्दर्शनं येन लब्ध सकृदपि क्वचित् ।
तेनात्र नाम ससारे चिरं ब्रम्भ्रम्यते न हि ॥१७७॥
सर्वथा धन्यमेवेदं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ।
धन्या नरास्तदाधारा: स्वानुभूत्या विराजिता: ॥१७८॥
अतिप्रगाढमिथ्यात्वतमिस्रातामसावृते ।
पञ्चमेऽस्मिन् कलौ काले दुर्लभप्रायमेव तत् ॥१७९॥
लभन्ते केऽपि ये तत्त्व सद्दर्शनमनुत्तमम् ।
बाधावृन्दपरीभूतास्त्यजन्ति द्रुतमेव तत् ॥१८०॥
अपि बाधागणस्त्रीं ये समुत्तीर्य धरन्ति तत् ।
साम्प्रत दर्शनं शुद्ध कथ ते न महस्विनः ॥१८१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे सहित मनुष्य बडी-बडी ऋद्धियोसे सुशोभित देवोके समूहमे चिरकाल तक आनन्दसमूहको प्राप्त होते है ॥१७०॥ जिनका शरीर सम्यग्दर्शनरूपी आभूषणसे विभूषित है ऐसे जीव देवाङ्ग-नाओंके समूहमे बहुत कालतक क्रीडा करते हैं ॥१७१॥ सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यके द्वारा भव्यजीवोके हृदयरूपी कमलोका समूह निरन्तर विकसित होता हुआ नियमसे मनोहर होता है ॥१७२॥ सम्यग्दर्शनरूपी चन्द्रमाके द्वारा भव्यजीवोके नेत्र चन्द्रकान्तमणिके समान नियमसे शीघ्र ही द्रवी-भूत हो जाते है ॥१७३॥ सम्यग्दर्शनके सद्भावमे वह अनुभूति होती है कि जिसके रहते हुए समस्त विश्वका आनन्द कुछ नही है ॥१७४॥

यह सम्यग्दर्शन ही भव्यजीवोके लिए चक्रवर्तीका शुभ पद तथा नौ निधियो और चौदह रत्नोकी सम्पदा प्रदान करता है ॥१७५॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? वह सम्यग्दर्शन ही मोक्षके द्वारपर लगे हुए किवाडोके खोलनेमे तत्पर है ॥१७६॥ जिस जीवने यह सम्यग्दर्शन कही एक बार भी प्राप्त कर लिया है उसे इस ससारमे चिरकाल तक भ्रमण नही करना पडता है अर्थात् वह अर्धपुद्गल परावर्तनके भीतर नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥१७७॥ यह उत्तम सम्यग्दर्शन सब प्रकारसे धन्य है तथा उसके आधार और स्वानुभूतिसे सुशोभित मनुष्य धन्य हैं ॥१७८॥ अत्यन्त सघन मिथ्यात्वरूपी रात्रिके अन्धकारसे आच्छादित इस पञ्चम कलिकालमे वह सम्यग्दर्शन प्राय दुर्लभ है ॥१७९॥ यदि कोई इस श्रेष्ठ-तम सम्यग्दर्शनको प्राप्त होते भी हैं तो वे बाधाओके समूहसे आक्रान्त हो

उसे शीघ्र ही छोड़ देते है ॥१८०॥ जो हजारो बाधाओको पारकर उस शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं वे महस्वी—तेजस्वी क्यो नही है अर्थात् अवश्य है ॥१८१॥

आगे सम्यग्दृष्टि सात भयोसे रहित होता है, यह कहते है—

सम्यग्दर्शनसप्राप्त्या प्राप्तस्वात्मबलः पुमान् ।
इह लोके न कस्माच्चित् किञ्चिन्नाम बिभेति च ॥१८२॥
हृषीकसंघसंभूतं सुखमेतन्न तत्त्वतः ।
तृष्णावृद्धिकरत्वेन प्रत्युत दुःखमेव हि ॥१८३॥
अहं चात्मभव सौख्यं तृष्णानाशकरं शुभम् ।
सर्वथा सतत भुञ्जे सम्यग्दर्शनधारणात् ॥१८४॥
प्रकृष्टवीर्यसंपन्नो मृगेन्द्रो यत्र कानने ।
गच्छति, निर्भयस्तत्र स्वैर क्राम्यति सन्ततम् ॥१८५॥
अस्ति मे दर्शनं पूर्णमात्मनीनबलं ततः ।
यत्र यत्र गमिष्यामि सुखं यास्यामि तत्र वै ॥१८६॥
इत्थंभूतविचारेण लाञ्छितान्तःप्रवृत्तयः ।
सम्यग्दर्शनसंपन्नाः परलोकान्न बिभ्यति ॥१८७॥
अखण्डमरुजं नित्यममन्दानन्दपुञ्जितम् ।
प्रभवन्ति न मां हन्तुमाधिव्याधिशतान्यपि ॥१८८॥
करवालकलापेन प्रज्वलज्ज्वलनार्चिषा ।
भिद्यते दह्यते नापि यथा ह्याकाशमण्डलम् ॥१८९॥
तथा ममायमात्मापि भिन्द्याज्जातु न केनचित् ।
रक्षितोऽहं स्वतश्चैव निश्चयनयतः सदा ॥१९०॥
अमा ममात्मना बद्धो देहः कैरपि कर्हिचित् ।
रक्षितो नाभवन्नो वा भवति प्रभविष्यति ॥१९१॥
अवश्यं नाशशीलेऽस्मिन् स्वरूपाद्व्यतिरेकिणि ।
आत्मन् हठाग्रहस्तेऽयं राजते न हि जातुचित् ॥१९२॥

एव विचारयन् सम्यग्दृष्टी रक्षकसंहतेः ।
अभावान्नो बिभेतीह न परत्रापि कुत्रचित् ॥१९३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे जिसे आत्मबलकी प्राप्ति हुई है ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष इस लोकमे किसीसे भयभीत नही होता है ॥१८२॥ इन्द्रियोंके समूहसे उत्पन्न हुआ यह वैषयिक सुख वास्तवमे सुख नही है किन्तु तृष्णाकी वृद्धि करनेवाला होनेसे दु ख ही है ॥१८३॥ मैं सम्यग्दर्शन धारण करनेसे आत्मोत्थ, शुभ तथा तृष्णाके नाशक सुखका सदा उपभोग करता हूँ ॥१८४॥ प्रकृष्ट बलसे युक्त सिह वनमें जहाँ जाता है वहाँ निर्भय होकर निरन्तर घूमता है ॥१८५॥ मेरे पास सम्यग्दर्शनरूपी पूर्ण आत्मबल विद्यमान है अत. मैं जहाँ जहाँ जाऊँगा वहाँ वहाँ सुखको प्राप्त होऊँगा ॥१८६॥ इस प्रकारके विचारसे जिनकी अन्त करणकी प्रवृत्तियाँ सहित हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव परलोकसे नही डरते हैं ॥१८७॥

मैं अखण्ड हूँ, रोगरहित हूँ, नित्य हूँ तथा बहुत भारी—अनन्त सुखसे सम्पन्न हूँ अत मानसिक और शारीरिक सैकडो पीडाएँ मुझे नष्ट करनेके लिए समर्थ नही हैं । तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव वेदनाजन्य भयसे निर्मुक्त रहता है ॥१८८॥

जिस प्रकार तलवारोके समूह और जलती हुई अग्निकी ज्वालासे आकाश न भिदता है न जलता है उसी प्रकार मेरा यह आत्मा भी किसीके द्वारा कभी भेदा नही जा सकता, जलाया नही जा सकता । मैं तो परमार्थसे सदा अपने आपके द्वारा सुरक्षित हूँ ॥१८९-१९०॥ मेरी आत्माके साथ जो शरीर लगा हुआ है वह कभी किन्हीके द्वारा न तो रक्षित हुआ है, न हो रहा है और न आगे होगा ॥१९१॥ जो अवश्य ही नश्वर है तथा आत्मस्वरूपसे भिन्न है ऐसे इस शरीरमे हे आत्मन् ! तेरा यह हठाग्रह कभी शोभा नही देता ॥१९२॥ ऐसा विचार करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव रक्षकसमूहका अभाव होनेसे न इस भवमे भयभीत होता है और न कही परभवमे भयभीत होता है ॥१९३॥

आगे इसी सन्दर्भमे और भी कहते हैं—

यश्चायं हन्यते विघ्नैः सोऽहं नैव भवाम्यहो ।
योऽहं केनाप्यसौ नूनं हन्यते न च जातुचित् ॥१९४॥
इत्येवंभावनादत्तमानसोऽमितवैभवः ।
सम्यग्दर्शनसयुक्तोऽगुप्तितो न बिभेति वै ॥१९५॥

मरणं नैव मे जातु जनिश्चापि न मे क्वचित् ।
कुतस्तन्मरणाद् भीतिरहो मेऽजनुषोऽमृतेः ॥१९६॥
एवं विचारसंपूर्णचेतसोऽमन्दवृत्तयः ।
मृत्योर्बिभ्यति नैवेह संसारे शुद्धदृष्टय ॥१९७॥
ध्रुवं सत्यमयं नाम नात्मा कैरपि कारणैः ।
हन्यते भिद्यते वापि दह्यते शीर्यते क्वचित् ॥१९८॥
तेन पीनपयोधारासहस्रैश्चापि सन्ततम् ।
मघवा वर्षतु स्वैरमाक्रान्ताखिलभूतलम् ॥१९९॥
दरिद्रजीवसंघात-वैरिणी वनशोषिणी ।
हिमानी विश्वसंसारं नाशयेन्निजशैत्यतः ॥२००॥
ज्वलनो वा ज्वलज्ज्वालाजालकैर्जगतीतलम् ।
ज्वलयेज्जीवजातस्य प्राणघातविधायकः ॥२०१॥
अचलानां च तुङ्गानां शृङ्गोच्चालनतत्परः ।
चलीकृताचलश्चापि पवनः प्रवहेत् सदा ॥२०२॥
अमेघादपि मेघानां मार्गाद् वज्रसहस्रकम् ।
अमोघं निर्गतीभूय समन्ताज्ज्वलयेज्जगत् ॥२०३॥
अन्तर्ज्वालाज्वलद्दुष्टविस्फोटकपदार्थकैः ।
ज्वालामुखनगैः सर्वैररं नश्येदिदं जगत् ॥२०४॥
भूकम्पो भूविदारो वा नाशिताखिलमन्दिरः ।
हतानेकशतप्राणिसंघः संपातयेद् भुवम् ॥२०५॥
अलं बहुप्रजल्पेन प्रलयोऽपि महीतलम् ।
लीनं वा क्षणतः कुर्यादखिलध्वंसनोद्यतः ॥२०६॥
सर्वेऽप्येते न संगत्य ह्यात्मान घ्नन्ति मे क्वचित् ।
अंशतोऽपि ततश्चाहं न बिभेम्यत्र जातुचित् ॥२०७॥
एवं विचारसारेण निर्मलीकृतमानसा ।
आकस्मिकभयात् किञ्चित्सन्तो हंत न बिभ्यति ॥२०८॥

एव सप्तभयातङ्कनिर्मुक्तः शुद्धदृष्टिमान् ।
निःशङ्कश्चेष्टते नूनं सर्वत्रैव च सर्वदा ॥२०१॥

अर्थ—अहो! जो यह विघ्नोंके द्वारा नष्ट होता है वह मै नही हूँ और मै जो हूँ वह कभी किसीके द्वारा नष्ट नही होता। भावार्थ—यह पुद्गल द्रव्यकी पर्यायरूप शरीर ही विघ्नोंके द्वारा नष्ट होता है, वह परमार्थसे मेरा नही है। मै ज्ञायकस्वभाववाला अखण्ड स्वतन्त्र द्रव्य हूँ, शरीरसे भिन्न हूँ। इसे नष्ट करनेकी सामर्थ्य किसीमे नही है ॥१९४॥ इस प्रकारकी भावनामे जिसका मन लगा हुआ है तथा जो अपरिमित आत्मवैभवका धारक है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अगुप्तिभयसे भयभीत नही होता ॥१९५॥

मेरा न कभी मरण होता है और न कही मेरा जन्म होता है। जव मैं जन्म और मरण—दोनोसे रहित हूँ तव मुझे मरणभय कैसे हो सकता है। इस प्रकारके विचारसे जिनके चित्त परिपूर्ण है तथा जो प्रवुद्ध वृत्ति वाले हैं—अर्थात् ज्ञानमय प्रवृत्ति रखते हैं ऐसे शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इस ससारमे मृत्युसे नही डरते हैं ॥१९६–१९७॥

यह ध्रुव सत्य है कि मेरा यह आत्मा कही किन्ही कारणोंके द्वारा न नष्ट होता है, न भेदको प्राप्त होता है, न जलता है और न जीर्ण शीर्ण होता है। इसलिए चाहे मेघ मोटी हजारो जलधाराओंके द्वारा स्वच्छन्दता पूर्वक समस्त पृथिवीतलको व्याप्त करता हुआ निरन्तर वर्षा करे। चाहे दरिद्र जीवोके समूहको दु ख देनेवाली और वनको सुखा देने वाली हिम-पङ्क्ति अपनी ठण्डसे समस्त ससारको नष्ट कर दे। चाहे जीवसमूहके प्राणोका घात करने वाली अग्नि, जलती हुई ज्वालाओकी सन्ततिसे पृथिवीतलको भस्म कर दे। चाहे उन्नत पर्वतोंके शिखरोको विचलित करनेमे समर्थ तथा पृथ्वीको कम्पित कर देने वाला पवन सदा चले। चाहे व्यर्थ न जाने वाले हजारो वज्र मेघरहित आकाशसे निकलकर सब ओर जगत्को भस्म कर दें। चाहे भीतरकी ज्वालाओसे जलते हुए दूषित विस्फोटक पदार्थोंसे सहित ज्वालामुखी पर्वतोके द्वारा यह जगत् शीघ्र ही नष्ट हो जावे। और चाहे समस्त मकानोको ध्वस्त कर देनेवाला तथा प्राणिसमूहका सहारक भूकम्प या भूस्फोटन—भूमिका फट जाना, पृथ्वीको नष्ट कर दे। अथवा अधिक कहनेसे क्या लाभ है? सबके नष्ट कर देनेमे तत्पर प्रलय भी पृथ्वीतलको क्षणभरमे विलीन कर दे। तो भी ये सब मिलकर मेरी आत्माको कही अशरूपमे भी नष्ट करनेको समर्थ

नही हैं इसलिये मै इस जगत्मे कभी भयभीत नही होता हूँ। इस प्रकार-के श्रेष्ठ विचारोसे जिनके हृदय निर्मल है ऐसे सत्पुरुष हर्ष है कि आकस्मिक भयसे कुछ भी नही डरते हैं। इस प्रकार सप्तभयरूपी रोगसे निर्मुक्त सम्यग्दृष्टि जीव, निशङ्क होकर सर्वत्र सर्वदा चेष्टा करता है ॥ १९८-२०९ ॥

अब आगे आठ अङ्गोके द्वारा सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते हुए सर्व प्रथम निःशङ्कित अङ्गका वर्णन करते है—

अथाष्टाङ्गतया तस्य किञ्चिन्माहात्म्यमान्तरम् ।
वक्ष्याचार्यकृतग्रन्थप्रतिपादितरीतितः ॥२१०॥
अन्यथा कथने नाम वक्तुरज्ञानमोहिते ।
सर्वथा निश्चितौ हेतू लोके सर्वत्र सर्वदा ॥२११॥
प्रमाणैर्निश्चित, नैतद् द्वयमर्हद्भगवति ।
तेनोक्ते मूलतः शास्त्रसघे को नाम संशयः ॥२१२॥
इतराण्यपि शास्त्राणि तेषामाम्नायतो बुधैः ।
रचितानि समस्तानि तत्त्त्रापि न सशयः ॥२१३॥
युक्तिगम्य ततस्तत्त्वमवधार्य सुयुक्तिभिः ।
ततोऽन्यच्चाप्तवाक्येभ्य श्रद्धेय सतत मया ॥२१४॥
इत्थ युक्तियुते शास्त्रे हिते चाप्तनिबन्धने ।
सुधीः सम्यक्त्वसम्पन्नो निःशङ्को भुवि राजते ॥२१५॥

अर्थ—अब आचार्य प्रणीत ग्रन्थोमे प्रतिपादित रीतिके अनुसार आठ अङ्गोके रूपमे उस सम्यग्दर्शनका कुछ अन्तरङ्ग माहात्म्य कहते है ॥२१०॥ लोकमे सर्वत्र सब समय असत्य कथन करनेमे दो ही कारण सब प्रकारसे निश्चित हैं—एक वक्ताका अज्ञान और दूसरा वक्ताका मोह अर्थात् सकषाय परिणति ॥२११॥ परन्तु यह प्रमाणो द्वारा निश्चित है कि अरहन्त भगवान्मे अज्ञान और मोह—दोनो नही हैं इसलिये मूलरूपसे अरहन्तके द्वारा कहे हुए शास्त्रसमूहमे सशयकी क्या बात है? ॥२१२॥ अन्य समस्त शास्त्र भी उन्ही अरहन्त भगवान्की आम्नायके अनुसार विद्वानोके द्वारा रचे गये है इसलिये उनमे भी सशय नही है ॥२१३॥ इसलिये जो तत्त्व युक्तिगम्य है उसका तो उत्तम युक्तियोके द्वारा निर्धार करना चाहिये और जो युक्तिगम्य नही है उसकी मुझे आप्तके वचनो

द्वारा श्रद्धा करना चाहिये ॥२१४॥ इस प्रकार युक्तियुक्त, हितकारी, आप्तप्रणीत शास्त्रके विषयमे सम्यक्त्वसे युक्त ज्ञानी पुरुष पृथ्वीपर निःशङ्क रहता है ॥२१५॥

आगे नि.काक्षित अङ्गका निरूपण करते हैं—

अक्षवर्गसमुत्पन्नं सौख्य नाम न तत्त्वतः।
तृष्णावृद्धिकरत्वेन प्रत्युत दुःखमेव हि ॥२१६॥
यथा हि क्षारपानीयपानेन न तृषाक्षयः।
तथा भोगानुभोगेन नैव तृष्णापरिक्षय ॥२१७॥

इमे भोगा भुजङ्गाश्च समानाः भुवि सन्ति हि।
हेयोपादेयतत्त्वज्ञैर्नोपादेयाः कदाचन ॥२१८॥
यद्वा भुजङ्गभूपालदष्टो मृत्यु सकृद् व्रजेत्।
भोगदष्टास्तु बहुशो व्रजन्त्येव न संशय ॥२१९॥

सबाध परतन्त्र च दुःखदं क्षणभङ्गुरम्।
तृष्णावृद्धिकरं चाल्प सौख्य ह्यक्षसमुत्थितम् ॥२२०॥
एतेषां वशितां नाम प्राकृता यान्तु मानवाः।
अतिप्रगाढमिथ्यात्वतमसाहतचक्षुषः ॥२२१॥

हन्त हन्त सुरेन्द्रोऽपि नागेन्द्रोऽपि हलायुधः।
अलं तीर्थकरश्चापि विषयैः परिभूयते ॥२२२॥
भोगेच्छाप्रभव दु ख सोढु शक्ता न जन्तवः।
रमन्ते पुत्रमित्रालीकलत्रेषु पुनः पुनः ॥२२३॥

परन्तु लब्धबोधैस्तैर्ज्ञातास्वादैर्हितेच्छुभिः।
अन्ततस्त्यज्यते नूनं भोगभोगिकदम्बकम् ॥२२४॥

लब्धसम्यक्त्वदेवद्रोः किं मे भोगानुकाङ्क्षणम्।
सर्वथा विषयेच्छाभिः परिमुक्तो भवाम्यहम् ॥२२५॥
गृहीत्वानन्तर तेषां त्यागे का नाम विज्ञता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरम् ॥२२६॥

एवं विचारितार्थः स सम्यग्दर्शनसभृतः ।
निःकाङ्क्षत्वं प्रयात्येव गतेच्छोऽपि शिवेच्छनः ॥२२७॥

अर्थ—इन्द्रियसमूहके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख वास्तवमे सुख नही है किन्तु तृष्णावृद्धिका कारण होनेसे दु ख ही है ॥२१६॥ जिस प्रकार खारा पानी पीनेसे तृषाका नाश नही होता है उसी प्रकार भोगोको भोगनेसे तृष्णाका नाश नही होता है ॥२१७॥ पृथ्वीपर ये भोग और भुजङ्ग-सर्प एक समान है अत हेय उपादेय तत्त्वोके ज्ञाता पुरुषोके द्वारा कभी भी उपादेय नही है ॥२१८॥ अथवा भुजङ्गसे डसा हुआ मनुष्य तो एक ही बार मृत्युको प्राप्त होता है परन्तु भोगोके द्वारा डसे हुए मनुष्य बार-बार मृत्युको प्राप्त होते है, -इसमे सशय नही है ॥ २१९ ॥ इन्द्रियजन्य सुख बाधा सहित है, परतन्त्र है, दु खदायक है, क्षणभगुर है, तृष्णाको बढाने वाला है और अल्प है ॥२२०॥ तीव्र मिथ्यात्वरूपी अन्धकारसे जिनके ज्ञाननेत्र नष्ट हो गये हैं ऐसे साधारण मनुष्य इन भोगोकी अधीनताको भले ही प्राप्त हो जावें परन्तु अत्यन्त दु खकी बात है कि इन्द्र, नागेन्द्र, बलभद्र और तीर्थंकर भी विषयोसे परिभूत हो जाते हैं ॥२२१-२२२॥ भोगोकी इच्छासे उत्पन्न हुए दु खोको सहन करनेके लिये असमर्थ प्राणी बार-बार पुत्र, मित्रसमूह तथा स्त्रियोमे रमण करते है—उनमे ममत्व बुद्धि उत्पन्न करते हैं ॥२२३॥ परन्तु पूर्वोक्त महापुरुषोको जब आत्मबोध होता है—अपने वीतराग स्वरूपकी ओर जब उनका लक्ष्य जाता है तब वे विषयोका स्वाद जान कर आत्महितकी इच्छा करते हुए अन्तमे निश्चित ही उन भोगरूपी सर्पोंके समूहका परित्याग कर देते हैं ॥२२४॥ मुझे सम्यक्त्वरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है अत. भोगोकी इच्छा करना क्या है ? मै विषयोकी इच्छासे सर्वथा मुक्त होता हूँ ॥२२५॥ पहले ग्रहणकर पीछे विषयोके त्याग करनेमे क्या चतुराई है ? कीचड लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे स्पर्श नही करना ही अच्छा है ॥२२६॥ इस प्रकार विचार करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव नि'काक्षत्वको ही प्राप्त होता है । सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि नि काक्ष होता है तथापि मोक्षकी इच्छा रखता है ॥२२७॥

आगे निर्विचिकित्सा अङ्गका निरूपण करते हैं—

पापेऽनास्था हि कर्त्तव्या नैव पापिनि जातुचित् ।
जीवत्वेन समाः सर्वे पापाः पापवहिर्गताः ॥२२८॥

कालद्रव्यसहायेन द्रव्यवृन्दं विवर्तते ।
अशुभैश्च शुभैर्वापि परिणामैर्निरन्तरम् ॥२२९॥
शुभानिष्टकरांस्तत्र रागात्पश्यन्ति जन्तवः ।
अनिष्टानशुभांश्चैव द्वेषान्मूढदृशस्तथा ॥२३०॥
यदा तत्त्वेन पश्यामः पदार्थान् सकलान् वयम् ।
अशुभो न शुभः कश्चिन्मिथ्येय मे प्रकल्पना ॥२३१॥
तस्य द्रव्यस्य पर्यायस्तथाभूतः प्रजायते ।
प्रीत्याप्रीत्यापि मे किं स्यात्परिणामे तथा दृशे ॥२३२॥
गुणाः पूज्या न वर्ष्माणि महतामपि देहिनाम् ।
अस्त्येतन्निश्चितं यत्र जगत्यामागमेऽपि च ॥२३३॥
गुणैः पवित्रिते तत्र मुनीनां च कलेवरे ।
जुगुप्सा का ममेयं भो हन्त मूढमतेरहो ॥२३४॥
एव भाविततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिः पुमान् सदा ।
निर्गतो विचिकित्साया अमन्दानन्दमश्नुते ॥२३५॥

अर्थ—पापमे अनास्था करना चाहिये, पापी जीवपर अनास्था नही करना चाहिये, क्योकि पापी और पापसे रहित—सभी जीव, जीवत्व सामान्यकी अपेक्षा समान है। भावार्थ—पापी जीवपर जो अनास्था की जाती है वह पापके कारण की जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव, किसी पापीको देख विचार करता है कि देखो, बेचारा कर्मोदयसे ग्रस्त हो अपने हितका विचार न कर अहितमे प्रवृत्त हो रहा है। मैं इसे हितका उपदेश देकर सुमार्गपर लगा सकूँ तो मेरा अनुकम्पा नामका गुण चरितार्थ होगा और इसका कल्याण होगा। समय आनेपर पापी जीव भी पापका परित्यागकर सुमार्गपर आते हैं। इसलिये उन्हे सर्वथा उपेक्षित या अनादृत नही करना चाहिये ॥२२८॥ कालद्रव्यके निमित्तसे द्रव्योका समूह निरन्तर शुभ अथवा अशुभ पर्यायरूप परिणमन करता है। उन शुभ अशुभ पर्यायोमेसे मिथ्यादृष्टि जीव शुभ पर्यायोको रागवश इष्ट और अशुभ पर्यायोको द्वेषवश अनिष्ट मानते हैं। परन्तु जब परमार्थसे हम समस्त पदार्थोंका विचार करते हैं तब न कोई शुभ–इष्ट है और न कोई अशुभ–अनिष्ट है मेरी यह कल्पना मिथ्या प्रतीत होती है। उस द्रव्यकी वैसी पर्याय हो रही है उस

पर्यायमे मुझे प्रीति और अप्रीतिसे क्या प्रयोजन है ? भावार्थ—चरणानुयोगकी आज्ञानुसार ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोमे यद्यपि शुद्धि अशुद्धिका पूर्ण विचार रखता है तथापि अपने हृदयमे ग्लानि—जुगुप्साको आश्रय नही देता ॥२२९-२३२॥ बडे-बडे पुरुषोके भी गुण पूज्य हैं शरीर नही। अर्थात् महापुरुषोके जो शरीरकी पूजा होती है वह गुणोके कारण ही होती है, यह लोक तथा आगम—दोनोमे निश्चित है ॥२३३॥ इसलिये गुणोंसे पवित्र मुनियोके शरीरमे मुझ अज्ञानीकी जो यह जुगुप्सा होती है वह क्या है? भावार्थ—रत्नत्रयसे पवित्र मुनियोके शरीरमे अज्ञानी जीव ही ग्लानि करते हैं, आत्मगुणके पारखी नही। अब मेरा मिथ्याभाव विलीन हो गया और उसके स्थानपर शुद्धसम्यक्त्वभाव प्रकट हुआ है अत मुझे मुनियोके मलिन शरीरमे ग्लानि करना उचित नही है ॥२३४॥ इस प्रकार पदार्थके यथार्थ स्वरूपका विचार करनेवाला सम्यग्दृष्टि पुरुष विचिकित्सा—ग्लानिसे रहित होता हुआ सदा बहुत भारी आनन्दको प्राप्त होता है ॥२३५॥

आगे अमूढदृष्टि अङ्गका वर्णन करते है—

देवः स एव पूज्यः स्याद्यः स्याद् रागविवर्जितः।
सर्वज्ञो हितदर्शी च भव्यानां हितकामिनाम् ॥२३६॥
तथाभूतो महेशो वा ब्रह्मा विष्णुश्च मारजित्।
कपिलो वा जिनो वापि रामो वातसुतो[1]ऽपि च ॥२३७॥
नाम्ना नामाथ केनापि मण्डितो नु भवेदसौ।
पण्डितानां समाराध्यो हितप्राप्त्यै निरन्तरम् ॥२३८॥
यः स्वयं रागरोगेण दिव्यचक्षुर्[2]भवेदसौ।
इतरान् स कथ ब्रूयान्मोक्षपत्तनपद्धतिम् ॥२३९॥
स[3] देवानां प्रियो वापि तत्त्वातत्त्वविचारणे।
कथं स्याद्धितकामानां हितोद्देशनतत्परः ॥२४०॥
अर्हतोक्त विनिर्मुक्त बाधाभिर्वादिदुर्जयम्।
शास्त्र प्रमाणतोपेतं मान्यं मान्यगुणं मम ॥२४१॥

---

१ हनूमान्। २ अन्ध 'दिव्यचक्षु सुनयने कृष्णेऽन्धे मिहकेऽपि च, इति विश्वलोचन। ३ मूर्ख 'देवाना प्रिय इति च मूर्खे' इति सिद्धान्तकौमुदी।

यस्य वक्ता न सर्वज्ञो वीतरागो महामुनिः ।
प्रामाण्यं तत् कथं गच्छेद् रथ्यामानववागिव ॥२४२॥
विषयाशाबहिर्भूतस्त्यक्तारम्भचयोऽपि च ।
ग्रन्थातीतो गुरुः पूज्यः शश्वन्मम न चेतरः ॥२४३॥
ये सयमभर प्राप्य प्रमाद्यन्ति मुनीश्वराः ।
अक्षपाटच्चरैर्नून ह्रियन्ते ते कथं न हि ॥२४४॥
प्रत्यक्षादेव ये ग्रन्थभार हन्त भरन्ति वै ।
यतयस्ते ब्रुडन्त्येव चिर संसारसागरे ॥२४५॥
एतेषां भक्तिसम्पन्ना नरा नाम भवोदधौ ।
पाषाणपोतमध्यस्था इव मज्जन्ति हा चिरम् ॥२४६॥
चिर मिथ्यात्वचूर्णेन विमुग्धीकृतलोचनः ।
अभज हन्त तानेतान् केवलं भवसंचरान् ॥२४७॥
मिथ्यातपश्चमत्कारैरेतेषां च चमत्कृतः ।
अद्यतो न भविष्यामि शुद्धदर्शनवानहम् ॥२४८॥
सम्यग्दृष्टिरयं हीदृग्भावनोपेतमानसः ।
नो कदापि निजां दृष्टि मूढां वै कुरुते क्वचित् ॥२४९॥

अर्थ—वही देव पूज्य है जो रागसे रहित हो, सर्वज्ञ हो और हिताभिलाषी भव्योको हितका उपदेश देनेवाला हो ॥२३६॥ उपर्युक्त तीन गुणोसे सहित चाहे महेश हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, बुद्ध हो, कपिल हो, जिन हो, राम हो, हनूमान् हो अथवा किसी अन्य नामसे सुशोभित हो, हितकी प्राप्तिके लिये ज्ञानी जनोका निरन्तर आराधनीय—सेवा करने योग्य है ॥२३७-२३८॥ जो स्वय रागरूपी रोगके द्वारा अन्धा हो वह दूसरे जीवोंको मोक्षरूपी नगरका मार्ग कैसे बता सकता है ? ॥२३९॥ जो तत्त्व और अतत्त्वका विचार करनेमे स्वय अज्ञानी है वह दूसरे हिताभिलाषी जनोको हितका उपदेश देनेमे समर्थ कैसे हो सकता है ? ॥२४०॥

जो अरहन्तके द्वारा कहा गया हो, बाधाओसे रहित हो, वादियोंके द्वारा दुर्जेय हो, प्रमाणतासे सहित हो तथा मान्यगुणोसे सहित हो, ऐसा शास्त्र ही मुझे मान्य है ॥२४१॥ जिस शास्त्रका मूल वक्ता वीतराग सर्वज्ञ

महामुनि नही है वह सड़कपर चलने वाले मनुष्यके वचनके समान प्रमाणताको कैसे प्राप्त हो सकता है ॥२४२॥

जो विषयोंकी आशासे दूर है, जिसने सब प्रकारका आरम्भ छोड़ दिया है तथा जो परिग्रहसे रहित है ऐसा गुरु ही मुझे निरन्तर पूज्य है अन्य नही ॥२४३॥ जो मुनिराज सयमका भार धारणकर प्रमाद करते हैं वे निश्चित ही इन्द्रियरूपी चोरोके द्वारा कैसे नही लुटते हैं अर्थात् अवश्य लुटते हैं ॥२४४॥ खेद है कि जो प्रत्यक्ष ही परिग्रहका भार धारण करते हैं वे मुनि चिरकालके लिये ससाररूपी सागरमे नियमसे डूबते है ॥२४५॥ इन परिग्रही मुनियोके जो भक्त है वे पत्थरके नावके मध्यमे बैठे हुए मनुष्योके समान ससाररूपी सागरमे चिरकालके लिये डूबते हैं ॥२४६॥ बडे दु.खकी बात है कि मिथ्यात्वरूपी चूर्णके द्वारा जिसके नेत्र मोहको प्राप्त हो रहे है ऐसे मैंने मात्र ससारमे परिभ्रमण करनेवाले इन कुगुरुओकी चिरकाल तक भक्ति की है ॥२४७॥ अब मैं शुद्ध—सम्यग्दर्शनसे सहित हुआ हूँ अतः इन कुगुरुओंके मिथ्यातप सम्बन्धी चमत्कारोके द्वारा आजसे चमत्कृत नही होऊँगा ॥२४८॥ इस प्रकारकी भावनासे जिसका चित्त सहित है ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयसे कभी भी और कही भी अपनी दृष्टि—श्रद्धाको मूढ नही करता है। तात्पर्य यह है कि वह अमूढदृष्टि अङ्गका धारक होता है ॥२४९॥

आगे उपगूहन अङ्गकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनकी महिमा कहते है—

जनन्या इव जातानां परेषां दूषणोच्चयम् ।
लोकानां पुरतो नूनमनुद्भावयतः सदा ॥२५०॥
तद्दूषणापसारेच्छावशतोऽपि क्वचित् क्वचित् ।
कदाचित्सम्यगोष्ठीषु प्रकटीकुर्वतोऽपि तत् ॥२५१॥
कृपणस्येव वित्तं स्वं सुगुणानां कदम्बकम् ।
पुरतः परलोकानां न ह्युद्भावयतः क्वचित ॥२५२॥
सम्यग्दर्शनसंभूपासंभूषिततनोर्मम ।
वर्द्धते परमं शश्वदुपगूहनमङ्गकम् ॥२५३॥

अर्थ—जिस प्रकार माता दूसरोके सामने अपने पुत्रोके दोपसमूहको प्रकट नही करती इसी प्रकार जो दूसरोके दोपसमूहको कभी लोगोके सामने प्रकट नही करता, परन्तु कभी कही-कही उनके दोप दूर करनेकी

इच्छासे उस समूहको सम्यजनोकी गोष्ठीमे प्रकट भी करता है। साथ ही जिस प्रकार कजूस मनुष्य अपने धनको दूसरोके सामने प्रकट नही करता इसी प्रकार जो अपने उत्तम गुणोके समूहको कही दूसरोके समक्ष प्रकट नही करता। तथा सम्यग्दर्शनसे जिसका शरीर विभूषित है ऐसे मेरा उपगूहन अङ्ग निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव कभी किसीके दोषोको नही कहता है किन्तु उन्हे दूर करनेका प्रयत्न करता है। जब कभी ऐसी स्थिति दिखती है कि उसके कहने तथा समझनेसे भी किसीका दोष छूटता नही है तब उस दोषको दूर करनेकी इच्छासे दूसरे प्रभावशाली सभ्य मनुष्योंके सामने प्रकट भी करता है। और उनके प्रभावसे उस दोपको छुडानेका प्रयत्न करता है। इस उपगूहन अङ्गका दूसरा नाम उपवृहण अङ्ग भी है जिसका अर्थ होता है अपने गुणोकी वृद्धि करना। जिस प्रकार व्यापारी मनुष्य निरन्तर अपनी पूँजीको बढानेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी आत्मगुणोको बढानेका प्रयत्न करता है। २५०-२५३॥

आगे स्थितिकरण अङ्गके द्वारा सम्यग्दर्शनकी चर्चा करते हैं—

कुतोऽपि कारणात्स्व वा परं चापि सधर्मणम्।
सश्रद्धाबोधचारित्राच्च्यवन्त धर्मतः क्वचित् ॥२५४॥
तथोपदेशतो धैर्यदानादात्मसमर्पणात्।
वृत्तिव्रातविधानेन व्याधिविध्वसनात्तथा ॥२५५॥
अन्येनापि प्रकारेण भूयः श्रद्धानशालिनः।
सुस्थिरं विदधत्येव चिरं सद्धर्मधारणे ॥२५६॥

अर्थ—किसी कारण कही सम्यग्दर्शन ज्ञान, और चारित्ररूप धर्मसे च्युत होते हुए अपने आपको तथा अन्य सहधर्मा बन्धुको उस प्रकारका उपदेश देनेसे, धैर्य प्रदान करनेसे, अपने आपके समर्पणसे, आजीविकाओका समूह लगानेसे, बीमारी दूर करनेसे तथा अन्य प्रकारसे सम्यग्दृष्टि मनुष्य समीचीन धर्मके धारण करनेमे चिरकालके लिये अत्यन्त स्थिर कर देते हैं। भावार्थ—यदि किसी परिस्थितिवश अपना चित्त समीचीन धर्मसे विचलित हो रहा हो तो पूज्य पुरुषोके गुणस्मरणके द्वारा उसे धर्ममे स्थिर करना चाहिये। इसी प्रकार यदि कोई अन्य सहधर्मी भाई बीमारी, आजीविका नाश या अन्य किन्ही कारणोके द्वारा धर्मसे च्युत

हो रहा हो तो उसे सब प्रकारकी सहायता देकर धर्ममे स्थिर करना चाहिये, यही स्थितिकरण अङ्ग हैं ॥२५४–२५६॥

आगे वात्सल्य अङ्गके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीवोकी चर्चा करते है—

श्रद्धाबोधसुवृत्तादिस्वगुणानां कदम्बके ।
सततं प्रीतिसम्पन्ना नरा भव्या भवन्ति हि ॥२५७॥
गोगणा इव वत्सानां सम्यग्धर्मविशोभिनाम् ।
उपरि प्रेमवन्तोऽपि श्रद्धावन्तो भवन्ति च ॥२५८॥

अर्थ—भव्य मनुष्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि आत्मगुणो-के समूहपर निरन्तर प्रीतिसे युक्त होते है ॥२५७॥ जिस प्रकार गायोके समूह अपने बछडोपर प्रीतिसे युक्त होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मनुष्य समीचीन धर्मसे युक्त मनुष्योपर प्रीतिसे युक्त होते हैं ॥२५८॥

आगे प्रभावना अङ्गका वर्णन करते है—

पुस्तकानां प्रदानेन विद्यालयविधानतः ।
व्याख्यानात्तत्त्वजातस्य शास्त्रवाचनतस्तथा ॥२५९॥
पठतां पाठकानां च योग्यवृत्तिव्यवस्थया ।
देशकालोचितैरन्यैरप्युपायैर्निरन्तरम् ॥२६०॥
आत्मनश्च परेषां चावोधध्वान्ततति तथा ।
हत्वा जिनेन्द्रमाहात्म्यप्रभावः क्रियते बुधैः ॥२६१॥
अष्टावपि गुणानेतानात्मगान्परगानपि ।
सम्यग्दर्शनसपन्ना धरन्त्येव न सशयः ॥२६२॥

अर्थ—पुस्तकोके दानसे, विद्यालय बनानेसे, तत्त्वसमूहके व्याख्यान-से, शास्त्रप्रवचनसे, पढनेवाले छात्रो और पढानेवाले अध्यापकोकी योग्य जीविकाकी व्यवस्था करनेसे तथा देश और कालके योग्य अन्य उपायोसे विद्वज्जन अपने तथा दूसरोके अज्ञानान्धकारके समूहको नष्ट कर निर-न्तर जिनेन्द्रदेवके माहात्म्यकी प्रभावना करते हैं। भावार्थ—लोगोके हृदयमे जो धर्म विषयक अज्ञान फैला हुआ है उसे नष्ट कर जिनधर्मका प्रभाव फैलाना प्रभावना अङ्ग है ।।२५९–२६१।। सम्यग्दृष्टि जीव स्व-पर-से सम्बन्ध रखनेवाले इन आठ गुणोको नियमसे धारण करते हैं, इसमे सशय नही है ।।२६२॥

आगे सम्यग्दृष्टिके आठ मदोंका अभाव बतलानेके लिये कहते हैं—

नाशशील पराधीनमल्पमल्पार्थबोधकम् ।
क्षायोपशमिकं ज्ञान लब्ध्वा का नाम मानिता ॥२६३॥
महतामपि लोकानां प्रतिष्ठा महती पुरा ।
पश्यतो जगतो नष्टा का नु तत्राभिमानिता ॥२६४॥
उच्चैःकुलसमुत्पन्ना अपि पापप्रवृत्तितः ।
परत्राधमगोत्रत्वं यान्ति का मेऽत्र मानिता ॥२६५॥
कामं मे मातुलो नाम भवेत्सपदधीश्वरः ।
मम किं तेन मान्यत्वं वृथा ह्रा मानितेह मे ॥२६६॥
स्वस्मादूर्ध्वप्रदानेन दृष्टेः सर्वेऽपि जन्तवः ।
निर्बला सन्ति सर्वत्र नोचिता मम मानिता ॥२६७॥
ऋद्धियुद्धिधरा देवा अपि नश्यन्ति यत्र भोः ।
अल्पर्द्धाविह किं तत्र मम स्यान्मानितोचिता ॥२६८॥
मानाहिराजसंदष्टा महान्तोऽपि तपस्विनः ।
श्वभ्रावासमहो यान्ति यत्तत्का मेऽभिमानिता ॥२६९॥
वपुषा कामदेवा ये जाता भुवि महीश्वराः ।
तेऽपि नाशं गता यस्माद् वृथा तन्मेऽभिमानिता ॥२७०॥
स्वस्मादूर्ध्वप्रदानेन दृष्टेरल्पतरोऽखिलः ।
मेरुदर्शनतो विन्ध्य-पर्वतः कीटकायते ॥२७१॥
एव सम्यक्त्वसम्पन्ना महाभागजनेश्वराः ।
मदेनाष्टविधेनेह नैव माद्यन्ति जातुचित् ॥२७२॥

अर्थ— नश्वर, पराधीन, अल्प और अल्प पदार्थोंका बोध करानेवाले क्षायोपशमिक ज्ञानको प्राप्त कर अहकार करना क्या है ? ॥२६३॥ पहले इस ससारमे देखते-देखते जगत्के महापुरुषोकी भी बहुत बडी प्रतिष्ठा नष्ट हो चुकी है तब वहाँ मेरा अहकार करना क्या है ॥२६४॥ उच्च कुलमे उत्पन्न हुए मनुष्य भी पापप्रवृत्तिके कारण परलोकमे नीचगोत्रको प्राप्त हो जाते हैं तब इस विषयमे मेरा अभिमान करना क्या है ? ॥२६५॥

भले ही मेरे मामा सम्पत्तिके अधीश्वर हो, पर उससे मेरी कौन-सी मान्यता हो जाती है ? अर्थात् कुछ भी नही, इसलिए इस विषयमे मेरा अहकार करना व्यर्थ है ॥२६६॥ यदि अपनी दृष्टि अपनेसे ऊपरकी ओर दी जावे अर्थात् अपनेसे अधिक बलवान्की ओर देखा जावे तो सर्वत्र सभी प्राणी निर्बल हैं अत. मेरा बलका अभिमान करना उचित नही है ॥२६७॥ ऋद्धि और वृद्धिको धारण करनेवाले देव भी जहाँ नष्ट हो जाते है वहाँ अल्प ऋद्धिमे मेरा अहकार करना क्या उचित है ? अर्थात् नही ॥२६८॥ मान-रूपी नागराजके द्वारा डशे हुए बडे-बडे तपस्वी भी, आश्चर्य है कि, नरक वासको प्राप्त होते हैं अतः मेरा तपका अभिमान करना क्या है ? ॥२६९॥ पृथिवीपर जो राजा शरीरसे कामदेव थे वे भी जब नष्ट हो गये तब मेरा रूपका अभिमान करना व्यर्थ है ॥२७०॥ यदि अपनी दृष्टि अपनेसे बड़े लोगोपर दी जावे तो सब अत्यन्त लघु हो जावें जैसे मेरु पर्वतके देखनेसे विन्ध्याचल कीटके समान जान पडने लगता है ॥२७१॥ ऐसा विचारकर महाभाग्यशाली सम्यग्दृष्टि जीव आठ प्रकारके मदसे कभी भी उन्मत्त नही होते है। भावार्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ बातोको लेकर मिथ्यादृष्टि मानव अहंकार करते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीवोका निश्चय होता है कि ये क्षायोपशमिक ज्ञान आदि आठ वस्तुएँ आत्माकी निज परिणति नहीं हैं किन्तु परनिमित्त-से होनेवाले वैभाविक गुण अथवा पर्याय है। परनिमित्तजन्य पदार्थ, परके रहते हुए ही होते हैं परका नाश होनेपर नही। और परका परिणमन उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावपर अवलम्बित है अत. पराश्रित वस्तुका अहकार करना उचित नही है। इसी विचारसे सम्यग्दृष्टि जीव आठ मदोसे रहित होते हैं ॥२७२॥

आगे सम्यग्दृष्टि जीवके छह अनायतन नही होते हैं, इसका वर्णन करते हैं—

देवं दोपालयं मिथ्या-बोधमण्डनमण्डितम् ।
खण्डितं महिलालास्यैः पण्डया च बहिष्कृतम् ॥२७३॥
विपयाशावशं नित्यमारम्भोच्चयमन्दिरम् ।
परिग्रहैः परिग्रस्तं कुगुरुं कुगुणालयम् ॥२७४॥
संसारभूजसंबीजं रागद्वेषप्रवर्तनम् ।
मोक्षप्रवेशमार्गस्थकपाटं कपटोत्कटम् ॥२७५॥

अहिंसाकल्पवल्लीनां दावपावकमुत्कटम् ।
भव्यचित्तपयोजालीनक्तंनाथमधर्मकम् ॥२७६॥
एतेषां सेवकानां च संहतिं शुद्धदृष्टयः ।
धर्मबुद्धिभृतः सन्तो न नमन्तीह जातुचित् ॥२७७॥

अर्थ—दोषोंके स्थान, मिथ्याज्ञानसे सहित, स्त्रियोंके विलासोंसे खण्डित तथा भेदज्ञानसे रहित देवको, निरन्तर विषयोकी आशाके वशीभूत, आरम्भसमूहके स्थान, परिग्रहोंसे ग्रस्त और कुत्सित गुणोंके घर कुगुरुको, एव ससाररूपी वृक्षके बीज, रागद्वेषको प्रवर्तने वाले, मोक्षद्वारपर लगे हुए कपाट, कपटसे युक्त, अहिंसारूपी कल्पनाओंको भस्म करनेके लिए प्रचण्ड दावानल तथा भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमल-समूहको सकुचित करनेके लिए चन्द्रमास्वरूप अधर्मको और इन तीनोके सेवकोके समूहको धर्मबुद्धिके धारक सम्यग्दृष्टि जीव इस जगत्मे कभी भी नमस्कार नही करते हैं ।' भावार्थ—आयतन स्थानको कहते हैं और अनायतन अस्थानको कहते हैं । कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और इनके सेवक इस प्रकार सब मिल कर छह अनायतन कहलाते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव इन छह अनायतनोको कभी नमस्कार नही करता है ॥२७३-२७७॥

अब सम्यग्दृष्टिके तीन मूढताओका अभाव होता है, यह कहते हैं—

न चापि लोकपाषण्डि देवानामपि मूढताम् ।
कदाचिच्छुद्धसम्यक्त्वसंभृता विदधत्यमी ॥२७८॥

अर्थ—शुद्ध सम्यक्त्वसे सहित जीव लोकमूढता, गुरुमूढता और देव-मूढता इन तीन मूढताओको कभी नही करते हैं । भावार्थ—मूढताका अर्थ मूर्खता है । मोक्षाभिलाषी सम्यग्दृष्टि जीव उपर्युक्त तीन मूर्खताओ को कभी नही करता है । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहारनयकी अपेक्षा शङ्कादिक आठ दोष, ज्ञानादि आठ मद, छह अनायतन और उपर्युक्त तीन मूढताओ रूप पच्चीस दोषोको कभी नही करता है ॥२७८॥

आगे सम्यक्त्वकी महिमा बतलाते हुए प्रथम मयूखका उपसहार करते हैं--

मालिनी

अलमलमतिजल्पैः सर्वथा स्वस्ति तस्यै
सकलविधिविलासोच्छेदनोद्दीक्षितायै ।
विततभवजतीव्रोत्तापताम्यज्जनानां
तुहिनकरविभूत्यै शुद्धसम्यक्त्वभूत्यै ॥२७९॥

स जयति जिनमान्यः शुद्धसम्यक्त्वभावो
विततभववनालीप्रोज्ज्वलत्पावकात्मा ।
सकलसुखनिधानः सर्वभावप्रधानो
निखिलदुरितजालक्षालनः क्षान्तिरूपः ॥२८०॥

उपजातिः

काले कलौ येऽत्र प्रशान्तरूपं
सुखस्वभावं मुनिमाननीयम् ।
सम्यक्त्वभावं दधति स्वरूपं
नमामि तान् भक्तियुतः समस्तान् ॥२८१॥

इति सम्यक्त्व चिन्तामणौ सम्यग्दर्शनोत्पत्तिमाहात्म्यवर्णनो नाम
प्रथमो मयूख. समाप्त ।

अर्थ—अधिक कहनेसे क्या लाभ है? उस शुद्ध सम्यक्त्वरूपी विभूतिकी सब प्रकारसे स्वस्ति कामना करता हूँ कि जो समस्त कर्म-विलासोके उच्छेद करनेमे तैयार है, और विस्तृत ससाररूपी तीव्रतापसे दुःखी मनुष्योके लिए चन्द्रमाके समान है॥२७९॥ जो अतिशय विस्तृत ससाररूपी वनसमूहको भस्म करनेके लिये प्रचण्ड अग्निस्वरूप है, समस्त सुखोका भाण्डार है, सब भावोमे प्रधान है, समस्त पापसमूहको धोनेवाला है तथा क्षमारूप है वह जिनेन्द्रमान्य शुद्ध सम्यक्त्व भाव जयवत प्रवर्तता है—सर्वोत्कृष्ट है ॥२८०॥ इस कलिकालमे जो प्रशान्त-रूप, सुखस्वभाव, मुनियोके द्वारा माननीय तथा आत्मरूप सम्यक्त्व-भावको धारण करते हैं मैं उन सबको भक्ति सहित नमस्कार करता हूँ ॥२८१॥

इस प्रकार सम्यक्त्व-चिन्तामणिमे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति और माहा-त्म्यका वर्णन करने वाला प्रथम मयूख समाप्त हुआ ॥१॥

द्वितीयो मयूखः

अब द्वितीय मयूखके प्रारम्भमे मगलाचरण करते हुए भगवान् महावीर स्वामीका जयघोष करते हैं—

आर्या

स जयति जिनपतिर्वीरो वीरः कर्मारिसैन्यसंदलने ।
हीरो निखिलजनानां धीरो वरमोक्षलाभाय ॥ १ ॥

अर्थ—जो कर्मरूपी शत्रुओकी सेनाके खण्ड-खण्ड करनेमे वीर थे, समस्त मनुष्योमे हीराके समान श्रेष्ठ थे और उत्तम मोक्षकी प्राप्तिके लिए धीर थे; वे वीर जिनेन्द्र जयवन्त प्रवर्ते ॥१॥

आगे सम्यग्दर्शनके भेद और उनके लक्षण कहते हैं—

अथेदं भव्यजीवानमद्भुतं हि रसायनम् ।
भिद्यते दर्शनं द्वेधा निश्चयव्यवहारतः ॥ २ ॥
मिथ्यात्वादिकमोहानां शमनात्क्षपणात्तथा ।
उभयाद्वा निजे शुद्धे रतिश्चात्मनि या भवेत् ॥ ३ ॥
सानुभूतिर्महामान्या माननीयगुणाश्रिता ।
शुद्धसम्यक्त्वसंज्ञाभिसंज्ञिता परमेश्वरैः ॥ ४ ॥

अर्थ—भव्य जीवोके लिए अद्भुत रसायन स्वरूप यह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो प्रकारका है ॥२॥ मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे स्वकीय शुद्ध आत्मा मे जो अभिरुचि होती है, महामान्य और माननीय गुणोंसे युक्त वह आत्मानुभूति जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा शुद्ध सम्यक्त्व—निश्चयसम्यक्त्व इस नामसे कही गई है ॥३-४॥

अब व्यवहार सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं—

यत्तु जीवादितत्त्वानां याथार्थ्येन विशुम्भताम् ।
मुक्तिलाभोपयुक्तानां श्रद्धानं परमार्थत ॥ ५ ॥
देवशास्त्रगुरूणां वा समीचां शुभचेतसा ।
श्रद्धानं वा प्रतीतिर्वा श्रद्धा प्रीती रुचिस्तथा ॥ ६ ॥

निश्चयस्य निदानं तन्महर्षीणां महीश्वरैः ।
व्यवहाराङ्कित इंहो सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—अपने-अपने यथार्थ स्वरूपसे सहित तथा मोक्षप्राप्तिमे प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वोका जो वास्तविक श्रद्धान है अथवा समीचीन देव, शास्त्र और गुरुकी शुद्ध हृदयसे जो श्रद्धा, रुचि या प्रतीति होती है उसे उत्तमोत्तम महर्षियोने व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा है। यह व्यवहार-सम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण होता है ॥५-७॥

आगे प्रकारान्तरसे सम्यग्दर्शनके और भी भेदोकी चर्चा करते है—

निसर्गाज्जनितं तत्र तन्निसर्गजमुच्यते ।
जातं परोपदेशाद्यैर्देशनाजश्च कथ्यते ॥ ८ ॥

अथवा

आधारभेदतश्चापि तद्दर्शनमनुत्तमम् ।
वीतरागसरागेतिभेदाभ्यां खलु भिद्यते ॥ ९ ॥
यद्वा चारित्रमोहेन भाजनस्य भिदा कृता ।
ततः सम्यक्त्वरूपेऽस्मिन्नलं भेदस्य वार्तया ॥१०॥

अर्थ—निसर्गज और अधिगमजके भेदसे सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है। जो पूर्वभवके संस्कार वश अपने आप होता है वह निसर्गज कहलाता है और जो परोपदेश आदिसे होता है वह देशनाज या अधिगमज कहलाता है। भावार्थ—इन दोनो सम्यग्दर्शनोमे मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय और क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग निमित्त एक समान होता है। मात्र बहिरङ्ग निमित्तकी अपेक्षा भेद है ॥८॥ अथवा आधारके भेदसे वह सम्यग्दर्शन वीतराग और सरागके भेदसे दो प्रकारका होता है। आत्माकी विशुद्धिमात्रको वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं और प्रशम, सवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य भावसे प्रकट होने वाला सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। अथवा चारित्रमोहके द्वारा पात्र—सम्यक्त्वके धारक जीवके दो भेद किये गये है इसलिए श्रद्धारूप सम्यग्दर्शनके विषयमे पात्रभेदकी अपेक्षा भेद करना व्यर्थ है। श्रेणी माढने के पूर्व जीवकी सज्ञा सरागसंज्ञा है और श्रेणीमे आरूढ जीवकी वीतरागसंज्ञा है। परमार्थसे वीतरागसज्ञा दशम गुणस्थानके बाद प्राप्त होती है,

क्योकि वहां रागका उदय नही रहना। परन्तु श्रेणीमे आरूढ जीवोंके बुद्धिपूर्वक कषायका कार्य नही रहता, इसलिये उन्हे भी वीतराग कहा जाता है। सराग जीवोका सम्यग्दर्शन सराग कहलाता है और वीतराग जीवोका वीतराग ॥९-१०॥

विशेषार्थ—करणानुयोगकी पद्धतिमे सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं—१ औपशमिक २ क्षायोपशमिक और ३ क्षायिक। मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोंकि उपशमसे जो होना है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम, इसप्रकार दो भेद हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व कब और किसके होता है, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। द्वितीयोपशमकी चर्चा इस प्रकार है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका अस्तित्व चतुर्थ गुणस्थानमे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है।

द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन—

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको धारण करनेवाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थानके सातिशय अप्रमत्त भेदमे उपशम श्रेणी माढनेके सन्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शनमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजना और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोका उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शनको धारण करने वाला जीव उपशम श्रेणी माढकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहांसे पतनकर नीचे आता है। पतनकी अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थानमे भी इसकी सत्ता रहती है। यदि कोई दीर्घ ससारी जीव होता है तो इस सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे भी आ जाता है और वहां एकेन्द्रियादि पर्यायोमें किञ्चिदून अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल तक परिभ्रमण करता रहता है।

क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन—

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमान कालमें उदय आने वाले निषेकोका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदय आने वाले निषेकोका सदवस्था रूप उपशम और सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघती प्रकृतिका उदय रहनेपर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शनमे सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मल और अगाढ दोष उत्पन्न होते रहते है। उपर्युक्त छह सर्वघाती प्रकृतियोके क्षय और सदवस्था रूप उपशमको प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे

क्षायोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयकी अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते है। वैसे ये दोनो हैं पर्यायवाची।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोके हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियोमे जो वेदककालके भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियोमे जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीवको चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारो गतियोमे हो सकता है और इससे पतित हुआ जीव किञ्चिदून अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक मिथ्यात्वमे परिभ्रमण कर सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोके क्षयसे जो उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन कहलाता है। दर्शन मोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूलमे। परन्तु इसका निष्ठापन चारो गतियोमे हो सकता है। उपर्युक्त सात प्रकृतियोके क्षयका क्रम इस प्रकार है—

सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धीका अप्रत्याख्यानावरणादिरूप विसंयोजन होता है। यही इसका क्षय कहलाता है पश्चात् मिथ्यात्वप्रकृतिका सम्यङ्मिथ्यात्वरूप परिणमन होता है और उसके अनन्तर सम्यङ्-मिथ्यात्वका सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमन होता है। जिस मनुष्यके मात्र सम्यक्त्वप्रकृतिकी सत्ता रह गई है उसका कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि नाम है। पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृतिका प्रदेशक्षय होकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि नाम प्राप्त करता है। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होता है तथा चौथेसे सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमे हो सकता है। यह सम्यक्त्व सादि अनन्त है अर्थात् होकर कभी छूटता नही है जब कि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असख्यात वार होकर छूट सकते है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि, या तो उसी भवसे मोक्ष चला जाता है या तीसरे अथवा चौथे भवमे मोक्ष जाता है। चौथे भवसे अधिक ससारमे नही रहता है। जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होनेके कारण नरकमे जाता है अथवा देवगतिमे उत्पन्न होता है वह वहाँसे आकर

नियमसे मनुष्य होकर मोक्ष जाता है और जो भोगभूमिमे मनुष्य अथवा तिर्यञ्च होता है वह वहाँसे देवगतिमे जाता है और उसके पश्चात् मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार चौथे भवमे उनका मोक्ष जाना वनता है। चारो गति सम्वन्धी आयुका वन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है इसलिए वद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिका चारो गतियोमे जाना संभव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्वके कालमे यदि मनुष्य और तिर्यञ्चके आयु वँधती है तो नियमसे देवायु वँधेगी और देव तथा नारकीके नियमसे मनुष्यायु वँधती है।

आगे सम्यग्दर्शनके विषयभूत सात तत्त्वोके नाम कहते हैं—

जीवाजीवास्रवा वन्धसंवरौ निर्जरा तथा।
मोक्षश्चेत्येव सप्तानां तत्त्वानां निकुरम्वकम् ॥११॥

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्वोका समूह है।

विशेषार्थ—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको तत्त्व कहते है। तत्त्व, यह भाव-वाचक सज्ञा है। जव भाव और भाववान् अर्थात् पदार्थमे अभेद विवक्षा होती है तव तत्त्वसे भाववान् जीवादि पदार्थोंका वोध होता है। 'तत्त्वार्थ-श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रमे तत्त्वार्थका समास है—'तत्त्वमेवार्थ-स्तत्त्वार्थस्तस्य श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् तत्त्वरूप अर्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा 'तत्त्वेन स्वकीययथार्थस्वरूपेण सहिता अर्थास्तत्त्वार्थास्तेषा श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् अपने अपने वास्तविक स्वरूपसे सहित जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। मूलमे तत्त्व दो है—एक जीव और दूसरा अजीव। इन दोनोके सयोगका जो कारण है वह आस्रव है, आस्रवका रुक जाना सवर है, सचित कर्मरूप अजीवतत्त्वका क्रम क्रमसे पृथक् होना निर्जरा है और सपूर्ण रूपसे कर्मरूप अजीवका सयोग आत्मासे सदाके लिए छूट जाना मोक्ष है। कुन्दकुन्द स्वामीने इन्ही सात तत्त्वोमे पुण्य और पापका समावेश कर नौ पदार्थोंका वर्णन किया है। उनके द्वारा निश्चित किया हुआ क्रम इस प्रकार है—१ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आस्रव, ६ सवर, ७ निर्जरा, ८ वन्ध और ९ मोक्ष। अन्य आचार्योंने पुण्य और पापका आस्रवमे समावेश कर सात तत्त्वोका वर्णन किया है। आगे इन्ही सात तत्त्वोका क्रमसे वर्णन किया जाता है ॥११॥

जीव तत्त्व

तत्र स्याच्चेतनालक्ष्मा जीवस्तत्त्वमहीश्वरः ।
ज्ञानदर्शनभेदेन सापि द्वेधा विभिद्यते ॥१२॥

अर्थ—जिसका चेतना लक्षण है उसे जीव कहते है । यह जीव स्वपर-प्रकाशक होनेसे सब तत्त्वोका राजा है । ज्ञान और दर्शनके भेदसे चेतना दो भेद वाली है । पदार्थके सामान्य प्रतिभासको दर्शनचेतना कहते हैं और विशेष प्रतिभासको ज्ञानचेतना कहते हैं ॥१२॥

अत्राह प्रतिवादी

अत्राह केवलज्ञानं स्याज्जीवस्य सुलक्षणम् ।
तत्रैव वर्तनात्तस्यान्यत्राभावाच्च किं न हि ॥१३॥

अर्थ—यहाँ कोई कहता है कि केवलज्ञानको जीवका लक्षण क्यो नही मान लिया जाय, क्योकि जीवको छोड कर अन्य द्रव्योमे उसका अभाव है ॥१३॥

तस्य बाधा

न स्यात्सर्वत्र जीवेषु लक्ष्मणोऽनुपपत्तितः ।
अव्याप्तत्वं स्वतः सिद्धं को नु धीमान् निवारयेत् ॥१४॥
केवलोत्पत्तितः पूर्वं जीवानां चापि मादृशाम् ।
अजीवत्व हि सम्प्राप्तं सस्वरं क्रन्दतामपि ॥१५॥

अर्थ—केवलज्ञान जीवका लक्षण नही हो सकता, क्योकि वह सब जीवोमे नही पाया जाता । अत स्वयं प्राप्त हुए अव्याप्तत्व दोषका निवारण कौन बुद्धिमान् करेगा ? अर्थात् कोई नही । केवलज्ञानकी उत्पत्तिके पहले हमारे जैसे जीवोंके भले ही वे स्वर सहित क्रन्दन करें, अजीवपना प्राप्त हो जायगा । तात्पर्य यह है कि जो लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्यमे न पाया जाकर उसके एक देशमे रहता है उसे अव्याप्तत्व दोष कहते हैं । केवलज्ञान यद्यपि जीवके सिवाय अन्य द्रव्योमे नही रहता तथापि वह समस्त जीवोमे भी नही रहता, मात्र अरहन्त और सिद्ध पर्यायमे रहता है अत. उसके सिवाय अन्य जीव, अजीव कहलाने लगेंगे ॥१४-१५॥

पुनः प्रतिवादी

अथामूर्तत्वमेतस्य लक्षणं सर्वलक्ष्यगम् ।
किं न जीवस्य कल्प्येत बाधाचक्रविनिर्गतम् ॥१६॥

अर्थ—प्रतिवादी कहता है कि यदि केवलज्ञान जीवका लक्षण नही है तो न सही किन्तु अमूर्तपना जीवका लक्षण क्यो नही मान लिया जाता, क्योकि वह समस्त जीवोमे रहनेसे बाधासमूहसे रहित है ॥१६॥

तस्य बाधा

तदेतच्चापि नो चारु भवन्निर्दिष्टलक्ष्मण ।
धर्माधर्मनभःकालद्रव्येष्वपि विवर्तनात् ॥१७॥
गवां शृङ्गविशिष्टत्वलक्षणस्येव संसृतौ ।
अतिव्याप्त्याख्यदोषेण दुष्टत्वाद्धि चिरेण व. ॥१८॥

अर्थ—जीवका अमूर्तत्व लक्षण भी सुन्दर नही है क्योकि आपका यह लक्षण धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यमें भी पाये जानेसे गायोंके सीग सहित लक्षणके समान संसारमे अतिव्याप्ति नामक दोषसे दूषित है। तात्पर्य यह है कि जो लक्षण, लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें रहता है वह अतिव्याप्ति दोषसे दूषित होता है। जैसे कि गायोका लक्षण सींग सहित होना लक्ष्य और अलक्ष्यमे रहनेके कारण अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है उसी प्रकार जीवका अमूर्तत्व लक्षण भी लक्ष्य तथा अलक्ष्यमे रहनेके कारण अतिव्याप्ति दोषसे दूषित है ॥१७-१८॥

असंभवदोषका परिहार

यस्य च ज्ञानशून्यत्व जीवानां लक्षण भवेत् ।
कथ न तन्मते हि स्याच्छीतत्वं वह्निलक्षणम् ॥१९॥
कथं न वै मनुष्यस्य शृङ्गशालित्वलक्षणम् ।
नभसो वा समूर्तित्वं लक्षणं न भवेत्कथम् ॥२०॥

अर्थ—जिसके मतमे ज्ञानशून्यता जीवोका लक्षण है उसके मतमे शीतलता अग्निका लक्षण क्यो नही माना जाता? अथवा मनुष्यका लक्षण सींगोसे सुशोभित होना क्यो नही कहा जाता? अथवा मूर्ति सहित होना आकाशका लक्षण क्यो नही होता?

तात्पर्य यह है कि जो लक्षण, लक्ष्यमे सर्वथा न पाया जावे उसे असभव दोषसे दूषित कहते हैं। इसलिए 'ज्ञानका अभाव जीवका लक्षण है' ऐसा कहना असभव दोषसे दूषित है। जिस प्रकार अग्निका लक्षण

शीतलता, मनुष्यका लक्षण सीगोसे सहित होना और आकाशका लक्षण समूर्तिक मानना असभव दोषसे दूषित है उसी प्रकार ज्ञान रहित होना जीवका लक्षण कहना, असभव दोषसे दूषित है ॥१९-२०॥

लक्षणकी निर्दोषता

तदेव लक्षणं यत्स्याद् दोषत्रयबहिर्गतम् ।
एकेनापि हि दोषेण दुष्टत्वे का नु लक्ष्मता ॥२१॥
ततो दोषत्रयातीतं चैतन्य जीवलक्षणम् ।
सुखं स्वीकृत्य भूयांसं प्रमोदं लभतां चिरम् ॥२२॥

अर्थ—लक्षण वही हो सकता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभव इन तीनो दोषोसे रहित हो। एक ही दोषसे दूषित होनेपर लक्षणका लक्षणपना क्या है ? अर्थात् कुछ भी नही। इसलिए 'तीनो दोषोसे रहित चैतन्य ही जीवका लक्षण है' यह सुखसे स्वीकृत कर चिर-काल तक महान् आनन्दको प्राप्त होओ ॥२१-२२॥

आगे जीवके असाधारण भावोका वर्णन करते है—

शमात्क्षयात्तथा मिश्रादुदयात्कर्मणां तथा ।
परिणामाच्च संजाता जीवभावा भवन्ति वै ॥२३॥
तत्रौपशमिको द्वेधा क्षायिको नवभेदभाक् ।
द्वयूनविंशतिभिन्नश्च मिश्रः प्रोक्तो मुनीश्वरैः ॥२४॥
एकविंशतिभेदैस्तु भिन्न औदयिको मतः ।
त्रिधा भिन्नोऽन्तिमो भावश्चोक्तश्चारुगुणालयैः ॥२५॥

अर्थ—कर्मोके उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदयसे तथा कर्मनिरपेक्ष-स्वत सिद्ध परिणामसे होनेके कारण जीवके भाव पाँच प्रकारके होते हैं—१ औपशमिक, २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक और ५ पारिणामिक। ये भाव जीवमे ही होते हैं अत जीवके असाधारण भाव कहलाते है। उन भावोमे औपशमिक भाव दो प्रकारका, क्षायिकभाव नौ प्रकारका, क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकारका, औदयिक भाव इक्कीस प्रकारका और पारिणामिक भाव तीन प्रकार का कहा गया है।

विशेषार्थ—सामान्य रूपसे कर्मोकी चार अवस्थाएँ होती हैं, १ उपशम, २ क्षय, ३ क्षयोपशम और ४ उदय। इनमेसे उदय और क्षय

अवस्था सभी कर्मोंकी होती है। उपशम अवस्था मात्र मोहकर्मकी होती है और क्षयोपशम अवस्था घातिया कर्मोंकी होती है। मोहनीयकर्मके दो भेद हैं—१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उपशमसे औपशमिक सम्यग्दर्शन और चारित्रमोहनीयके उपशमसे औपशमिक चारित्र प्रकट होता है। इस प्रकार औपशमिक भावके दो भेद हैं–१ औपशमिक सम्यक्त्व और २ औपशमिक चारित्र। ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे केवलज्ञान, दर्शनावरणके क्षयसे केवलदर्शन, दर्शनमोहके क्षयसे क्षायिकसम्यक्त्व, चारित्रमोहके क्षयसे क्षायिकचारित्र और दानान्तराय आदि पञ्चविध अन्तरायके क्षयसे क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग तथा क्षायिक वीर्य प्रकट होते है। इस प्रकार क्षायिक भावके नौ भेद है। मतिज्ञानावरणादि चार देशघाति प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मन पर्ययज्ञान ये चार ज्ञान प्रकट होते हैं। साथमे मिथ्यात्वका उदय रहनेसे मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञानरूप परिणमन करनेसे कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहलाते है। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरणका क्षयोपशम होनेसे चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन प्रकट होते हैं। दर्शनमोहके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तथा चारित्रमोहके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक चारित्र, और चारित्रमोहके अन्तर्गत अप्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशमसे देशचारित्र-सयमासयम होता है। इसी प्रकार पञ्चविध अन्तरायके क्षयोपशमसे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाच लब्धिया प्रकट होती हैं। सब मिलाकर क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद होते हैं। गतिनामकर्मके उदयसे नरकादि चार गतियाँ, क्रोधादि चार कषायोके उदयसे क्रोधादि चार कषाय, स्त्रीवेदादि नोकषायके उदयसे स्त्री आदि तीन लिङ्ग, दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व, चारित्रमोहके उदयसे असयतत्व, आठो कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व, केवलज्ञानावरणादिके उदयसे अज्ञान और क्रोधादि कषाय तथा भोग प्रवृत्तिके निमित्तसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्याएँ प्रकट होती हैं। इसप्रकार सब मिलाकर औदयिक भावके इक्कीस भेद होते है। पारिणामिक भावमे कर्मोंकी अपेक्षा नही रहती। इसके तीन भेद है—१ जीवत्व, २ भव्यत्व और अभव्यत्व। ये त्रेपन भाव जीवके असाधारण भाव कहलाते है परन्तु सब भाव सब जीवोमे पाये जावें यह सभव नही है। नाना जीवोकी अपेक्षा ही भावोकी त्रेपन सख्या सघटित होती है ॥२३—२५॥

आगे जीवके भेदोका वर्णन करते हैं—

संसारिमुक्तभेदेन जीवो द्वेधा विभिद्यते ।
तत्र कर्मचयातीत' सिद्धो नित्यो निरञ्जनः ॥२६॥
कृतकृत्यकलापोऽष्टगुणो लोकाग्रशेखरः ।
सच्चिदानन्दकन्देन संयुतः परमेश्वरः ॥२७॥
अनभ्राभ्रसमाकारो निर्मलस्फटिकोपम' ।
उद्भूतज्ञानमार्तण्डसहस्रीकश्चिरन्तनः ॥२८॥
निरंशः शुष्करागाब्धिः शान्तश्चामयनिर्गतः ।
निर्भयो निर्मलो हंसः सुधामा बोधमन्दिरम् ॥२९॥
विशुद्धो हतसंसारो निरङ्गः साम्यपूरितः ।
विषङ्गो बन्धहीनश्च कषायै रहितः शिवः ॥३०॥
विध्वस्तकर्मसंपाशोऽमलकेवलकेलिभाक् ।
संसारसिन्धुसंतीर्णोऽमोहोऽनन्तसुखोदधिः ॥३१॥
कलङ्करेणुवातश्च सुधीरो हतमन्मथः ।
रामातीतो विकारेभ्यो वर्जितः शोकतर्जनः ॥३२॥
विज्ञानलोचनद्वन्द्वलोकिताखिललोककः ।
विहारो रावशून्यश्च रङ्गमोहविनिर्गतः ॥३३॥
रजोमलच्युतो गात्रहीनोऽन्तर्बहि स्थितः ।
सौख्यपीयूषकासारः सम्यग्दर्शनराजितः ॥३४॥
नरामरेन्द्रवन्द्याङ्घ्रिर्निरन्तमुनिपूजितः ।
विहावोऽमलभावश्च नित्योदयविजृम्भितः ॥३५॥
महेशो दम्भतृष्णाभ्यां रहितोऽदोषसंचयः ।
परात्परो वितन्द्रश्च सारः शकरनामभाक् ॥३६॥
विकोप रूपशङ्कान्तो जन्ममृत्यु पराङ्मुख ।
दूरीकृतविहारश्चाचिन्तितो निर्मलोऽमदः ॥३७॥

छद्मस्थाचिन्त्यचारित्रो विदर्पोऽवर्णगन्धनः ।
विमानोऽलोभमायश्च विकायोऽशब्दशोभनः ।३८॥
अनाकुलोऽसहायश्च चारुचैतन्यलक्षणः ।
गुणालयः स्वरूपेण युक्तो जगदधीश्वरः ॥३९॥
किञ्चिदूनोऽन्तिमाद्देहाद् भेदवार्ताबहिर्गत ।
अनन्तकल्पकालेऽपि गते न प्राप्तनाशनः ॥४०॥
शुद्धो जीवो महामान्यैरुक्तो मुक्तो मुनीश्वरैः ।
अतः संसारिणं वक्ष्ये प्रपञ्चै रञ्चित परैः ॥४१॥

अर्थ—ससारी और मुक्तके भेदसे जीवके दो भेद है। उनमे जो कर्म-समूहसे रहित है वे मुक्त कहलाते हैं। इन्हे सिद्ध, नित्य और निरञ्जन भी कहते है ॥२६॥ सिद्ध भगवान् समस्त कार्य-कलापको कर चुके हैं अत कृतकृत्य है, सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे युक्त हैं, तीनलोकके ऊपर चूडा-मणिके समान स्थित हैं, सच्चिदानन्दकन्दसे सहित हैं, सर्वोत्कृष्ट ईश्वर है ॥२७॥ मेघ रहित आकाशके समान स्वच्छ आकार वाले है, निर्मल स्फटिकके तुल्य है, उत्पन्न हुए केवल-ज्ञानरूपी हजारो सूर्योंसे सहित है, चिरन्तन—सदाकाल विद्यमान रहने वाले हैं ॥२८॥ अशरहित—अखण्ड है, रागरूपी समुद्रको सुखाने वाले है, शान्त हैं, रोगोसे रहित हैं, निर्भय हैं, निर्मल है, आत्मस्वरूप हैं, उत्तम धाम—तेजसे सहित हैं, ज्ञान-के मन्दिर हैं ॥२९॥ विशुद्ध है, पञ्चपरावर्तनरूप ससारको नष्ट करने वाले हैं, शरीर रहित हैं, साम्यभावसे परिपूर्ण हैं, आसक्तिसे रहित हैं, बन्धहीन है, कषायसे शून्य हैं, आनन्दरूप हैं ॥३०॥ कर्मरूपी पाशको नष्ट करने वाले हैं, निर्मल केवलज्ञानकी क्रीडासे सहित हैं, ससार-सागरसे पार हो चुके हैं, मोहरहित है, अनन्तसुखके सागर है ॥३१॥ कलकरूपी धूलिको उड़ानेके लिये प्रचण्ड वायु हैं, सुधीर है, कामको नष्ट करनेवाले हैं, रामासे रहित है, विकारोसे दूर हैं, शोकको नष्ट करने वाले हैं ॥३२॥ केवलज्ञानरूपी लोचनयुगलके द्वारा समस्त लोकको देखनेवाले हैं, हरणसे रहित हैं, शब्दसे शून्य हैं, रङ्ग तथा मोहसे दूर हैं ॥३३॥ पापरूपी मलसे रहित हैं, शरीर रहित है, निरन्तर है, सुखरूप अमृतके सरोवर है, सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं ॥३४॥ नरेन्द्रो और देवेन्द्रोके द्वारा पूजित चरणोसे युक्त हैं, अनन्त मुनियोसे पूजित हैं, हावसे रहित है, निर्मल भावसे सहित हैं, नित्योदयसे सुशोभित हैं ॥३५॥ महेश

हैं, दम्भ और तृष्णासे रहित है, दोषसमूहसे शून्य है, श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ है, तन्द्रासे रहित है, सारभूत है, शकर नामसे सहित है ॥३६॥ क्रोध रहित है, रूप तथा शङ्कासे दूर हैं, जन्म-मरणसे विमुख हैं, विहार—परिभ्रमणसे रहित है, अचिन्तित है, निर्मल है, निर्मद है ॥३७॥ अज्ञानी-जनोके द्वारा अचिन्तनीय चारित्रसे सहित हैं, दर्परहित है, वर्ण और गन्धसे शून्य है, मानरहित है, लोभ तथा मायासे दूर हैं, कायरहित हैं, शब्दोकी शोभासे परे है ॥३८॥ आकुलता रहित है, परकी सहायतासे निरपेक्ष है, सुन्दर चैतन्यरूप लक्षणसे सहित है, गुणोके घर हैं, स्वरूपसे युक्त हैं, जगत्के स्वामी है ॥३९॥ अन्तिम शरीरसे कुछ कम अवगाहना वाले है, भेदकी वार्तासे बहिर्भूत हैं और अनन्त कल्पकाल बीत जानेपर भी कभी नाशको प्राप्त नही होते है ॥४०॥ ऐसे शुद्ध जीव महामान्य मुनिराजोके द्वारा मुक्त कहे गये है । अब बहुत भारी प्रपञ्चोसे युक्त ससारी जीवका कथन करते है ॥४१॥

संसारी जीव—

द्रव्ये क्षेत्रे तथा काले भवे भावे च ये पुनः ।
पञ्चधाभिन्नसंसारे चिरं सीदन्ति जन्तवः ॥४२॥
धृतकर्मकलापास्ते जन्ममृत्युवशगताः ।
संसारिणः समुच्यन्ते योगिभिः सुचिरन्तनै. ॥४३॥

अर्थ—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पाच प्रकारके ससारमे चिरकालसे भ्रमण कर रहे है, कर्मसमूहको धारण करनेवाले हैं, तथा जन्म मरणके वशीभूत है वे चिरन्तन मुनियोके द्वारा ससारी जीव कहे जाते हैं ॥४२-४३॥

द्रव्य परिवर्तन—

यादृशैर्हि निजैर्भावैः प्रचण्डावरमध्यमैः ।
यादृशा पुद्गलस्कन्धा गृहीता येन जन्तुना ॥४४॥
स्वस्थितेरनुरूपं च स्थित्वा तेषु गतेष्वपि ।
अन्तःकाले गृहीता याश्चागृहीतादिवर्गणा ॥४५॥
तासु चापि यथाकालं निर्जीर्णासु सतीषु च ।
तेनैव तादृशैर्भावैस्तादृशाः कर्मणां चया ॥४६॥

भविष्यन्ति गृहीताश्चेद् यावता तावता खलु ।
कालेन द्रव्यसंसारो भवेन्मिथ्यात्वमूलकः ॥४७॥
कर्म-नोकर्मभेदेन सोऽपि द्वेधा मतोऽर्हता ।

अर्थ—जिस जीवने जैसे तीव्र, मन्द अथवा मध्यम भावोसे जैसे पुद्गल स्कन्धोको ग्रहण किया है, वे अपनी स्थितिके अनुरूप रहकर निर्जीर्ण हो गये । पश्चात् बीचमे गृहीत तथा अगृहीत आदि वर्गणाओको ग्रहण किया गया । पश्चात् वे वर्गणाएँ भी यथाकाल निर्जीर्ण हो चुकी । तदनन्तर उसी जीवके द्वारा वैसे ही भावोसे वैसे ही कर्मोंके समूह ग्रहण किये जावें । इसमे जितना काल लगता है उतने कालको द्रव्यससार—द्रव्य परिवर्तन कहते है । इसका मूल कारण मिथ्यात्व है । कर्म परिवर्तन तथा नोकर्म परिवर्तनके भेदसे द्रव्य परिवर्तनके दो भेद अर्हन्त भगवान्ने कहे हैं ।

विशेषार्थ—द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद होते हैं—१-नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और २-कर्मद्रव्यपरिवर्तन । इनका स्वरूप इस प्रकार है—(१) किसी जीवने स्निग्ध रूक्ष वर्ण गन्धादिके तीव्र मन्द अथवा मध्यमभावोमेसे यथा-सम्भव भावोसे युक्त औदारिक तथा वैक्रियिक शरीरोमेसे किसी शरीर सम्बन्धी छह पर्याप्तिरूप परिणमने योग्य पुद्गलोका एक समयमे ग्रहण किया । पीछे द्वितीयादि समयमे उस द्रव्यकी निर्जरा कर दी । पश्चात् अनन्त बार अगृहीत पुद्गलोको, अनन्त बार मिश्र पुद्गलोको, और अनन्त बार गृहीत पुद्गलोको ग्रहणकर छोड दिया । तदनन्तर वही जीव उन ही स्निग्ध रूक्षादि भावोंसे युक्त उन ही पुद्गलोको जितने समय बाद ग्रहण करे उतने कालसमूहको **नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन** कहते हैं । (२) इसी प्रकार किसी जीवने ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमनेवाले पुद्गल परमाणुओको ग्रहण किया और आबाधाके अनुसार उस द्रव्यकी निर्जरा कर दी । पश्चात् अगृहीत, मिश्र और गृहीत वर्गणाओको अनन्त बार ग्रहण कर छोड दिया । तदनन्तर वही कर्मपरमाणु उसी जीवके उसी प्रकार ग्रहणमे आवे । इसमे जितना समय लगता है उतने समयको कर्म-द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं ।

इस परिवर्तनके (१) अगृहीत, मिश्र, गृहीत (२) मिश्र, अगृहीत, गृहीत, (३) मिश्र, गृहीत, अगृहीत और (४) गृहीत, मिश्र, अगृहीत—वर्ग-णाओको मध्यमे ग्रहण करनेकी अपेक्षा चार पाये होते हैं । नोकर्मपरि-वर्तन और कर्मपरिवर्तन, इनमेंसे किसी एक परिवर्तनके कालको अर्ध-

पुद्गलपरिवर्तन कहते है। द्रव्यपरिवर्तनका ही दूसरा नाम पुद्गल परिवर्तन है। ॥४४-४७॥

क्षेत्रपरिवर्तन—

> **यावता कालमानेनोत्पद्येतायमहो जनः ॥४८॥**
> **अखिलस्यापि लोकस्य प्रदेशेषु निरन्तरम् ।**
> **तावता क्षेत्रसंसारो दुःखसारो भवेदसौ ॥४९॥**

अर्थ—यह जीव जितने समयमे समस्त लोकके प्रदेशोमे निरन्तर उत्पन्न हो ले, इसमे जितना काल लगे उतना क्षेत्रपरिवर्तन होता है। यह परिवर्तन दु खोसे परिपूर्ण है।

विशेषार्थ—क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद हैं—१ स्वक्षेत्रपरिवर्तन और २ परक्षेत्रपरिवर्तन। इनका स्वरूप इस प्रकार है—(१) जघन्य अवगाहनासे लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक एक-एक प्रदेश वृद्धिके क्रमसे समस्त अवगाहनाके विकल्पोको धारण करनेमे जितना समय लगता है उसे **स्वक्षेत्रपरिवर्तन** कहते हैं। जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके घनाङ्गुलके असख्यातवें भाग प्रमाण होती है और उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यके एक हजार योजन प्रमाण होती है। इन दोनो अवगाहनाओके बीच मध्यम अवगाहनाके अनेक विकल्प हैं। (२) मेरु पर्वतके नीचे लोकके आठ मध्य प्रदेश हैं, उन्हे आत्माके आठ मध्य प्रदेशोसे व्याप्त कर कोई जीव उत्पन्न हुआ। पुनः मरकर उसी स्थानपर असख्यात बार उत्पन्न हुआ। तदनन्तर एक-एक प्रदेशको बढाता हुआ क्रमसे समस्त लोकाकाशमे उत्पन्न हुआ और मरा। इसमे जितना समय लगता है उतने समयको **परक्षेत्रपरिवर्तन** कहते हैं ॥४८-४९॥

कालपरिवर्तन—

> **उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो समये समयेऽपि च ।**
> **नैरन्तर्येण जातस्य जन्तोरस्य मृतस्य च ॥५०॥**
> **यावान्कालो भवेन्नूनं भवे पर्यटतश्चिरम् ।**
> **सर्वज्ञेन पुनस्तावान् कालससार उच्यते ॥५१॥**

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके प्रत्येक समयमे लगातार उत्पन्न हुए और मरे हुए जीवको जितना काल लगता है, सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा उतना काल, कालपरिवर्तन कहा जाता है।

विशेषार्थ—कोई जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ

और अपनी आयु प्रमाण जीवित रहकर मर गया। पुन: बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण एक कल्पकालके बीत जानेपर वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी-के द्वितीय समयमे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके प्रत्येक समयमे क्रमानुसार उत्पन्न होने और मरनेमे जितना समय लगता है उतने समयको कालपरिवर्तन कहते हैं ॥५०-५१॥

भवपरिवर्तन—

नारकप्रभृतौ योनौ बहुकृत्वोऽधमस्थितिम् ।
गृहीत्वोत्पद्यमानस्य मध्यमाश्च ततः स्थितीः ॥५२॥
सर्वा क्रमेण सगृह्योद्भवतः पुनरुत्तमाम् ।
आदायोज्जायमानस्य जीवस्यास्य निरन्तरम् ॥५३॥
यावन्मानो भवेत्कालो विलीनो भ्रमतो भवे ।
तावन्मानो भवेन्नूनं संसारो भवसंज्ञकः ॥५४॥

अर्थ—कोई जीव नारकादि योनियोमे अनेकबार जघन्य स्थितिको लेकर उत्पन्न हुआ, पश्चात् समस्त मध्यम स्थितियोको निरन्तर लेकर उत्पन्न हुआ, तदनन्तर उत्तम स्थितिको ग्रहण कर उत्पन्न हुआ, इस प्रकार चारो गतियोमे भ्रमण करनेवाले इस जीवका जितना काल व्यतीत होता है उतना काल भवपरिवर्तन कहलाता है।

विशेषार्थ—कोई जीव प्रथम नरककी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण होनेपर मरकर मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ। पुन उसी नरकमे दश हजार वर्षकी स्थिति लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दश हजार वर्षोंमे जितने समय होते हैं उतनी बार दश हजार वर्षकी स्थितिको लेकर उत्पन्न हुआ। पश्चात् एक-एक समय बढाते हुए नरक गतिकी तेतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति लेकर उत्पन्न होता है। पश्चात् तिर्यञ्च आयुकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य तक-की उत्कृष्ट स्थितिको पूरा करता है। फिर मनुष्य आयुकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्य तककी उत्कृष्ट स्थितिको पूर्ण करता है। तदनन्तर देवायुकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षसे लेकर इकतीस सागर तककी आयुको क्रमसे पूरा करता है। इनमे जितना काल लगता है उतने कालको कालपरिवर्तन कहते हैं। यद्यपि देवोकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी होती है तथापि परिवर्तनमे इकतीस सागर तककी ही आयु सम्मिलित की गई है क्योकि इससे अधिक स्थिति सम्यग्दृष्टिको ही

प्राप्त होती है और सम्यग्दृष्टि जीवको परिवर्तनसे परे माना गया है ॥५२-५४॥

भावपरिवर्तन—

कश्चित्पर्याप्तकः संज्ञी पर्याप्तो हृतदर्शनः ।
जघन्यां सर्वतो योग्यां प्रकृतेर्बोधरोधिनः ॥५५॥
आपद्यते स्थितिं ह्यन्तःकोटीकोटीप्रमाणिकाम् ।
तदीयं च कषायाध्यवसायस्थानजालकम् ॥५६॥
असंख्यलोकसमानं स्थानषट्कप्रवर्तितम् ।
स्थितियोग्यं भवेदेव, तावन्मानाथ तत्र च ॥५७॥
सर्वाधमकषायाध्यवसायस्थानहेतुका ।
भवेदेवानुभागाध्यवसायस्थानसंहतिः ॥५८॥
तदेवं सर्वतो हीनां स्थितिं सर्वजघन्यकम् ।
कषायाध्यवसायस्थानञ्च तादृक्षमेव हि ॥५९॥
आस्कन्दतोऽनुभागाख्यबन्धस्थानं हि देहिनः ।
योगस्थानं भवेदेकं जघन्य सर्वतोऽपि च ॥६०॥
अथ स्थितिकषायानुभागस्थानसुसंहतेः ।
असंख्यभागसवृद्धं योगस्थानं द्वितीयकम् ॥६१॥
भवेदेवं तृतीयादियोगस्थानानि तानि च ।
चतुःस्थानप्रपन्नानि श्रेण्यसंख्येयभागतः ॥६२॥
मितान्येव भवन्त्येव तथा तामेव च स्थितिम् ।
तदेव च कषायाध्यवसायस्थानमायतः ॥६३॥
द्वितीयमनुभागाध्यवसायस्थानकं भवेत् ।
पूर्ववद् वेदितव्यानि योगस्थानानि तस्य च ॥६४॥
इत्थमुत्तरभेदेष्वसंख्यलोकसमाप्तितः ।
यावत्संवेदितव्यानि तानि चापि यथागमम् ॥६५॥
एवं ह्यापद्यमानस्य स्थितिं तामेव कर्मणः ।
अप्रथमं कषायाध्यवसायस्थानकं भवेत् ॥६६॥

एतस्याप्यनुभागाध्यकषायस्थानमण्डलम् ।
योगस्थानकलापश्च पूर्वतुल्यं भवेत्पुनः ॥६७॥
इत्थमेवाग्रभेदेषु चेयमेतत्प्रपञ्चनम् ।
समयेनाधिकायाश्च जघन्यायाः स्थिते पुन ॥६८॥
वन्धनं पूर्ववज्ज्ञेयं सम्यग्दर्शनशालिभिः ।
अयमेव क्रमो वोध्यो वोधरोधककर्मण· ॥६९॥
आ उत्कृष्टस्थितेर्वन्धे त्रिंशत्सागरसंमितेः ।
भेदप्रभेदभिन्नानामखिलानाञ्च कर्मणाम् ॥७०॥
अखण्डोऽयं क्रमः प्रोक्तः पण्डार्मण्डितपण्डितैः ।
तदेतन्मिलितं सर्वं भावाख्यं परिवर्तनम् ॥७१॥

अर्थ—कोई सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव, ज्ञानावरण कर्मकी अपने योग्य सवसे जघन्य स्थिति अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण बांध रहा है। उस जीवके उस स्थितिके योग्य, अनन्तभागवृद्धि आदि षट्स्थानोमे प्रवर्तमान असख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोका समूह होता है। और उसीके सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तक असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोका समूह होता है। इस प्रकार सर्वजघन्यस्थिति, सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य-अनुभागाध्यवसायस्थानको प्राप्त होनेवाले उस जीवके सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है। तदनन्तर उन्ही स्थिति, कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवसायस्थानोका असख्यातभागवृद्धिसे युक्त द्वितीय योगस्थान होता है। इस प्रकार असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुण-वृद्धि और असख्यातगुणवृद्धि इन चार स्थानोमे प्रवर्तमान जगत्श्रेणीके असख्यातवें भागप्रमाण तृतीयादि योगस्थान होते हैं। तत्पश्चात् उसी स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके द्वितीय अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। उस अनुभागाध्यवसायस्थानके योगस्थान भी पहलेकी तरह जानना चाहिये। इस प्रकार असख्याते-लोकप्रमाण जो तृतीयादि अनुभागाध्यवसायस्थान हैं उनके भी योगस्थान आगमानुसार जानना चाहिये। इस तरह उसी ज्ञानावरणकर्मको सर्व-जघन्य अन्त कोटीकोटी सागर प्रमाण स्थितिको बांधनेवाले उस जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। इस कषायाध्यवसायस्थानके भी

अनुभागाध्यवसायस्थानोंका समूह तथा योगस्थानोका समूह पहलेके समान होता है। इसी प्रकार आगेके भेदो—तृतीयादि कपायस्थानोमे भी यह सब विस्तार लगाना चाहिये। तत्पश्चात् समयाधिक जघन्य-स्थितिका बन्ध भी पूर्ववत् जाननेके योग्य है। एक-एक समयकी वृद्धि करते-करते ज्ञानावरणकर्मकी जो तीस कोडाकोड़ी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है उसके बन्धका भी यही क्रम सम्यग्दर्शनसे सुशोभित जीवोको जानना चाहिये। भेद-प्रभेदोके द्वारा अनेकरूपताको प्राप्त समस्त कर्मोंका यह अखण्ड क्रम बुद्धिविभूषित विद्वानोंके द्वारा कहा गया है। यही सब मिलकर भावपरिवर्तन कहा जाता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरणादि समस्त कर्मोंकी जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तकके बन्धमे कारणभूत योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, कषायाध्यवसायस्थान और स्थितिस्थानोके परिर्तनमे जो समय लगता है वह भावपरिवर्तन कहलाता है। योगस्थान आदिके परिवर्तनका क्रम इस प्रकार है—जगत् श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोके होने पर एक अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है। असख्यातलोकप्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोके हो जानेपर एक कषायाध्यवसायस्थान होता है और असख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक स्थितिस्थान होता है। इस क्रमसे ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियो तथा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है ॥५५-७१॥

आगे गुणस्थानादि बीस प्ररूपणाओके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

संसारगर्तमध्यस्थास्त इमे प्राणिनोऽधुना।
गुणस्थानादिभेदेन वर्ण्यन्तेऽत्र यथागमम् ॥७२॥

अर्थ—ससाररूपी गर्तके मध्यमे स्थित इन जीवोका अब गुणस्थान आदिके भेदसे आगमानुसार वर्णन किया जाता है ॥७२॥

आगे गुणस्थानका लक्षण और भेद कहते हैं—

मोहयोगनिमित्तेन जीवभावा भवन्ति ये।
गुणस्थानाख्यया ज्ञेयास्ते चतुर्दशसंख्यकाः ॥७३॥
मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतादिः सुदर्शनः।
देशव्रती प्रमत्तश्चाप्रमत्तोऽपूर्वसंज्ञकः ॥७४॥

अनिवृत्तिसमाख्यातः सूक्ष्मलोभेन संयुत· ।
शान्तमोहः क्षीणमोहः सयोगो जिनसंज्ञकः ॥७५॥
अयोगो जिन इत्येवं ज्ञातव्यानि चतुर्दश ।
गुणस्थानानि वर्ण्यन्ते यथाशास्त्रं स्वरूपतः ॥७६॥

अर्थ—मोह और योगके निमित्तसे जीवके जो भाव होते हैं उन्हें गुणस्थान कहते है वे चौदह होते हैं ॥७३॥ १ मिथ्यादृष्टि २ सासन ३ मिश्र ४ असयत सम्यग्दृष्टि ५ देशव्रती ६ प्रमत्तविरत ७ अप्रमत्तविरत ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मलोभ ११ शान्तमोह १२ क्षीण-मोह १३ सयोगजिन और १४ अयोगजिन । ये चौदह गुणस्थान जानना चाहिये । अब इनका शास्त्रानुसार स्वरूपसे वर्णन किया जाता है। ॥७३-७६॥

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—

तीव्रमोहोदयोत्पन्नमिथ्यादर्शनलाञ्छितः ।
आप्तागमपदार्थेषु श्रद्धानेन वहिर्गतः ॥७७॥
लौकिकालौकिकान् लोकान् हितोद्देशनतत्परान् ।
अन्यथा मन्यमानोऽन्तर्गतमिथ्यात्वभावतः ॥७८॥
पूज्यानामपि पूज्यानां तथ्य पथ्य च देशनम् ।
श्रद्धानोऽन्यथा पित्तज्वरी दुग्ध जनो यथा ॥७९॥
मिथ्यादृष्टिगुणस्थानस्थितो मिथ्यात्वमण्डनः ।
हंहो ! हन्त भवेन्मूढो लोको वाह्यविलोचनः ॥८०॥

अर्थ—जो तीव्रमोहके उदयसे उत्पन्न मिथ्यादर्शनसे सहित है, आप्त, आगम और पदार्थविषयक श्रद्धासे रहित है, हितका उपदेश देनेमे तत्पर विद्यागुरु आदि लौकिक तथा मुनि आदि अलौकिक जनोको अन्यथा मानता है । जिस प्रकार पित्तज्वरवाला मनुष्य दूधको अन्यथा मानता है उसी प्रकार जो अन्तर्गत मिथ्यात्वरूप भावसे पूज्योके भी पूज्यजनोंके वास्तविक तथा हितकारी उपदेशको अन्यथा समझता है तथा मिथ्यात्वसे युक्त है वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमे स्थित कहलाता है । अहो ! बड़े खेदकी बात है कि वह अज्ञानी शरीरादि बाह्य पदार्थोंको ही देखता है अर्थात् उन्हे ही आत्मा जानता है ॥७७-८०॥

(क) स्वस्थान मिथ्यादृष्टि—

योऽयं सम्यक्त्वलाभाय चेष्टते न हि जातुचित् ।
अत्यन्तदीर्घसंसारः स स्वस्थानसुसंज्ञकः ॥८१॥

अर्थ—जो सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये कभी उद्यम नही करता है वह अत्यन्त दीर्घससारी स्वस्थानमिथ्यादृष्टि है ॥८१॥

(ख) सातिशय मिथ्यादृष्टि—

यश्च सम्यक्त्वसंप्राप्त्यै चेष्टते मन्दमोहवान् ।
तं हि सातिशयाख्यानं विद्धि मिथ्यादृशं जनम् ॥८२॥

अर्थ—जो मन्दमोहवाला जीव, सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये उद्यम करता है—अध करण आदि परिणामोको करता है उसे सातिशय मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥८२॥

(२) सासन (सासादन) गुणस्थान—

सम्यग्दर्शनवेलायां यदैक. समयोऽवरात् ।
आवलीनां षडुत्कृष्टात् सम्यग्दृष्टेश्च शिष्यते ॥८३॥
तदानन्तानुबन्ध्याख्यचतुष्कान्यतमोदये ।
आसादनाभिसंयुक्तः सम्यग्दर्शनशोभनः ॥८४॥
सम्यक्त्वशृङ्गिशृङ्गाग्रान्मिथ्यात्वाख्यवसुन्धराम् ।
अभ्यागच्छन् जनो मध्यस्थितः सासादनो भवेत् ॥८५॥
प्रथमान्यगुणस्थाने वर्तमानो जनः पुनः ।
नीचैरेव पतत्येव नात्र कश्चन संशयः ॥८६॥

अर्थ—जब सम्यग्दर्शनके कालमे कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक छह आवलीका काल शेष रह जाता है तब सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभमेसे किसी एकका उदय आने पर जो विराधनासे युक्त हो गया है तथा जो सम्यक्त्वरूपी पर्वतके शिखरके अग्रभागसे गिरकर मिथ्यात्वरूपी भूमिके सन्मुख आ रहा है वह मध्यमे स्थित जीव सासादन सम्यग्दृष्टि होता है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वका काल रहनेसे यह यद्यपि सम्यग्दृष्टि कहलाता है तथापि अनन्तानुबन्धीका उदय आ जानेके कारण, आसादना—विराधनासे

सहित होता है । द्वितीय गुणस्थानमे रहने वाला जीव नियमसे नीचे ही गिरता है इसमे कोई सशय नही है ॥८३-८६॥

(३) मिश्रगुणस्थान—

सम्यग्दर्शनवेलायां मिश्रमोहोदयादयम् ।
जीवो मिश्ररुचिर्नून भवेन्मिश्राभिधानक. ॥८७॥
अत्र स्थितस्य जीवस्य सपृक्तैक्षवतक्रवत् ।
परिणामो भवेन्नाम पृथक्कर्तुमनीश्वरः ॥८८॥
नात्र स्थितो जनः कोऽपि पञ्चतामञ्चति क्वचित् ।
पूर्वत्रापि परत्रापि गत्वा मृत्युमुख व्रजेत् ॥८९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके कालमे सम्यड्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय आ जानेसे जिसकी श्रद्धा मिश्ररूप—सम्यड्मिथ्यात्वरूप हो गई है वह निश्चयसे मिश्र—सम्यड्मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती कहलाता है । इस गुणस्थानमे स्थित जीवका परिणाम मिले हुए गुड और छाछके समान पृथक् पृथक् नही किया जा सकता । इस गुणस्थानमे स्थित कोई भी जीव न मृत्युको प्राप्त होता है (और न मारणान्तिक समुद्धात करता है) यदि मरणका काल आ गया है तो पहले या चौथे गुणस्थानमे जाकर मरणको प्राप्त होता है । (यह गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थानसे पतित होने पर प्राप्त होता है और किन्ही किन्ही सादि मिथ्यादृष्टि जीवको पहलेसे चढ़ने पर भी प्राप्त होता है) ॥८७-८९॥

(४) अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—

मोहनीयस्य सप्तानां भेदानामुपशान्तितः ।
उभयाद्वा क्षयाद्वापि प्राप्तसम्यक्त्वसन्निधिः ॥९०॥
चारित्रावरणोदीतेरनासादितसयमः ।
अन्तरात्माल्पसंसारो जिनपादाब्जषट्पदः ॥९१॥
श्रद्दधानः सदा तत्त्वकलाप जिनदेशितम् ।
गुरूणां तु नियोगेनासन्त चापि कदाचन ॥९२॥
भूयः सत्योपदेशेन त्यजन् तां भाववासनाम् ।
असंयतो भवन् सम्यग्दृष्टिः समभिधीयते ॥९३॥

अर्थ—मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमसे जिसे सम्यक्त्वरूपी उत्तम निधिकी प्राप्ति हुई है परन्तु चारित्रमोहनीयके उदयसे जिसे सयम प्राप्त नही हुआ है, जो अन्त-रात्मा है अर्थात् शरीरसे भिन्न आत्माके अस्तित्वको स्वीकृत करता है, अल्पसंसारी है, जिनेन्द्र भगवान्के चरणकमलोका भ्रमर है और सदा जिननिरूपित तत्त्वसमूहकी श्रद्धा करता है। कदाचित् गुरुओके नियोगसे अर्थात् अज्ञानी गुरुओके उपदेशसे असद्भूत तत्वकी भी श्रद्धा करता है परन्तु पश्चात् सत्य उपदेशके द्वारा उस मिथ्या वासनाको छोड़ देता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

विशेषार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि चारित्रमोहनीयका उदय रहनेसे व्रत धारण नही करता है तथापि मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्यागी होता है। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण-का धारक होता है। यह जिननिरूपित तत्त्वकी ही श्रद्धा करता है। कदाचित् किसी अज्ञानी गुरुके उपदेशसे विपरीत तत्त्वकी भी श्रद्धा करता है परन्तु जब किसी अन्य ज्ञानवान् गुरुओके द्वारा उसकी भूल बताई जाती है तब वह उस विपरीत श्रद्धाको छोड़ देता है। यदि बताये जाने पर भी दुराग्रहवश उस विपरीत श्रद्धाको नही छोडता है तो फिर उस समयसे मिथ्यादृष्टि हो जाता है। प्रारम्भके चार गुणस्थान चारो गतियोमे होते है ॥९०-९३॥

(५) देशव्रतगुणस्थान—

अप्रत्याख्यानकारातिक्षयोपशमतः पुनः।
त्रसहिंसानिवृत्तोऽप्यनिवृत्तोऽत्रसहिंसनात् ॥९४॥
एकादशसु भेदेषु विभक्तो देशतो व्रती।
संयतासंयतः प्रोक्तः संयतानां महीश्वरैः ॥९५॥
श्रावकाणां व्रतं वक्ष्ये सूक्तियुक्तिपुरस्सरम्।
यथागमं यथाप्रज्ञं सम्यक्चारित्रवर्णने ॥९६॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो त्रसहिंसासे निवृत्त होने पर भी स्थावरहिंसासे निवृत्त नही हुआ है तथा जो ग्यारह भेदोमे विभक्त है, वह सयमी जीवोके सम्राट् जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा देशविरत अथवा सयतासयत कहा गया है। श्रावकोके व्रतोका वर्णन सम्यक्चारित्रका वर्णन करते समय आगम और अपनी बुद्धिके अनुसार सूक्ति तथा युक्ति सहित करूँगा ॥९४-९६॥

विशेषार्थ—जिस सम्यग्दृष्टि जीवके अप्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम तथा प्रत्याख्यानावरणादिकर्मोंका उदय रहता है वह हिंसादि पाच पापोका एकदेश परित्याग करता है अर्थात् त्रसजीवोकी सकल्पी हिंसाका त्याग करता है परन्तु प्रारम्भमे आरम्भी, विरोधी और उद्यमी त्रसहिंसा और स्थावरहिंसाका त्याग नही करता है वह देशविरत कहलाता है। त्रसहिंसाका त्यागी होनेसे सयत और स्थावरहिंसाका त्यागी नही होनेसे असयत इस प्रकार एक ही कालमे संयतासयत कहलाता है। यह गुणस्थान तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमे ही होता है ॥९४–९६॥

(६) **प्रमत्तविरत गुणस्थान**—

> **प्रत्याख्यानावृतेर्नून क्षयोपशमतस्ततः ।**
> **संभृताखिलवृत्तोऽपि प्रमादोपहतस्तु यः ॥९७॥**
> **प्रमत्तविरतः सोऽय विरतैरुच्यते मतिः ।**
> **अस्यापि पूर्णचारित्रमग्रे वक्ष्याम्यशेषतः ॥९८॥**

अर्थ—जो प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम हो जानेसे यद्यपि सकलचारित्रको धारण कर रहा है तथापि (सज्वलनका तीव्रोदय होनेसे) प्रमादसे उपहत हो रहा है वह मुनि ऋषियोके द्वारा प्रमत्तविरत कहा जाता है। इसका भी पूर्ण चारित्र आगे विस्तारमे कहूँगा ॥९७–९८॥

(७) **अप्रमत्तविरत**—

> **प्रमादप्रसरं त्यक्त्वा यो ध्याने समवस्थित ।**
> **अप्रमत्तयतिः सोऽयं प्रोच्यते पूर्वसूरिभिः ॥९९॥**
> **अयमस्ति विशेषोऽत्र यः श्रेण्योः किल संमुखः ।**
> **पूर्वोत्तरत्रभावानां समयेष्वपि साम्यतः ॥१००॥**
> **अध करणनामा स सूक्तः संयमिभिर्यमी ।**
> **यश्च श्रेणिबहिर्भूतः स्वस्थानस्थित एव सः ॥१०१॥**

अर्थ—जो प्रमादके प्रसारको छोडकर ध्यानमे अवस्थित है वह पूर्वाचार्योंके द्वारा अप्रमत्तविरत कहा जाता है। इस गुणस्थानमे यह विशेषता है कि जो मुनि उपशम अथवा क्षपकश्रेणीके सन्मुख होता है वह पूर्व तथा आगामी समयोंमे परिणामोकी समानता होनेके कारण मुनियोंके द्वारा अध करण नाम वाला कहा गया है और जो श्रेणीसे बहिर्भूत है अर्थात् श्रेणी माढनेके समुख नही है वह स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहलाता है।

विशेषार्थ—छठवें गुणस्थानमे सज्वलनका अपेक्षाकृत तीव्र उदय रहनेसे प्रमादकी सत्ता रहती है, परन्तु सप्तम गुणस्थानमे सज्वलनका उदय अपेक्षाकृत मन्द हो जाता है अत. प्रमादका अभाव हो जाता है। चार विकथा, चार कषाय, पञ्चेन्द्रियोके पाच विषय, निद्रा और स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद कहलाते हैं। सप्तम गुणस्थान ध्यानकी अवस्थामे होता है अत' वहा प्रमादका अभाव माना गया है। सप्तम गुणस्थानके दो भेद है—१ सातिशय अप्रमत्तविरत और २ स्वस्थान अप्रमत्तविरत। जो उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी चढनेके सम्मुख है वह सातिशय अप्रमत्तविरत कहलाता है। इसका दूसरा नाम अध करण भी है क्योंकि इसमे मुनिके करण—परिणाम पिछले समयके परिणामोसे मिलते-जुलते होते हैं। और जो मुनि श्रेणी चढनेके सन्मुख नही है किन्तु अन्तर्मुहूर्तके भीतर गिरकर छठवें गुणस्थानमे आ जाने वाला है वह स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहलाता है। स्वस्थान अप्रमत्तविरत हजारो बार छठवें गुणस्थानमे गिरता है और फिर सातवेंमे पहुँचता है ॥९९--१०१॥

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—

ततोऽधिकविशुद्धया यो वर्धमानो विराजते ।
अपूर्वान् करणान्प्राप्तः समय समयं प्रति ॥१०२॥
अपूर्वाः करणा यस्य सन्ति संयतभूपतेः ।
सोऽपूर्वकरणाभिख्यो ज्ञेयो मान्यगुणाश्रयः ॥१०३॥

अर्थ—सप्तमगुणस्थानकी अपेक्षा जो अधिक विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होता हुआ शोभायमान है तथा समय-समयके प्रति जिस मुनिराजके अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते है वह अपूर्वकरण नामवाला जानना चाहिये। यह मुनि उत्तम गुणोका आधार होता है ॥१०२-१०३॥

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—

निवृत्त्या यत्र जीवानां करणाः समकालिनाम् ।
विभिन्ना नो भवन्त्येव निखिलेऽपि महीतले ॥१०४॥
भवेत्तद्धि गुणस्थानमनिवृत्त्यभिधानकम् ।
तत्रस्थः संयतैश्चोक्तोऽनिवृत्तिकरणो यतिः ॥१०५॥

अर्थ—जिस गुणस्थानमे समसमयवर्ती जीवोके परिणाम सम्पूर्ण महीतलमे विशेषतासे विभिन्न नही होते किन्तु समान ही होते है वह

अनिवृत्तिकरण नामका गुणस्थान है और उसमें स्थित मुनि ऋषियोंके द्वारा अनिवृत्तिकरण कहा गया है ॥१०४-१०५॥

(१०) सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान—

सूक्ष्मरागोदयेनेषद् रञ्जितः खलु यो भवेत् ।
किञ्चिदूनो यथाख्यातचारित्रात्संयतेन्द्रिय ॥१०६॥
वर्धमानविशुद्ध्याभिमण्डितोऽखण्डितात्मवान् ।
साम्पराय. स सूक्ष्मादिः प्रोच्यते मुनिसत्तमैः ॥१०७॥

अर्थ—सज्वलनलोभ सम्बन्धी सूक्ष्मरागसे जो किञ्चित् रागभावको प्राप्त हो रहा है, जो यथाख्यात चारित्रसे कुछ ही न्यून है, जिसने इन्द्रियोंको अच्छी तरह वश कर लिया है, जो बढती हुई विशुद्धिसे सुशोभित है तथा रागादि विकारी भावोंसे अखण्डित आत्मासे युक्त है उसे उत्तम मुनिराज सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती कहते हैं ॥१०६-१०७॥

(११) उपशान्तमोह गुणस्थान—

यथा शारदकासारो निर्मलात्मा भवेत्तु यः ।
सर्वथा शान्तमोहाख्यकर्दमो वरवृत्तभाक् ॥१०८॥
निर्वातनिस्तरङ्गाब्धिरिव निश्चलमानसः ।
विगताखिलसंकल्पो निवृत्ताखिलवाञ्छनः ॥१०९॥
आत्मनात्मनि संलीनः शुद्धभावविभूषित ।
शान्तमोह स संप्रोक्तो मुनिर्मान्यगुणालयः ॥११०॥
इदमीयः प्रसादोऽयं किन्तु नैव स्थिरो भवेत् ।
दुर्जनान्तःप्रसादो व झगित्येव विनश्यति ॥१११॥

अर्थ—जो शरद् ऋतुके तालाबके समान निर्मलात्मा होता है, जिसका मोहरूपी पङ्क सर्वथा शान्त हो गया है, जो उत्कृष्ट चारित्र अर्थात् यथाख्यात चारित्रसे सहित है, वायुके अभावमे निस्तरङ्ग समुद्रके समान जिसका मन निश्चल है, जिसके समस्त सकल्प नष्ट हो चुके हैं, जिनकी सब इच्छाएँ समाप्त हो गई हैं, जो अपने आपके द्वारा अपने आपमे लीन है, शुद्ध—वीतरागभावसे विभूषित है, तथा उत्तम गुणोंका आलय है वह मुनि उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती कहा गया है। यह सब है किन्तु इस गुणस्थानवर्ती मुनिकी निर्मलता स्थिर नही रहती वह दुर्जनके मनकी प्रसन्नताके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१०८-१११॥

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान—

येन ध्यानकृपाणेन मोहः संशायितः सुखम् ।
दीर्घनिद्रां त्रिकालेऽपि न मोक्ष्यत्येव कुत्रचित् ।।११२।।
शुद्धस्फटिकपात्रस्थनिर्मलोदकवृन्दवत् ।
निर्मलात्मा सदा यः स्यात् क्षीणमोहः स उच्यते ।।११३।।

अर्थ—जिनके द्वारा ध्यानरूपी तलवारसे सुखपूर्वक सुलाया हुआ मोह तीनकालमे भी कही दीर्घ निद्राको नही छोड़ेगा और जो शुद्ध स्फटिकके पात्रमें रखे हुए निर्मल जलसमूहके समान सदा निर्मलात्मा रहता है वह क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती कहा जाता है ।।११२-११३।।

(१३) सयोगजिन—

शुक्लध्यानोग्रहव्याशहुतघातिविधीन्धनः ।
मेघमालाविनिर्मुक्तो रश्मिमालीव राजितः ।।११४।।
सज्ज्ञानदिव्यसूर्येण प्रकटीकृतदिक्चयः ।
अनन्तं शर्म बोधं च वीर्यं चापि सुदर्शनम् ।।११५।।
अनश्वरं सदा बिभ्रत्प्रसादपरमेश्वरः ।
वातवेगोद्भ्रमच्छुद्धस्फटिकस्थिततोयवत् ।।११६।।
योगजातपरिष्पन्दसहितात्मा मुनीश्वरः ।
यो भवेत् स भवेद्योगी केवली च जिनोऽपि च ।।११७।।

अर्थ—शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्निमे जिन्होने घातियाकर्मरूपी ईंधनको होम दिया है, जो मेघमालासे रहित सूर्यके समान सुशोभित हैं, जिन्होने सम्यग्ज्ञानरूपी दिव्यसूर्यके द्वारा दिशाओके समूहको प्रकट किया है, जो अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त दर्शनको सदा धारण कर रहे है, जो निर्मलताके परमेश्वर हैं और जिनकी आत्मा वायुवेगसे हिलते हुए शुद्ध स्फटिक पात्र स्थित जलके समान योगोसे उत्पन्न परिष्पन्दसे सहित है, वे मुनिराज सयोगकेवली जिन हैं। ।।११४-११७।।

(१४) अयोगजिन—

अपि योगो न यत्रास्त्यघातिकर्महतौ च यः ।
कृतोद्यमो महामान्यो ह्यचलेन्द्र इवाचलः ।।११८।।

क्षणं निहत्य सर्वाणि कर्माणि किल यः पुनः ।
मुक्तिकान्तासमाश्लेषजनितानन्दमाप्स्यति ॥११९॥
सोऽयोगी केवली चासौ जिनश्चापि समुच्यते ।
यश्चातीतगुणस्थानो मुक्तिकान्तं नमामि तम् ॥१२०॥

अर्थ—जिनमे योग नही है, जो अघातिया कर्मोंका क्षय करनेमे तत्पर हैं, महामान्य हैं, सुमेरुपर्वतके समान निश्चल हैं, और जो क्षणभरमे समस्त कर्मोंको नष्टकर मुक्तिकान्ताके आलिङ्गनसे उत्पन्न आनन्दको प्राप्त होगे वे अयोगकेवली जिन कहलाते हैं। जो गुणस्थानोंसे परे हैं उन सिद्ध भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ॥११८-१२०॥

आगे जीवसमासप्ररूपणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

सामान्येनैकधा जीवः संसारस्थो भवेत्पुन ।
त्रसस्थावरभेदेन द्वेधा नाम स भिद्यते ॥१२१॥
एकेन्द्रियश्च सकलो विकलश्चेति स त्रिधा ।
एकाक्षो विकलाक्षश्च संज्ञ्यसंज्ञी चतुर्विधः ॥१२२॥
एकेन्द्रियादिभेदेन पञ्चधापि भवेदसौ ।
पृथिव्यब्वायुतेजोद्रुत्रसाः षोढेति भिद्यते ॥१२३॥
स्थावराः पञ्च सकलो विकलश्चेति सप्तधा ।
पञ्चैकाक्षाश्च विकलः संज्ञ्यसंज्ञीति चाष्टधा ॥१२४॥
चतुर्भिर्जङ्गमैः सार्धं पञ्चस्थावरयोजने ।
नवधा स विभिद्येत, स्थावरैः पञ्चभिः पुनः ॥१२५॥
द्व्यक्षत्र्यक्षचतुःस्रोतःसंज्ञ्यसज्ञीति सगतौ ।
दशधासौ भवेज्जीवो भववैभवमोहितः ॥१२६॥
स्थावरा मताः ।
भवेत्पुनः ॥१२७॥
स्थावरैः पुनः ।
संज्ञ्यसज्ञिभि ॥१२८॥
त्रसस्थावरयोजने ।
व्रजेत् ॥१२९॥

दशस्थावरभेदेषु त्रसपञ्चकमेलनात् ।
पञ्चदशप्रकाराः स्युर्जीवाः संसारमध्यगाः ॥१३०॥
चतुर्दशस्थावरेषु त्रसद्वयस्य मेलनात् ।
षोडशधा भवेयुर्वै जीवा भवपयोधिगाः ॥१३१॥
चतुर्दशस्थावरेषु त्रसत्रिकसुयोजनात् ।
जीवाः सप्तदश प्रोक्ताः आजवजवमध्यगाः ॥१३२॥
चतुर्दशस्थावरेषु चतुस्त्रसविमेलनात् ।
अष्टादशविधाः प्रोक्ता जीवाः संसारिणो ध्रुवम् ॥१३३॥
चतुर्दश स्थावरेषु त्रसपञ्चकमेलनात् ।
भवन्ति जीवा एकोनविंशतिसंख्यका भवे ॥१३४॥
एषां पूर्णादियोगेन भेदा. सप्ताधिका मताः ।
पञ्चाशन्मुनिभिर्मान्यैः श्रुतसागरपारगैः ॥१३५॥

अर्थ—ससारी जीव सामान्यसे एक प्रकारका है । फिर त्रसस्थावरके भेदसे दो प्रकारका है । एकेन्द्रिय तथा विकल और सकलके भेदसे तीन प्रकार हैं । एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तथा संज्ञी और असज्ञीके भेदसे चार प्रकारका है । एकेन्द्रियादिके भेदसे पाँच प्रकारका है । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये पाँच स्थावर तथा एक त्रसके भेदसे छह प्रकारका है । पाँच स्थावर और त्रसके सकल विकल दो भेद, इस प्रकार सात भेद-वाला है । पाँच स्थावर विकल तथा सज्ञी और असज्ञी इस प्रकार आठ भेदवाला है । द्वीन्द्रियादि चार त्रसोके साथ स्थावरोके पाँच भेद मिलानेसे नौ प्रकारका हैं । पाच स्थावरोके साथ त्रसोके द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरि-न्द्रिय और सज्ञी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ये पाँच भेद मिलानेसे दश प्रकारका है । पाच स्थावरोके सूक्ष्म और वादरकी अपेक्षा दश भेद हैं उनमे त्रस-का एक भेद मिलानेसे ग्यारह प्रकारका है । पूर्वोक्त दश स्थावरोमे त्रस-के सकल विकल भेद मिलानेसे बारह प्रकारका है । दश स्थावरोमे विकल तथा सकलके सज्ञी असज्ञी भेद मिलानेसे तेरह प्रकारका है । दश स्था-वरोमे त्रसोके द्वीन्द्रियादि भेद मिलानेसे चौदह प्रकारका है । स्थावरोके दश भेदोमे द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और सज्ञी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, त्रसके ये पाँच भेद मिलानेसे पन्द्रह प्रकारका है । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्य निगोद और इतर निगोद, इन छहके सूक्ष्म वादरकी अपेक्षा

बारह भेद तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दो भेद मिलाकर स्थावर जीवोके चौदह भेद हैं उनमे त्रसोके सकल और विकल ये दो भेद मिलानेसे सोलह प्रकारका है। स्थावरोके पूर्वोक्त चौदह भेदोमे त्रसोके विकल और संज्ञी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ये तीन भेद मिलानेसे सत्तरह प्रकार का है। स्थावरोंके उपर्युक्त चौदह भेदोमे त्रसोके द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलानेसे अठारह प्रकारका है और स्थावरोंके उन्ही चौदह भेदोमे द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रीय चतुरिन्द्रिय सज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असज्ञी पञ्चेन्द्रिय त्रसके ये पांच भेद मिलानेसे उन्नीस प्रकारका है। इन उन्नीस भेदोका पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक इन तीनके साथ योग करनेसे ससारी जीवोके संत्तावन भेद शास्त्ररूपी सागरके पारगामी मुनियोंके द्वारा माने गये है ॥१२१-१३५॥

विशेषार्थ—जीवोमे पाये जाने वाले सादृश्य धर्मके द्वारा उनके इस प्रकार भेद करना जिसमे सबका समावेश हो जावे, जीवसमास कहलाता है। ऊपरके प्रकरणमें जीवके उन्नीस भेदोका दिग्दर्शन कराया गया है। ये उन्नीस भेद सामान्यकी अपेक्षा हैं। इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके योगसे अड़तीस भेद होते हैं तथा पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकके योगसे सत्तावन भेद होते हैं। जीवसमासके चौदह और अठानवे भेद भी प्रसिद्ध हैं जो इस प्रकार घटित होते हैं—

चौदह जीवसमास—एकेन्द्रियके सूक्ष्म और बादरकी अपेक्षा दो भेद तथा दोनोके पर्याप्तक और अपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद इस प्रकार एकेन्द्रियके चार भेद। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन तीन के पर्याप्तक और अपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद और पञ्चेन्द्रियके सज्ञी असज्ञीके भेदसे दो भेद तथा दोनोंके पर्याप्तक अपर्याप्तककी अपेक्षा दो दो भेद, इस प्रकार सबके मिलाकर ४ + २ + २ + २ + ४ = १४ जीवसमास होते हैं।

अंठानवे जीवसमास—एकेन्द्रियोंके १४ × ३ = ४२ और विकलत्रयके ३ × ३ = ९ इन इक्यावन भेदोमे कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके ३० तथा भोगभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके ४ इस प्रकार ३४ भेद मिलानेसे तिर्यञ्चके ८५ भेद होते हैं। इनमे मनुष्यगतिके ९ तथा देव और नरक गतिके दो-दो भेद मिलानेसे ९८ जीवसमास होते हैं। कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चके ३० भेद इस प्रकार हैं—पञ्चेन्द्रियके मूलमे जलचर स्थलचर और नभश्चरके भेदसे तीन भेद हैं इनके सज्ञी और असज्ञीकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। उपर्युक्त छह भेद गर्भ और

संमूर्च्छन जन्मकी अपेक्षा दो प्रकारके है। गर्भजन्मवालेके छह भेद पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो प्रकारके हैं अत बारह भेद हुए और सम्मूर्च्छनजन्मवालेके छह भेद, पर्याप्तक निर्वृत्य-पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन प्रकारके हैं अतः अठारह भेद हुए। दोनोको मिलाकर तीस भेद होते हैं। भोगभूमिमे स्थलचर और नभश्चर ये दो ही भेद होते है और उनके पर्याप्तक अपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद होकर चार भेद होते है। मनुष्योके मूलमे आर्यखण्डज और म्लेच्छखण्डज ये दो भेद हैं। इनमे आर्यखण्डजके पर्याप्तकनिर्वृत्य-पर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन भेद और म्लेच्छखण्डजके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो भेद। इन पाँच भेदोमे भोग-भूमिज और कुभोगभूमिज मनुष्योके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा चार भेद मिलानेसे मनुष्योके नौ भेद होते है। देव और नारकीके पर्याप्तक तथा निर्वृत्यपर्याप्तककी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। जीवसमासके इन भेदोको जानकर सदा जीवरक्षामे तत्पर रहना चाहिये।

आगे पर्याप्ति प्ररूपणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

यथा लोके पटोत्तुङ्गगृहमौलिघटादयः।
पूर्णापूर्णा हि दृश्यन्ते जीवाश्चापि तथाविधाः ॥१३६॥
आहारश्च शरीरञ्चापीन्द्रियानमनांसि च।
भाषा चेत्येव षट्कं स्यात्पर्याप्तीनां शरीरिणाम् ॥१३७॥
पर्याप्तीनां च सर्वासां प्रारम्भो युगपद् भवेत्।
यथाक्रम भवेत्पूर्तिर्घटिकाद्वयमध्यके ॥१३८॥
एकाक्षाणां चतस्रस्ता विकलानाञ्च पञ्च ताः।
सकलानां षडेव स्युर्जीवतां जगतीतले ॥१३९॥
अपर्याप्ताश्च पर्याप्ता जीवा द्वेधा भवन्ति ते।
अपर्याप्ता पुनः केचिन् निर्वृत्या केऽपि लब्धितः ॥१४०॥
येषां शरीरपर्याप्ति. पूर्णा यावन्न जायते।
तावन्निर्वृत्यपर्याप्तास्ते मताः किल जन्तवः ॥१४१॥
सत्यां तस्याञ्च पूर्णायां पर्याप्ता वै भवन्ति वै।
येषामेकापि नो जाता पूर्णा पर्याप्तिरत्र वा ॥१४२॥

भविष्यत्येव नो चापि लब्ध्यपर्याप्तका हि ते ।
अन्तर्मुहूर्तकाले च लब्ध्यपर्याप्तजीविनाम् ॥१४३॥
शतत्रयं च षट्त्रिंशत् द्वा षट्षष्टिसहस्रकम् ।
भवन्ति हन्त लोकेऽस्मिन् जनयो मृतयस्तथा ॥१४४॥
कर्मभूमिसमुत्पन्नतिर्यङ्मर्त्यकदम्बके ।
लब्ध्यपर्याप्तका नूनं भवन्त्यन्यत्र नैव च ॥१४५॥
प्रथमे च द्वितीये च चतुर्थे षष्ठके तथा ।
गुणस्थानेष्वपर्याप्ता जायन्ते किल जन्तवः ॥१४६॥
अपूर्णयोगयुक्तत्वात्काययोगस्य योगिनः ।
भवेन्निर्वृत्यपर्याप्तता कदाचन कस्यचित् ॥१४७॥
लब्ध्यपर्याप्तकत्वं तु मिथ्यादृष्टिमतां भवेत् ।
अन्येषां न त्रिकालेऽपि निखिलेऽपि च भूतले ॥१४८॥
धन्याः सिद्धिमहीकान्ता जन्मक्लेशपराङ्मुखाः ।
अमन्दानन्दसंलीना विजयन्ते परमेश्वराः ॥१४९॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमे वस्त्र, उच्चभवन, मुकुट और घट आदि पदार्थ पूर्ण और अपूर्ण देखे जाते है उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण देखे जाते हैं ॥१३६॥ आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन जीवोकी ये छह पर्याप्तियाँ कही गई हैं ॥१३७॥ सभी पर्याप्तियोका प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है परन्तु पूर्ति क्रमसे दो घडीके भीतर होती है ॥१३८॥ एकेन्द्रियोके चार, विकलो अर्थात् द्वीन्द्रियसे लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय तकके पांच और सञ्ज्ञी जीवोंके लोकमें छहो पर्याप्तियाँ होती हैं ॥१३९॥ वे जीव दो प्रकारके हैं एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक । अपर्याप्तकोमे कोई जीव निर्वृत्तिकी अपेक्षा अपर्याप्त हैं और कोई लब्धिकी अपेक्षा । भाव यह है कि अपर्याप्तक जीव दो प्रकारके हैं—१ निर्वृत्य-पर्याप्तक और २ लब्ध्यपर्याप्तक ॥१४०॥ जिनकी जब तक शरीर-पर्याप्ति पूर्ण नही होती है तब तक वे निर्वृत्यपर्याप्तक माने गये हैं ॥१४१॥ शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होनेपर वे ही जीव नियमसे पर्याप्तक हो जाते हैं । इस जगत्मे जिनकी एक भी पर्याप्ति न पूर्ण हुई है और न होगी वे लब्ध्यपर्याप्तक हैं । लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके अन्तर्मुहूर्तमे छयासठ हजार

तीन सौ छत्तीस जन्म मरण होते है ।।१४१–१४४।। लब्ध्यपर्याप्तक जीव कर्मभूमिज तिर्यञ्च और मनुष्योमे ही होते है अन्यत्र नही होते ।।१४५।। अपर्याप्तक जीव पहले, दूसरे, चौथे और आहारक शरीरकी अपेक्षा छठवें गुणस्थानमे होते हैं ।।१४६।। काययोगकी अपूर्णतासे युक्तहोनेके कारण किन्ही सयोगकेवलीके भी समुद्धातके समय निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था होती है ।।१४७।। यह नियम है कि लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था मिथ्या-दृष्टि जीवोके ही होती है अन्य जीवोके तीनो काल तथा समस्त जगत्मे नही होती ।।१४८।। धन्यभाग सिद्ध परमेष्ठी जन्मके क्लेशसे रहित हैं। अनन्त आनन्दमे लीन रहने वाले वे परमेश्वर जयवन्त प्रवर्तते है ।।१४९।।

विशेषार्थ—पर्याप्तिका अर्थ पूर्णता है। यह पूर्णता शरीर-रचनाकी अपेक्षा नही है किन्तु आत्मामे शरीर निर्माणके योग्य क्रमसे विकसित होने वाली शक्तिकी अपेक्षा है। पर्याप्तिके छह भेद हैं—१ आहार २ शरीर ३ इन्द्रिय ४ श्वासोच्छ्वास ५ भाषा और ६ मन। मृत्युके बाद जब यह जीव विग्रहगतिका काल पूर्णकर अपने उत्पत्तिके योग्य स्थानपर पहुँचता है तब शरीररचनाके योग्य आहारवर्गणाओको ग्रहण करता है। उन वर्गणाओको खल रस भाग रूप परिणमानेके योग्य शक्तिका आत्मामे प्रकट होना आहारपर्याप्ति कहलाती है। खल भागको हड्डी आदि कठोर अवयव रूप तथा रसभागको रुधिर आदि तरल अवयव रूप परिणमानेके योग्य शक्तिका आत्मामे प्रकट होना शरीरपर्याप्ति है। उन्ही आहारवर्गणाके परमाणुओको स्पर्शनादि इन्द्रियोके आकार परि-णमानेवाली शक्तिका आत्मामे प्रकट होना इन्द्रियपर्याप्ति कहलाती है। तथा उन्ही आहारवर्गणाके परमाणुओका श्वासोच्छ्वासरूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। ये चार पर्याप्तियाँ अनिवार्यरूपसे सब जीवोके होती है। इनके अनन्तर द्वीन्द्रियादि जीवोके भाषावर्गणाके परमाणुओको शब्दरूप परिणमाने वाली शक्तिके प्रकट होनेको भाषापर्याप्ति कहते हैं और सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके मनोवर्गणाके परमाणुओको द्रव्यमनरूप परिणमाने और उसकी सहायतासे विचार करनेकी शक्तिके प्रकट होनेको मन.पर्याप्ति कहते हैं। इनमेसे एकेन्द्रिय जीवके प्रारम्भकी चार, द्वीन्द्रियसे लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय तकके भाषा सहित पाँच और सैनी पञ्चेन्द्रियके मन सहित छहो पर्याप्तियाँ होती हैं। जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नही होती है तब तक यह जीव निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है और उसके बाद पर्याप्तक कहा जाता है। जिस जीवकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नही होती तथा श्वासके अठारहवें

भागमे मर जाता है उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। यह लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था सम्मूर्च्छन जन्म वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च और मनुष्योंके ही होती है। निर्वृत्त्यपर्याप्तक अवस्था मरणकी अपेक्षा प्रथम द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानमे, आहारक शरीरकी अपेक्षा छठवें गुणस्थानमे और लोकपूरण समुद्घातकी अपेक्षा तेरहवें गुणस्थानमे होती है। लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अन्तर्मुहूर्तमें छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस क्षुद्रभव होते है। उनका विवरण इस प्रकार है—एकेन्द्रियके ६६१३२, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके ६०, चतुरिन्द्रियके ४० और पञ्चेन्द्रियके २४ होते हैं।

आगे प्राण प्ररूपणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

येषां संयोगमासाद्य वियोगं चापि देहिनः।
जीवन्ति च म्रियन्ते च ते ज्ञेयाः प्राणसंज्ञिनः ॥१५०॥

आनप्राणो बलानां च त्रयं चेन्द्रियपञ्चकम्।
आयुश्चेति दश प्राणा बाह्याः सर्वज्ञदर्शिताः ॥१५१॥

ज्ञानदर्शनरूपाश्च भावप्राणा मतास्तु ये।
तेषां कदापि केषांचिद् वियोगो नैव जायते ॥१५२॥

वीर्यान्तरायसयुक्तमतिज्ञानावृतेः पुनः।
क्षयोपशमतश्चित्तबलमिन्द्रियपञ्चकम् ॥१५३॥

श्वासोच्छ्वासशरीराख्यकर्मणोरुदये सति।
आनप्राणश्च कायस्य बलञ्चापि स्वरोदये ॥१५४॥

वचनस्य बल चायुःकर्मणो ह्युदये च तत्।
भवन्ति प्राणिनां प्राणा बाह्या बाहीकगोचराः ॥१५५॥

पञ्चाक्षाणां ससंज्ञानां सर्वे प्राणा भवन्ति ते।
अधश्चैकैकतो हीना अन्तिमे तु द्विहीनकाः ॥१५६॥

अपर्याप्तकपञ्चाक्षद्विके सप्त ततः परम्।
हीना एकैकतो ज्ञेयाः प्राणाः प्राणधरैर्नरैः ॥१५७॥

द्रव्यप्राणबहिर्भूता भावप्राणविराजिनः।
मुक्तिकान्तानुकूलास्ते जयन्ति जगदीश्वरा ॥१५८॥

अर्थ—जिनका सयोग पाकर जीव जीवित होते हैं और वियोग पाकर मरते हैं उन्हे प्राण जानना चाहिये ॥१५०॥ श्वासोच्छ्वास, तीन बल (मनोबल, वचनबल, कायबल), पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण,

चक्षु, कर्ण) और आयु ये दश बाह्य प्राण सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा देखे गये है ॥१५१॥ जो ज्ञान-दर्शन रूप भावप्राण माने गये हैं उनका कभी भी किसी जीवके वियोग नही होता है ॥१५२॥ वीर्यान्तिराय सहित मति-ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे मनोबल और पाँच इन्द्रिय प्राण उत्पन्न होते है ॥१५३॥ श्वासोच्छ्वास तथा शरीरनामकर्मका उदय रहते हुए श्वासोच्छ्वास और कायबल प्रकट होते हैं। स्वरनामकर्मके उदयमे वचनबल और आयुकर्मका उदय होनेपर आयु प्राण प्रकट होता है। प्राणियोके ये दश प्राण बाह्य जीवोके दृष्टिगोचर होते हैं अत बाह्य कहलाते है ॥१५४-१५५॥ सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोके सभी प्राण होते हैं और उनसे नीचेके जीवोके एक-एक प्राण कम होता जाता है परन्तु अतिम अर्थात् एकेन्द्रियके दो कम होते है। तात्पर्य यह है कि सज्ञी पञ्चेन्द्रियके १०, असज्ञी पञ्चेन्द्रियके मनके विना ९, चतुरिन्द्रियके मन और कानके विना आठ, त्रीन्द्रियके मन, कान तथा चक्षुके विना सात, द्वीन्द्रियके मन, कान, चक्षु और घ्राणके विना छह तथा एकेन्द्रियके स्पर्शन द्वीन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं ॥१५६॥ सज्ञी असज्ञी अपर्याप्तक पञ्चेन्द्रियोके मनोबल, वचनबल और श्वासोच्छ्वासके विना सात प्राण होते हैं। तथा आगे एक-एक प्राण कम जानना चाहिये ॥१५७॥ जो द्रव्यप्राणोसे रहित है तथा भावप्राणोसे सुशोभित है ऐसे मुक्तिकान्ताके स्वामी सिद्धपरमेष्ठी जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥१५८॥

आगे सज्ञा प्ररूपणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

याभिः प्रबाधिता जीवा हृषीकविषयेषु वै ।
झम्पापातं प्रकुर्वन्तो दुःखं तीव्रतरं किल ॥१५९॥
इह लोके परत्रापि प्राप्नुवन्ति निरन्तरम् ।
संज्ञास्ताश्च समादिष्टाः पूर्वाचार्यकदम्बकैः ॥१६०॥
रिक्तोदरस्य जीवस्याहारपुञ्जस्य दर्शनात् ।
तत्रोपयुक्तचित्तस्यासातवेद्योदयात्पुनः ॥१६१॥
आहारस्याभिलाषा या जायते बहुसीदतः ।
प्रथमाहारसंज्ञा सा ज्ञेया ज्ञेयबुभुत्सुभिः ॥१६२॥
हीनशक्तेर्भयोत्पादकारणानां समागमात् ।
तत्रोपयुक्तचित्तस्य भयोदीतेश्च बिभ्यतः ॥१६३॥

प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पमंदोहदायिनी ।
जुगुप्सादीनताशंसाशङ्कासत्रासकारिणी ॥१६४॥
सम्भ्रान्तिमृत्युवैवर्ण्यगद्गदस्वरधारिणी ।
दिङ्मुखालोकनापस्मारादिचेष्टाविधायिनी ॥१६५॥
या भीतिर्जायते वै सा भीतिसंज्ञा समुच्यते ।
चलेन्द्रियस्य लोकस्य चन्द्रचन्दनदर्शिनः ॥१६६॥
कोकिलालिमयूराणां रम्यारावनिशामिनः ।
कुन्दमाकन्दनीलाब्जकञ्जमञ्जुलदिङ्मुखे ॥१६७॥
उद्यानादौ निपण्णस्य विविक्तस्थानशायिनः ।
रतौ संलीनचित्तस्य चञ्चलाक्षीविलोकनात् ॥१६८॥
वेदोदयाद् भवेद् या वै मैथुनेच्छाऽहितप्रदा ।
सा सूक्ता मैथुनाभिख्या सज्ञा सज्ञानशालिभिः ॥१६९॥
नानोपकरणालोकात्तत्र मूर्च्छार्लचेतसाम् ।
लोभतीव्रोदयात्पुंसां सुखित्वभ्रान्तिकारिणी ॥१७०॥
अर्जने रक्षणे नाशे महामोहविधायिनी ।
पापाटवीघनाली च मुक्तिद्वारपिधायिनी ॥१७१॥
परिग्रहाभिलाषा या जायते सुखवैरिणी ।
परिग्रहाभिधेया सा तुर्यसंज्ञा समुच्यते ॥१७२॥
तत्राहारस्य सज्ञानमाप्रमत्तयतेर्भवेत् ।
भीतिसंज्ञाष्टमस्थानपर्यन्तं च प्रकथ्यते ॥१७३॥
मैथुनाख्यावती संज्ञा नवमाद्ये प्रवर्तते ।
तुर्यसज्ञा भवेत्सूक्ष्मसाम्परायेऽपि वर्तिनाम् ॥१७४॥
प्रमत्तेतरसाधूनां कर्मसद्भावमात्रतः ।
संज्ञाश्चैताः समुच्यन्ते न कार्यैः कर्मजैः परम् ॥१७५॥

संज्ञाबाधापरातीता आत्मानन्दथुनिर्भराः ।
जयन्त्यहो पुनः केऽपि महाभागा महीतले ॥१७६॥

इति सम्यक्त्वचिन्तामणौ जीवतत्त्वस्वरूप-भेद-
वर्णनो नाम द्वितीयो मयूख' ।

●

अर्थ—जिनके द्वारा बाधित हुए जीव इन्द्रियविषयोमे झम्पापात करते हुए निश्चयसे इस लोक और परलोकमे निरन्तर अत्यधिक दुःख प्राप्त करते हैं वे पूर्वाचार्योंके समूहके द्वारा संज्ञाएँ कही गई हैं ॥१५९-१६०॥

१ आहारसंज्ञा—

जिसका पेट खाली है, जिसका चित्त आहारकी ओर उपयुक्त हो रहा है तथा जो क्षुधाकी वेदनासे अत्यन्त दुखी हो रहा है ऐसे जीवके बाह्यमे आहार समूहके देखनेसे और अन्तरङ्गमे असाता वेदनीयकी उदीरणासे जो आहारकी इच्छा होती है उसे पदार्थ स्वरूप ज्ञानके इच्छुक मनुष्योको पहली आहारसज्ञा जानना चाहिये ॥१६१-१६२॥

२ भयसंज्ञा—

जो हीन शक्ति वाला है तथा भयकी ओर जिसका चित्त लग रहा है ऐसे भयभीत मनुष्यके बाह्यमे भयोत्पादक कारणोके मिलनेसे तथा अन्तरङ्गमे भयनोकषायका उदय होनेसे, मूर्च्छा, स्वेद, रोमाञ्च और कम्पनके समूहको देने वाली, जुगुप्सा, दीनताप्रदर्शन, शङ्का और त्रासको करने वाली, सम्भ्रान्ति, मृत्यु, विवर्णता और गद्गद स्वरको धारण करने वाली, दिशाओका देखना तथा अपस्मार आदिकी चेष्टाको करने वाली जो भीति होती है वह भयसंज्ञा कही जाती है ॥१६३-१६५॥

३ मैथुनसंज्ञा—

जिसकी इन्द्रियाँ चञ्चल है, जो चन्द्र चन्दन आदि उद्दीपन विभावको देख रहा है, कोयल, भ्रमर और मयूरोंके सुन्दर शब्दोको सुन रहा है, कुन्द आम नीलकमल तथा सामान्य कमलोसे सुन्दर दिशाओ वाले उपवन आदिमे जो बैठा है, एकान्त स्थानमे शयन कर रहा है और रतिमे जिसका चित्त लीन हो रहा है ऐसे मनुष्यके बाह्यमे स्त्रीके देखनेसे तथा अन्तरङ्गमे वेदनोकषायका उदय होनेसे जो मैथुनकी इच्छा होती है उसे सम्यग्ज्ञानसे सुशोभित मुनियोने मैथुनसंज्ञा कहा है ॥१६६-१६९॥

४. परिग्रहसंज्ञा—परिग्रहमे जिनका चित्त मूर्च्छा—ममत्वपरिणाममे युक्त हो रहा है ऐसे पुरुषोके बाह्यमे नाना प्रकारके उपकरण देखनेसे,

और अन्तरङ्गमें लोभ कषायका तीव्र उदय होनेसे, सुखीपनेकी भ्रान्ति करने वाली, उपार्जन, रक्षण तथा नाशके समय महामोहको उपजानेवाली, पापरूपी अटवीको हरीभरी रखनेके लिये मेघमालारूप, मुक्तिका द्वार वन्द करने वाली और निराकुलतारूप सुखका घात करने वाली जो परिग्रहकी इच्छा उत्पन्न होती है वह परिग्रह नामकी चौथी सज्ञा कही जाती है ॥१७०–१७२॥

उपर्युक्त चार सज्ञाओमे आहार सज्ञा प्रमत्तविरत नामक छठवें गुणस्थान तक होती है। भयसज्ञा आठवें गुणस्थान तक कही जाती है। मैथुनसज्ञा नौवें गुणस्थानके पूर्वार्ध तक होती है और परिग्रहसज्ञा सूक्ष्मसाम्पराय—दशवें गुणस्थानमे भी वर्तमान पुरुषोके होती है। अप्रमत्तविरत आदि गुणस्थानोमे जो ये सज्ञाएँ कही गई है वे कर्मके सद्भाव मात्रसे कही गई हैं किन्तु कर्मसे होनेवाले कार्योकी अपेक्षा नही कही गई हैं ॥१७३–१७५॥

जो सज्ञाओकी वाधासे रहित तथा आत्मीय आनन्दसे परिपूर्ण हैं ऐसे कितने ही भाग्यशाली मनुष्य इस पृथ्वीतलपर जयवन्त प्रवर्तते हैं, यह आश्चर्यकी वात है। तात्पर्य यह है कि सज्ञाओका प्रकोप दशम गुणस्थान तक ही रहता है उसके आगेके समस्त मनुष्य सज्ञाओसे रहित हैं ॥१७६॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमें जीवतत्त्वका स्वरूप और उसके भेदोका वर्णन करनेवाला द्वितीय मयूख समाप्त हुआ।

●

तृतीयो मयूखः

अब तृतीय मयूखके प्रारम्भमे मङ्गलाचरण करते हुए भगवान् महावीरकी स्तुति करते हैं—

उपेन्द्रवज्रा

उपेन्द्रवज्रायुधपन्नगेन्द्रा
नमन्ति पादाब्जयुगं यदीयम् ।
स्तुवन्ति भक्त्या च सदा स वीरः
परं प्रमोदं किल नो विदध्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—इन्द्र, प्रतीन्द्र तथा धरणेन्द्र सदा भक्तिपूर्वक जिनके चरण-कमलयुगलको नमस्कार करते हैं वे भगवान् महावीर हम सबके लिए उत्कृष्ट—आत्मीक आनन्द प्रदान करें ॥१॥

आगे गति आदि चौदह मार्गणाओके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन किया जाना है अत. सर्व प्रथम मार्गणासामान्यका लक्षण कहकर गतिमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं ।

मृग्यन्ते यासु याभिर्वा जीवाः संसारमध्यगा ।
मार्गणास्ता हि विज्ञेया गत्याद्यास्ताश्चतुर्दश ॥ २ ॥

अर्थ—जिनमे अथवा जिनके द्वारा संसारी जीवोकी खोज की जाय उन्हे मार्गणा जानना चाहिये । वे गति आदि चौदह है ।

भावार्थ—१ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ कषाय ७ ज्ञान ८ संयम ९ दर्शन १० लेश्या ११ भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ सञ्ज्ञित्व और १४ आहारक ये चौदह मार्गणाएँ है । ससारी जीवोका निवास इन्ही मार्गणाओमे है ॥२॥

गतिमार्गणा—

गतिकर्मोदयाज्जाता जीवावस्था गतिर्मता ।
नरकादिप्रभेदेन चतुर्धा सा तु भिद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—गतिकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई जीवकी अवस्था गति मानी गई है । वह नरकादिके भेदसे चार प्रकारकी है ॥३॥

नरकगति—

श्वभ्रगत्युदयात्तत्र जाता जीवस्य या दशा ।
नानादुःखसमाकीर्णा सा श्वभ्रगतिरुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—नरकगति नामकर्मके उदयसे जीवकी जो अवस्था उत्पन्न होती है वह नाना दु खोसे परिपूर्ण नरकगति कही जाती है ॥४॥

नरकगतिमे उत्पन्न होनेके कारण—

बालानामबलानाञ्च जराजीर्णशरीरिणाम् ।
कान्तानां गतकान्तानां व्याधिव्यथितदेहिनाम् ॥ ५ ॥
एकेन्द्रियादिभूतानामसातीभवतां भवे ।
हिंसनान्मनसा तेषामनिष्टाऽऽचिन्तनात्तथा ॥ ६ ॥
अलीकालापतोऽन्येषां द्रविणोच्चयचौर्यतः ।
पराङ्गनाङ्गसंश्लेषान्मूर्च्छन्मूर्च्छाप्रभावतः ॥ ७ ॥
अमन्दमोहसंमोहादन्यथाचरणात्तथा ।
जायन्ते प्राणिनस्तत्र श्वभ्रेऽशर्मसरित्पतौ ॥ ८ ॥
भुञ्जन्ते भविनो यत्र नानादुःखकदम्बकम् ।
सागरान् वसुधाजातं जातं यच्च पराश्रयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—बालको, स्त्रियो, वृद्धो, विधवाओ, रोगियो तथा ससारमे दु ख उठाने वाले एकेन्द्रियादि जीवोकी हिंसा करनेसे, मनसे उनका अनिष्ट विचारनेसे, असत्य बोलनेसे, दूसरोके धनसमूहकी चोरी करनेसे, परस्त्रियोके शरीरका आलिङ्गन करनेसे, बढती हुई मूर्च्छा—ममत्वपरिणतिके प्रभावसे, अत्यधिक मोहमिथ्यात्वसे उत्पन्न भ्रान्तिसे तथा विपरीत आचरणसे जीव, दु खके सागरस्वरूप उस नरकमे उत्पन्न होते हैं जिसमे उत्पन्न हुए जीव सागरो पर्यन्त पृथिवीसे उत्पन्न तथा अन्य नारकियोके आश्रयसे उत्पन्न नाना दु खोके समूहको भोगते हैं ॥५-९॥

आगे उन नारकियोके आधारभूत सात पृथिवियोका वर्णन करते हैं—

अथैषामाश्रयं वक्ष्ये कीर्णं दुःखकदम्बकैः ।
धृत्वा मनसि पूर्वेषामाचार्याणां वचःक्रमम् ॥१०॥

अधोऽधः खलु वर्तन्ते सप्तेतो भूमयः क्रमात् ।
रत्नभा शर्कराभा च वालुकाभा च पङ्कभा ॥११॥
धूमभा च तमोभा च ततो गाढतमःप्रभा ।
घनाम्बुवातवाताध्वसंस्थिताः सहजाश्चिरम् ॥१२॥
नैकदुःखचयोत्पूर्णाः पापप्राणिसमाचिताः ।
तत्र प्रथमभूमौ चानेकनारकसंश्रितम् ॥१३॥
त्रिंशल्लक्षमितं ज्ञेयं नरकाणां कदम्बकम् ।
द्वितीयायां पुनः पञ्चविंशतिलक्षलक्षितम् ॥१४॥
तृतीयायां ततः पञ्चदशलक्षप्रमाणकम् ।
चतुर्थ्यां भुवि विज्ञेयं दशलक्षमितं पुनः ॥१५॥
पञ्चम्यां च ततो भूम्यां लक्षत्रय्यभिलक्षितम् ।
षष्ठ्यां पृथ्व्यां च पञ्चोनलक्षमानं ततः परम् ॥१६॥
सप्तम्यां भुवि विज्ञेयं पञ्चमात्रमितं तु तत् ।
रत्नभायां भुवि ज्ञेयाः प्रस्तारा दश च त्रय ॥१७॥
ज्ञेया हीना ततोऽधस्ताद् द्वाभ्यां द्वाभ्यां नियोगतः ।
पूर्वपापसमुद्रेकप्रेरिताः किल जन्तव ॥१८॥
हन्त हन्त पतन्त्यासु भरन्तोऽशर्मसंहतिम् ।
खराद्याननसंतुल्याः शय्यास्तत्र भवन्ति हि ॥१९॥

अर्थ—अब पूर्वाचार्योकी वचन-परिपाटीको मनमे रखकर इन नारकियोंके उस आधारका कथन करूँगा जो दु खोके समूहसे व्याप्त है ॥१०॥ इस समान धरातलसे नीचे-नीचे क्रमसे सात भूमियाँ हैं, जिनके नाम इस प्रकार है—१ रत्नप्रभा २ शर्कराप्रभा ३ बालुकाप्रभा ४ पङ्कप्रभा ५ घूमप्रभा ६ तम प्रभा और ७ महातम प्रभा। ये भूमियाँ चिरकालसे स्वत. सिद्ध हैं—किसीकी बनाई नही हैं, तथा घनोदधि वातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाशके आश्रित है अर्थात् प्रत्येक भूमिके नीचे तीन वातवलय और आकाश विद्यमान है ॥११-१३॥ ये भूमियाँ नाना दु खोके समूहसे परिपूर्ण हैं तथा पापी जीवोसे व्याप्त है। उन सात भूमियोमेसे पहली भूमिमे अनेक नारकियोसे युक्त तीस लाख नरक-बिल

हैं, दूसरी भूमिमे पच्चीस लाख, तीसरी भूमिमे पन्द्रह लाख, चौथी भूमिमे दश लाख, पाचवी भूमिमे तीन लाख, छठवी भूमिमे पाँच कम एक लाख और सातवी भूमिमे मात्र पाँच नरक हैं। रत्नप्रभा पृथिवीमे तेरह पटल हैं और नीचे प्रत्येक पृथिवीमें नियमसे दो-दो पटल कम होते जाते है। अत्यन्त खेद है कि पूर्व पापके उदयसे प्रेरित हुए जीव दुःख समूहको उठाते हुए इन भूमियोमे पडते हैं। उन भूमियोमे गधा आदिके मुखके समान उपपादशय्याएँ हैं ॥१४-१९॥

आगे नारकी जीवोकी उत्पत्ति तथा आकार आदिका वर्णन करते हैं—

जीवास्तत्रोपपद्यन्ते घटिकाद्वयमात्मना ।
केचिद् व्याघ्रमुखाः केचित्खराद्याननसंयुता ॥२०॥
केचिल्लम्बोदराः केचिद् दीर्घकर्णाभिधारिणः ।
केचित्पुच्छयुताः केचिल्लम्बदन्तविशोभिनः ॥२१॥
केचित्कपित्थमूर्धानः केचित् पिङ्गललोचनाः ।
रूक्षरोमयुताः केचित् केचित् कुब्जकलेवराः ॥२२॥
केचित्कपोतवर्णाभाः केचिन्नीलीविशोभिनः ।
तमःप्रपुञ्जसंकाशाः सन्ति केचन नारकाः ॥२३॥

अर्थ—उन उपपाद शय्याओपर जीव अपने आप दो घडीमे उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमे पूर्ण शरीरके धारक हो जाते हैं। कितने ही नारकी व्याघ्रके समान मुखवाले, कितने ही गधे आदिके समान मुखसे सहित, कितने ही लम्बे पेटवाले, कितने ही बडे-बडे कानोको धारण करनेवाले, कितने ही पूँछसे सहित, कितने ही लम्बे दातोंसे सहित, कितने ही कैंथके समान मुखवाले, कितने ही पीली आँखो वाले, कितने ही रूक्ष रोमोसे सहित, कितने ही कूबडवाले शरीरसे युक्त, कितने ही कबूतरके समान रङ्गवाले, कितने ही नील वर्णवाले और कितने ही नारकी तिमिरसमूहके समान काले होते हैं[1] ॥२०-२३॥

---

१. कितने ही आचार्योंने सभी नारकियोंका कृष्ण रूप वर्णन किया है—'सव्वे णारया किण्हा' अर्थात् सब नारकियोंकी द्रव्यलेश्या कृष्ण ही होती है।

अब नारकियोंके दु खोंका वर्णन करते हैं—

शय्याभ्यो निपतन्त्येते नीचैर्नरकभूमिषु ।
उत्पतन्ति पुनस्ताभ्यः कन्दुका इव पीडिताः ॥२४॥

यावत्पृथ्वी गता एते सहन्ते बहुवेदनाम् ।
तावद्दण्डधराकाराः पूर्ववैरसमीरिताः ॥२५॥

प्रज्वलत्कोपनज्वालाजालरक्तास्यलोचना ।
स्फुरन्तमधुरं गाढ दशन्तो दन्तमालया ॥२६॥

कल्पान्तवातसंक्षुब्धमहानीरधिराविण ।
निशातायुधसघातव्यापारोद्यतपाणयः ॥२७॥

अलीकावधिविज्ञातपुरावैरप्रदीपिताः ।
उपेत्य तुमुलं दुःखं ददतेऽदयचेतसः ॥२८॥

(कलापकम्)

अर्थ—ये नारकी उपपाद शय्याओसे नीचे विलोकी भूमिमे पडते हैं और ताडित गेंदके समान पुन ऊपरकी ओर उछलते है। जबतक ये पृथिवीपर आकर अत्यधिक वेदनाको सहते है तबतक यमराजके समान आकृतिवाले, पूर्व वैरसे प्रेरित, प्रज्वलित कोपाग्निकी ज्वालाओके समूहसे लाल लाल मुख और नेत्रोसे सहित, फडकते हुए ओठको दाँतोसे अत्यधिक डसते हुए, प्रलयकालकी वायुसे क्षुभित महासागरके समान शब्द करने वाले, तीक्ष्ण शस्त्रोके चलानेमे उठे हुए हाथोसे सहित तथा विभङ्गावधिज्ञानके द्वारा जाने हुए पूर्व वैरसे प्रकुपित, निर्दय चित्तवाले नारकी आकर भयंकर दु ख देने लगते हैं ॥२४-२८॥

करपत्रचयैः केचिद्दारयन्ति शिरः क्वचित् ।
स्फोटयन्ति घनाघातैः केचन कुत्रचित्पुनः ॥२९॥

प्रतप्तायोरसं केचित्पाययन्ति बलात् क्वचित् ।
पुत्रिकाभिः सुतप्ताभिर्योजयन्ति पुनः क्वचित् ॥३०॥

वाहयन्ति ततो यानं भूरिभारभृतं चिरात् ।
छेदयन्ति पुनः केचिन्नासिकां तर्कुसंचयैः ॥३१॥

क्वचित्प्रदीप्तहव्याशकुण्डे पातयन्ति हा ।
ततः कटुकतैलेन निषिञ्चन्ति कलेवरम् ॥३२॥
केचित्ततः समुद्धृत्य कृमिकोटीसमुत्कटे ।
क्षारपानीयसंपूर्णस्रवन्त्याः पातयन्ति च ॥३३॥
क्वचित्कण्टकवृक्षेष्वारोहणं ह्यवरोहणम् ।
कारयन्ति भृशं केचित्प्रसह्य क्रूरमानसाः ॥३४॥
अजस्रं दुःखितात्मासौ सौख्यलाभमनीषया ।
यत्र यत्र समायाति कानने पर्वतेऽपि वा ॥३५॥
लभते तत्र तत्रायं दुःखमेव ततोऽधिकम् ।
हतभाग्यो जनः किंवा लभते कुत्रचित्सुखम् ॥३६॥
तत्र कान्तारमध्येऽसौ निशितैरसिपत्रकैः ।
क्षणेन च्छिन्नगात्रः सन् भृशं हन्त विषीदति ॥३७॥
पुनः पारदवत्तस्य शरीरं शकलीकृतम् ।
यथापूर्वं भवत्येव चित्रं कर्मविपाकतः ॥३८॥
अथायं पर्वतं याति शरणं भीतमानसः ।
सोऽपि नूनं भिनत्त्येव शिलासंघाततश्चिरम् ॥३९॥
कदाचित्कन्दरामेति प्राणत्राणमनीषया ।
तत्र पन्नगभूपालैर्वृश्चिकैर्विषधारिभिः ॥४०॥
दष्टो मूर्च्छां प्रयात्येव भृशमात्मापराधत. ।
यावज्जीवं क्षुधादुःखं तृषादुःखं च सन्ततम् ॥४१॥
क्षेत्रजं विविधं दुःखं भुङ्क्तेऽयं वहुपापभाक् ।
आतृतीयपृथिव्यन्तमसुरा असुराधमाः ॥४२॥
[illegible] [illegible]वैरमेतांश्च नरकस्थितान् ।
सारमेतत्प्रबुध्यताम् ॥४३॥
सर्वेषामपि यत्सुखम् ।
दुःखमेषां भवेदिह ॥४४॥

त्रिलोक्यां किञ्च यद्दुःखं जायते भविनां सदा ।
अखिलं तदिहास्त्येव क्वचिदेकप्रदेशके ।।४५।।
यच्चापि जायते दुःखमेकस्यापीह देहिनः ।
नास्ति तत्कुत्रचिल्लोके भविनां भववर्तिनाम् ।।४६।।

अर्थ—कही कोई नारकी करोतके द्वारा शिरको विदीर्ण करते है तो कही कोई घनोकी चोटोसे उसे फोडते हैं ।।२९।। कही कोई बलपूर्वक तपाया हुआ लोहेका रस पिलाते है तो कही कोई सतप्त पुतलियोको चिपटाते हैं ।। ३० ।। तदनन्तर कही कोई चिरकाल तक बहुत भारी भारसे भरी हुई गाडीको खिचवाते हैं कही कोई तकुओके द्वारा नाकको छेदते है ।।३१।। दु खकी बात है कि कही कोई देदीप्यमान अग्निके कुण्डमे गिरा देते है पश्चात् कडुए तैलसे शरीरको सीचते हैं ।।३२।। तदनन्तर कोई अग्निकुण्डसे निकालकर करोडो कीड़ोंसे परिपूर्ण नदीके खारे पानीके प्रवाहमे गिरा देते है ।।३३।। कितने ही क्रूर हृदयवाले नारकी चिरकाल तक काटेदार वृक्षोपर बार-बार चढना और उतरना करवाते हैं ।।३४।। निरन्तर दु.खी रहने वाला वह नारकी सुख प्राप्तिकी इच्छासे जहाँ-जहाँ वन अथवा पर्वतमें जाता है वहाँ-वहाँ पहलेसे भी अधिक दु ख-को प्राप्त होता है । ठीक ही है क्योकि भाग्यहीन मनुष्य कहाँ क्या सुख पाता है ? अर्थात् कुछ भी नही ।।३५-३६।। वह नारकी वहाँ वनके बीच तीक्ष्ण असिपत्रोके द्वारा क्षणभरमे छिन्न शरीर होता हुआ अत्यधिक दुखी होता है ।।३७।। बडे आश्चर्यकी बात है कि कर्मोदयसे खण्ड-खण्ड हुआ उसका शरीर पारेके समान पुन पहलेके समान ही हो जाता है ।।३८।। भयभीत हुआ यह नारकी यदि पर्वतकी शरणमें जाता है तो वह भी चिरकाल तक शिलाओके समूहसे निश्चित ही खण्ड-खण्ड करने लगता है ।।३९।। प्राणरक्षाकी बुद्धिसे यदि गुफामे जाता है तो विषको धारण करने वाले बड़े-बडे साँपो और बिच्छुओके द्वारा काटा जाकर अपने अपराधसे अत्यधिक मूर्च्छाको प्राप्त होता है । भूख और प्यासका दु.ख तो निरन्तर जीवन भर सहन करता है ।।४०-४१।। बहुत भारी पापको करनेवाला यह नारकी क्षेत्रसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दु खो को तो भोगता ही है तीसरी पृथिवी तक नीच असुर कुमारदेव इन नारकियो-को पूर्व वैरका स्मरण कराते रहते है । अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? यह सार समझ लेना चाहिये कि तीनो लोकोमे स्थित सभी जीवोको जो सुख होता है उससे अनन्तगुणा दु.ख उन नारकियोको इस नरकमे

प्राप्त होता है ॥४२-४४॥ दूसरी बात यह है कि तीनो लोकोमे सब जीवों-को सदा जो दु ख होता है वह सब यहाँ किसी एक स्थानमे ही होता है ॥४५॥ इस नरकमे एक जीवको जो दु ख होता है वह लोकमे समस्त जीवोको कही भी नही है ॥४६॥

आगे नरकोमे लेश्याओका वर्णन करते हैं—

आद्यद्वितीययोरत्र तृतीयायां च देहिनाम् ।
लेश्या भवति कापोती नारकाणां निरन्तरम् ॥४७॥
तृतीयाया अधोभागे चतुर्थ्यां च क्षितौ तथा ।
पञ्चम्युपरिभागे च नीला लेश्या प्रकीर्तिता ॥४८॥
अधोदेशे हि पञ्चम्याः षष्ठ्यां कृष्णा च सा भुवि ।
गाढकृष्णा तु सप्तम्यां प्रोक्ता लेश्या मनीषिभिः ॥४९॥

अर्थ—पहली, दूसरी और तीसरी पृथिवीमे नारकियोके निरन्तर कापोतलेश्या होती है। तीसरी पृथिवीके नीचे भागमे, चौथीमे तथा पाचवी पृथिवीके ऊपरी भागमे नीललेश्या कही गई है। पांचवी पृथिवीके अधोभागमे तथा छठवी पृथिवीमे कृष्णलेश्या होती है किन्तु सातवीं पृथिवीमे विद्वानोने परम कृष्णलेश्या कही है।

भावार्थ—नरकोमे तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं-कापोत, नील और कृष्ण। इन तीनो लेश्याओंके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अश होते हैं। पहली पृथिवीमे कापोत लेश्याका जघन्य अश है, दूसरी पृथिवीमे मध्यम अश है और तीसरी पृथिवीके उपरितन भागमे उत्कृष्ट अश है। तीसरी पृथिवी अधोभागमें नीललेश्याका जघन्य अश है, चौथी पृथिवीमे मध्यम अंश है और पांचवी पृथिवीके उपरितन भागमे उत्कृष्ट अंश है। पांचवी पृथिवीके अधस्तन भागमे कृष्णलेश्याका जघन्य अश है, छठवी पृथिवीमे मध्यम अश है और सातवी पृथिवीमे उत्कृष्ट अश है। यह सब भाव-लेश्याएँ हैं। इनमे होनेवाला परिवर्तन स्वस्थानगत ही होता है, परस्थान गत नही अर्थात् जहाँ जो लेश्या कही है उसीके अवान्तर स्थानोमे परि-णमन होता है। पूज्यपाद स्वामीके उल्लेखानुसार यह द्रव्यलेश्याएँ है परन्तु अन्य आचार्योंके अनुसार भावलेश्याएँ ही हैं। अन्य आचार्योंने सब नारकियोके द्रव्यलेश्या कृष्ण कही है ॥४७-४९॥

अब नरकोमे शीत उष्णकी बाधाका वर्णन करते है—

उपरि क्षितिपञ्चम्या वेदना ह्युष्णसंभवा ।
ततोऽधस्ताद् भवेच्छीतसंभवा भविनामिह ॥५०॥

अर्थ—पहलीसे लेकर पाँचवी पृथिवीके उपरितन भाग तक उष्ण वेदना है और उसके नीचे सातवी पृथिवी तक शीतवेदना है ॥५०॥

आगे नरकोमे शरीरकी अवगाहना कहते है—

सप्त चापास्त्रयो हस्ता अङ्गुल्यः षड् देहिनाम् ।
प्रथमायां भवेन्मानं देहानां च ततः परम् ॥५१॥
द्विगुणं द्विगुण ज्ञेयं सर्वोत्कृष्टतया स्थितम् ।
सप्तम्यां पञ्चकोदण्डशतकप्रमितं ततः ॥५२॥

अर्थ—प्रथम पृथिवीमे नारकियोके शरीरका प्रमाण सात धनुष तीन हाथ छह अगुल है और इसके आगे प्रत्येक पृथिवीमे सर्वोत्कृष्ट रूपसे दूना-दूना होता जाता है, इस प्रकार दूना होते होते सातवी पृथिवीमे पाँच सौ धनुष हो जाता है ॥५१–५२॥

अब इन पृथिवयोमें कौन जीव कहाँ तक उत्पन्न होते है, यह कहते हैं—

अथोत्पाद प्रवक्ष्यामि जीवानां पापकारिणाम् ।
असंज्ञिनोऽत्र जायन्ते पञ्चाक्षाः प्रथमक्षितौ ॥५३॥
प्रथमेतरयोः किञ्च सरीसृपाह्वजन्तवः ।
जायन्ते पक्षिणस्तासु तिसृषु क्षितिपूरगाः ॥५४॥
चतसृष्वुपपद्यन्ते सिंहाः पञ्चसु योषितः ।
षट्सु सप्तसु विज्ञेया मत्स्यमानवसंचयाः ॥५५॥
न चापि नारका देवा जायन्ते नरकेषु वै ।
विकला स्थावराश्चापि नोद्भवन्ति कदाचन ॥५६॥

अर्थ—आगे पाप करने वाले जीवोकी नरकोमे उत्पत्तिका वर्णन करते हैं। असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पहली पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, सरीसर्प नामक जीव पहली और दूसरी पृथिवीमे, पक्षी प्रारम्भ की तीन पृथिवियोंमे, साँप चार पृथिवियोमे, सिह पाँच पृथिवयोमे, स्त्रियाँ छह पृथिवियोमे और मच्छ तथा मनुष्योके समूह सातो पृथिवियोमे उत्पन्न होते हैं [स्वयंभूरमण समुद्रमे स्थित राघव मच्छ तथा तन्दुल मच्छकी उत्पत्ति नियमसे सप्तम भूमिमे होती है] नारकी और देव नरकोमे उत्पन्न नही होते। इसी प्रकार विकलत्रय और स्थावर जीव भी कभी नरकोमे

जन्म नही लेते। तात्पर्य यह है कि पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और कर्मभूमिज मनुष्य ही नरको मे उत्पन्न होते है ।।५३-५६।।

आगे नरकोसे निकलकर कौन जीव क्या होता है, यह कहते हैं—

सप्तम्या उद्गतो जीवस्तिर्यक्ष्वेवाभिजायते ।
इतराभ्यस्तु निस्तीर्णस्तिर्यक्षु मनुजेष्वपि ।।५७।।

अर्थ—सातवी पृथिवीसे निकला हुआ जीव नियमसे तिर्यञ्च ही होता है और अन्य पृथिवियोसे निकला हुआ जीव तिर्यञ्च तथा मनुष्य—दोनो मे उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—सातवी भूमिसे निकले जीव नियमसे तिर्यञ्च ही होते हैं क्योकि वहाँ सम्यक्त्वके कालमे आयुका बध नही होता। छठवी पृथिवीसे निकले हुए जीव मनुष्य तो होते हैं परन्तु सयम धारण नही कर सकते। पाचवी पृथिवीसे निकले हुए जीव सयम तो धारण कर सकते हैं परन्तु निर्वाणको प्राप्त नही होते। चौथी पृथिवीसे निकले हुए जीव संयम धारण कर मुक्ति तो प्राप्त कर सकते हैं परन्तु तीर्थंकर पद प्राप्त नही कर सकते। तीसरी पृथिवी तकसे निकले हुए जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। यह नियम है कि नरकोसे निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती नही हो सकते। इन पदोके धारक जीव स्वर्गसे ही आते है ।।५७।।

आगे नरकोमे गुणस्थान आदिकी व्यवस्था बताते हैं—

इहत्यानां हि जीवानां गुणस्थानचतुष्टयम् ।
भवितुं शक्नुयात् किञ्च दर्शनत्रितय तथा ।।५८।।
क्षायिक दर्शन किन्तु प्रथमां नातिवर्तते ।
आतृतीयबहिर्याताः केचित्पुण्यभृतो जनाः ।।५९।।
अपि व्रजन्ति तीर्थस्य कर्तृत्व किल भाग्यतः ।
भवेत्क्लीवत्वमेवैषां नरके वसतां सदा ।।६०।।
उपपादेन जन्मित्वं प्रणीत परमागमे ।
सवृताचित्तशीतोष्णयोनय श्वभ्रयोनयः ।।६१।।
भवन्ति व्यासत किञ्च चतुर्लक्षकुयोनयः ।
नरके जन्म माभून्मे प्रार्थयामि जिन सदा ।।६२।।

अर्थ—नरकोमे उत्पन्न हुए जीवोके पहलेसे लेकर चौथे तक चार गुणस्थान हो सकते हैं। और औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक

तीनों सम्यग्दर्शन हो सकते हैं परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन पहली पृथिवीका उल्लङ्घन नही करता अर्थात् उसके आगे इसका सद्भाव नही रहता। तीसरी पृथिवी तक से निकले हुए कितने ही पुण्यशाली जीव भाग्यसे तीर्थंकर पद को भी प्राप्त करते हैं। नरकमे रहने वाले सब जीवोके सदा नपुसकवेद ही होता है। परमागममे इनके उपपादजन्म बताया गया है। ये नारकी संवृत, अचित्त, शीत तथा उष्ण योनि वाले होते है। विस्तारसे इनकी चार लाख योनियाँ होती हैं ॥५८-६२॥

आगे उपर्युक्त पृथिवियोमे रहने वाले नारकियोकी आयुका वर्णन करते हैं—

एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदशाब्धयो हि
द्वाविंशतिस्त्रिगुणिता दश च त्रयश्च ।
ज्ञेया परेह वसतां स्थितिरप्रहार्या
रत्नप्रभाप्रमुखसप्तसु मेदिनीषु ॥६३॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदि पृथिवियोमे रहने वाले नारकियोकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेंतीस सागर जानना चाहिये। नारकियोकी यह अनपवर्त्य होती है अर्थात् बीचमे कम नही होती ॥६३॥

अब उन्ही पृथिवियोंमे बसने वाले नारकियोकी जघन्य स्थितिका वर्णन करते है—

पूर्वत्र या स्थितिर्गुर्वी भवेद्भवभृतां भुवि ।
अग्रेतनायां संप्रोक्ता लघ्वी सा किल सूरिभिः ॥६४॥
दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां तु भवेत्तु सा ।
मध्यमा बहुवैचित्र्या वक्तुं शक्या न वर्तते ॥६५॥

अर्थ—पूर्व पृथिवीमे रहने वाले नारकियोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति है वह आगेकी पृथिवीमे बसने वाले नारकियोकी जघन्य आयु आचार्योंने कही है। पहली पृथिवीमे बसने वाले नारकियोकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है। मध्यम स्थितिके बहुत भेद है अतः उसका कथन नही हो सकता। सक्षेपमे इतना ही कहा जा सकता है कि जघन्य स्थितिके ऊपर एक समयसे लेकर उत्कृष्ट स्थितिमे एक समय कम तक मध्यम स्थिति कहलाती है ॥६४-६५॥

आगे नरकोमे उत्पन्न होनेका विरहकाल कितना होता है, इसका वर्णन करते हैं—

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया. सप्त रात्रिदिनानि च ।
पक्षो मासश्च मासौ द्वौ चत्वार षट् च ते तथा ॥६६॥

आर्या

इत्युत्कृष्टेन मत प्रोक्तो रत्नप्रभादिपृथ्वीपु ।
उपपादकालविरहो हीनः सर्वत्र समयोऽसौ ॥६७॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदि पृथिवियोमे उत्पन्न होनेका विरहकाल उत्कृष्ट रूपसे क्रमश बारह मुहूर्त, सात दिन-रात, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मास है। जघन्य विरहकाल सर्वत्र एक समय है ॥६६-६७॥

इस प्रकार नरकगति मार्गणाका वर्णन पूर्ण हुआ।

आगे तिर्यञ्चगति मार्गणाका वर्णन करते हैं—

तिर्यग्गत्युदयाज्जीवा जायन्ते यत्र संसृतौ ।
असौ तिर्यग्गतिः प्रोक्ता प्रचिताऽमितमायया ॥६८॥
मायाविपधरीदष्टा मूढा ये किल जन्तव. ।
नित्यमुत्पद्यमानास्ते सहन्ते वेदनामिह ॥६९॥
यद्दु खमिह जीवानां जायते जगतीतले ।
तत्तु नि शेषतो वक्तुं को रसनासहस्रभाक् ॥७०॥
सामान्यतो भवेदेपां निवासो विष्टपत्रये ।
तिर्यग्लोके विशेपेण प्रगीत पूर्वपण्डितै. ॥७१॥
नारका निर्जराश्चापि तिर्यञ्चो मनुजास्तथा ।
यथाभाग्य लभन्तेऽत्र देहितां देहदाहिनीम् ॥७२॥
तिर्यञ्चोऽपि यथाकृत्यमाप्नुवन्ति शरीरिताम् ।
श्वाभ्रे सुरे नरे चापि तिरश्चां निकुरम्बके ॥७३॥
भवेदेपां गुणस्थानपञ्चक सर्वतोऽधिकम् ।
दर्शनत्रितय चापि प्रोक्तं प्रज्ञाधनेश्वरैः ॥७४॥

लिङ्गत्रयी भवेदेषां जन्मोपपादमन्तरा ।
शिष्टद्वयं बुधैरुक्तं योनयश्चाखिला मताः ॥७५॥
भवन्ति व्यासतः किन्तु द्व्यग्रषष्टिसुलक्षका ।
कर्मभूमिषु संलब्धशरीरा इतरे पुनः ॥७६॥
भोगभूमिषु संप्राप्तामन्दसातसमूहकाः ।
केचिदेकेन्द्रियाः केचिद् द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः परे ॥७७॥
चतुरक्षभृत केचित् केचित्पञ्चेन्द्रिया अपि ।
केचिन्मनोयुताः केचिन्मनसा रहिताश्च ते ॥७८॥
केचित्पानीयगाः केचिन्मेदिनीतलगामिनः ।
केचिदम्बरसंचारा भवन्त्येतेषु देहिन ॥७९॥
परा स्थितिर्भवेदेषां त्रिपल्योत्तुलिताऽपरा ।
अन्तर्मुहूर्तसंमाना विविधा मध्यमा तु सा ॥८०॥

अर्थ—इस ससारके बीच तिर्यञ्चगतिनामकर्मके उदयसे जीव जिसमे उत्पन्न होते हैं वह तिर्यञ्चगति कही गई है । यह गति बहुत भारी मायासे युक्त होती है ॥६८॥ निश्चयसे जो अज्ञानी जीव, मायारूपी नागिनके द्वारा डशे जाते है वे इस तिर्यञ्चगतिमे उत्पन्न होकर निरन्तर दु ख सहन करते हैं ॥६९॥ पृथिवीतलपर तिर्यञ्चगतिमे जीवोको जो दु॰ख होता है उसे सम्पूर्णरूपसे कहनेके लिये हजारजिह्वावाला शेषनाग कौन होता है ? अर्थात् उसमे भी तिर्यञ्चगतिका समस्त दु.ख कहनेकी शक्ति नही है ॥७०॥ सामान्यसे तिर्यञ्चोका निवास तीनो लोकोमे है परन्तु विशेषरूपमे पूर्व विद्वानोने मध्यमलोकमे कहा है ॥७१॥ नारकी, देव, तिर्यञ्च तथा मनुष्य—चारो गतियोके जीव अपने-अपने भाग्यानुसार इस तिर्यञ्चगतिमे दु खदायक जन्मको प्राप्त होते हैं ॥७२॥ और तिर्यञ्च भी अपनी-अपनी करनीके अनुसार नारकी देव मनुष्य तथा तिर्यक्समूहमे जन्म प्राप्त करते है ॥७३॥ तिर्यञ्चोके अधिक-से-अधिक प्रारम्भके पाँच गुणस्थान होते हैं तथा विद्यारूपी धनके स्वामी विद्वज्जनोने तिर्यञ्चोके तीनो सम्यग्दर्शन कहे हैं (परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन भोगभूमिज तिर्यञ्चोंके ही सम्भव होता है) ॥७४॥ तिर्यञ्चोके तीनो लिंग होते हैं । उपपादके सिवाय शेष दो अर्थात् गर्भ और समूर्च्छन जन्म होता है । सक्षेपमे सभी योनियाँ हैं किन्तु विस्तारसे बासठ लाख

योनियाँ कही गई हैं। कोई जीव कर्मभूमियोमे जन्म लेते हैं कोई अत्यधिक सुखसमूहको प्राप्त करते हुए भोगभूमियोमे उत्पन्न होते हैं। इनमें कोई जीव एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय हैं, कोई त्रीन्द्रिय हैं, कोई चतुरिन्द्रिय है, कोई पञ्चेन्द्रिय हैं, कोई मन सहित हैं, कोई मन रहित हैं, कोई जलचर हैं, कोई भूमिचर है और कोई नभश्चर हैं। तिर्यञ्चोकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी और जघन्यस्थिति अन्तर्मूहूर्त की है। मध्यमस्थिति अनेक प्रकारकी है ॥७५-८०॥

इस प्रकार तिर्यञ्चगतिका वर्णन पूर्ण हुआ।

आगे मनुष्यगति मार्गणाका वर्णन करते हैं—

गोधगत्युदये नूनं जायते किल या गतिः।
गतिः सा मानुषी ज्ञेया गतिविच्छेदवाञ्छिभिः ॥८१॥
अल्पारम्भतया नित्यं मितग्रन्थतयापि वा।
मन्दत्वाच्च कषायाणां चेतसा सरला नराः ॥८२॥
लभन्ते तत्र जन्मानि पुण्यपाकप्रवर्तिताः।
पुराकृतेन भाग्येन भजन्तीह सुखासुखे ॥८३॥

अर्थ—निश्चयसे जो गति मनुष्यगतिनामकर्मके उदयसे होती है वह गतिविच्छेदके इच्छुक मनुष्योके द्वारा मनुष्यगति जाननेके योग्य है ॥८१॥ निरन्तर अल्प आरम्भ रखनेसे, सीमित परिग्रह रखनेसे, और कषायोकी मन्दतासे, सरल चित्तसे युक्त तथा पुण्योदयसे प्रेरित जीव उस मनुष्यगतिमे जन्मको प्राप्त होते हैं तथा पूर्वकृत कर्मके अनुसार सुख और दु खको प्राप्त होते है ॥८२-८३॥

अब मनुष्योके भेद कहते हैं—

अथार्यम्लेच्छभेदेन द्विप्रकारा भवन्ति ते।
भवन्त्यार्या महामान्या माननीयगुणाश्रयाः ॥८४॥
केचित्तत्रर्द्धिसम्पन्नाः केचनानृद्धिसयुताः।
तपोबुद्ध्यौषधाक्षीणविक्रियारसशक्तिभिः ॥८५॥
सप्तधा ऋद्धिसंपन्नाः प्रोक्ताः प्रज्ञानशालिभिः।
भवन्ति क्षेत्रचारित्रजातिदर्शनकर्मभिः ॥८६॥

पञ्चधा हि परे तेषु त्रिविधा. क्षेत्रजाः पुनः ।
उत्तमाधममध्यार्यभेदतो भुवि विश्रुताः ॥८७॥

अर्थ—आर्य और म्लेच्छोके भेदसे वे मनुष्य दो प्रकारके होते हैं। उनमेसे महामान्य तथा माननीय गुणोके आधारभूत मनुष्य आर्य कहलाते है। कोई आर्य ऋद्धियोंसे सम्पन्न हैं और कोई आर्य ऋद्धियोंसे सम्पन्न नही है। ऋद्धि सम्पन्न मनुष्य, श्रेष्ठ ज्ञानसे शोभित गणधरादिके द्वारा तप, बुद्धि, औषध, अक्षीण, विक्रिया, रस और शक्ति इन सात ऋद्धियोके भेदसे सात प्रकारके कहे गये हैं। अनृद्धि प्राप्त मनुष्य क्षेत्र, चारित्र, जाति, दर्शन और कर्मके भेदसे पाँच प्रकारके कहे गये हैं। उनमे जो क्षेत्रज आर्य हैं वे पृथिवी पर उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके प्रसिद्ध है ॥८४-८७॥

अब तीन प्रकारके क्षेत्रार्योका वर्णन करते है—

अत्र केचिन्नरा भोगभूमिजाः किल भूतले ।
भवन्ति भोगनिष्णाता जिनेन्द्राराधनोद्यताः ॥८८॥
पुरा सम्पादितश्रेष्ठपुण्यमूर्तिनिभा भुवि ।
भुञ्जते ते सदा भोगान् स्वर्गभूरुहसंभवान् ॥८९॥
तप्तकाञ्चनसंकाशकायकान्तिमनोहराः ।
अष्टमभक्तकाहारास्त्रिपल्योपमजीविताः ॥९०॥
क्रोशत्रयसमुत्सेधाः कुरुक्षेत्रनिवासिनः ।
उत्तमास्तेषु कथ्यन्ते ह्यार्यनामविनिःश्रुताः ॥९१॥
रत्नत्रयपवित्रेषु पात्रेषूत्तमनामसु ।
वपुषा मोक्षवर्त्मानं दर्शयत्सु तपस्विषु ॥९२॥
श्रद्धातुष्ट्यादिसम्पत्त्या यथाकाल यथागमम् ।
स्वस्यातिसर्जनादेषु जायन्ते खलु मानवाः ॥९३॥
हरिवर्षभवाः केचित्कम्बुकान्तिकलेवराः ।
क्रोशद्वयसमुत्सेधा द्विपल्योपमितायुष. ॥९४॥
प्रवृत्तषष्ठकाहारा' कल्पवृक्षतलस्थिताः ।
जिताक्षा जितकोपाद्याः स्थितपूर्वाभिभाषिणः ॥९५॥

वाञ्छावेलासमुद्भूतनानाभोगमनोहराः ।
मध्यार्या यभिधीयन्ते चित्रचातुर्यचारव ॥९६॥
सम्यग्दर्शनसशुद्धश्रावकव्रतशालिनि ।
दयातरङ्गिणीनीरपूरनिर्धूतकल्मषे ॥९७॥
मध्यमे भाजने दत्तदानमाहात्म्यलेशतः ।
जायन्ते देहिनो ह्यत्र सुखसंघातसगताः ॥९८॥
केचिद्धैमवतोद्भूताः क्रोशमात्रसमुच्छ्रिताः ।
नीलोत्पलदलश्यामशरीरा बहुशोभिनः ॥९९॥
अमन्दानन्दसंदोहसंयुताः स्मितशालिनः ।
चतुर्थभक्तकाहारा एकपल्यमितायुषः ॥१००॥
तृतीयपात्रसंदत्तदानपुण्यप्रवर्तिताः ।
निगद्यन्ते तृतीयार्या नित्यं कन्दलितोत्सवाः ॥१०१॥

अर्थ—इस पृथिवीपर कितने ही मनुष्य भोगभूमिज होते हैं जो निरन्तर भोगोमे निष्णात रहते हैं तथा जिनेन्द्र देवकी आराधनामे तत्पर होते हैं ॥८८॥ जो पूर्वोपार्जित श्रेष्ठ पुण्यकी मूर्तिके समान पृथिवीपर सदा कल्पवृक्षोसे समुत्पन्न भोग भोगते हैं ॥८९॥ ताये हुए सुवर्णके समान शरीरकी कान्तिसे मनोहर रहते हैं, तीन दिनके अन्तरसे आहार करते हैं, तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं, तीन कोश ऊँचे होते हैं और देवकुरु तथा उत्तरकुरु क्षेत्रमे निवास करते हैं वे उन आर्योंमे उत्तमार्य कहे जाते हैं। जो रत्नत्रयसे पवित्र हैं और शरीरसे मोक्षमार्ग दिखा रहे हैं अर्थात् जिनकी शान्त मुद्रा देखकर लोग स्वय समझ लेते हैं कि यही मोक्षमार्ग है, ऐसे उत्तम पात्र नामवाले तपस्वी मुनियोकी श्रद्धा, तुष्टि आदि गुणोके साथ यथासमय आगमानुसार आहार आदि स्वकीय वस्तुओके देनेसे मनुष्य इन उत्तमार्योंमे उत्पन्न होते हैं ॥९०–९३॥

जो हरिवर्ष (और रम्यक) क्षेत्रमें उत्पन्न हैं, शङ्खके समान कान्ति वाले शरीरसे सहित हैं, दो कोश ऊँचे हैं, दो पल्यकी आयुवाले हैं, दो दिनके अन्तरसे आहार करते हैं, कल्पवृक्षोके नीचे निवास करते हैं, जितेन्द्रिय तथा जितकषाय हैं, मन्द हासपूर्वक वार्तालाप करते हैं, इच्छा करते ही प्राप्त होने वाले भोगोसे मनोहर हैं और नाना प्रकारकी चतुराई

से सुन्दर है, वे मध्यार्य कहलाते हैं ॥९४–९६॥ सम्यग्दर्शनसे शुद्ध श्रावकके व्रतोंसे सुशोभित तथा दयारूपी नदीके जलप्रवाहसे पापरूपी कालिमाको धोने वाले मध्यम पात्रके लिये दिये हुए दानकी महिमा के अशसे इन मध्यमार्योंमे जीव उत्पन्न होते है और वे निरन्तर सुख-समूहसे युक्त रहते हैं ॥९७–९८॥

जो हैमवत (और हैरण्यवत) क्षेत्रमे उत्पन्न हैं, एक कोश ऊँचे है, नील कमलकी कलिकाके समान श्यामल शरीर वाले है, अतिशय शोभायमान हैं, अमन्द आनन्दके समूहसे रहित हैं, मन्द मुसकानसे सुशोभित है, एक दिनके अन्तरसे आहार करते है, एक पल्यकी आयु वाले है, तृतीय पात्र अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्योंको दान देनेसे उत्पन्न हुए हैं और निरन्तर उत्सव करते रहते है वे तृतीयार्य जघन्य आर्य कहे जाते हैं ॥९९–१०१॥

चारित्रार्य—

चारुचारित्रचन्द्रीयचन्द्रिकाचितचेतसः ।
चारित्रार्याश्चरन्तीह केचिदौचित्यचारवः ॥१०२॥

अर्थ—जिनका चित्त उत्तम चारित्ररूपी चन्द्रमाकी चाँदनीसे व्याप्त है तथा उचित प्रवृत्तिसे मनोहर हैं ऐसे कोई चारित्रार्य इस जगत्मे विचरते हैं ॥१०२

जात्यार्य

जगतीजातपूज्यासु जाता जातिषु जातुचित् ।
जात्यार्याः संप्रजायन्ते जनाः केऽपि सभाजिताः ॥१०३॥

अर्थ—जो पृथिवीतलपर उत्पन्न हुए मनुष्योंसे पूजनीय जातियोमे कदाचित् उत्पन्न होते है और सर्वत्र सन्मानको प्राप्त होते है ऐसे कोई जीव जात्यार्य कहलाते है ॥१०३॥

कर्मार्य—

कमनीयं हि कुर्वाणाः कर्म किञ्चन केऽपि च ।
कर्मार्याः किल कीर्त्यन्ते कृतकर्मकलेवरैः ॥१०४॥

अर्थ—जो निश्चयसे किसी अनिर्वचनीय कर्म–कार्यको करते है वे कर्मरूप शरीरको नष्ट करने वाले जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कर्मार्य कहे जाते है ॥१०४॥

दर्शनार्य—

सद्दर्शनाश्रितं येपां मानसं भुवि विश्रुतम् ।
दृश्यन्ते दर्शनार्यास्ते दर्शनार्हसुदृष्टयः ॥१०५॥

अर्थ—जिनका हृदय सम्यग्दर्शनसे युक्त होकर पृथिवीमे प्रसिद्ध हुआ है वे दर्शनके योग्य सम्यग्दर्शनसे सहित दर्शनार्य देखे जाते हैं ॥१०५॥

म्लेच्छ—

धर्मकर्मवहिर्याता दुर्भावाश्रितदुर्हृदः ।
म्लेच्छास्ते मानवाः प्रोक्ता दक्षा ये पापकर्मसु ॥१०६॥
तत्रान्तर्द्वीपजाः केचित् केचन कर्मभूमिजाः ।
इत्थ द्विधा भवन्त्येते म्लेच्छा दीक्षापराङ्मुखाः ॥१०७॥
अन्तर्द्वीपेषु जायन्ते म्लेच्छा ये म्लानवुद्धयः ।
अन्तर्द्वीपसमुद्भूताः प्रोच्यन्ते ते सुसूरिभि ॥१०८॥
पल्योपमायुपः सर्वे सर्वे वैरूप्यदूपिता ।
कुपात्रदानमाहात्म्यादाप्नुवन्ति सदाऽसुखम् ॥१०९॥
एते कुभोगभूम्युत्था म्लेच्छनामधरा नराः ।
मृत्वा देवत्वमायान्ति विचित्रा कर्मसन्ततिः ॥११०॥
आर्येतरपञ्चखण्डेपु जाता ये तेऽपि मानवाः ।
क्षेत्रम्लेच्छाः प्रकथ्यन्ते सूरिभिः श्रुतधारिभिः ॥१११॥
पुलिन्दप्रमुखा ज्ञेया कर्मभूमिसमुद्भवाः ।
एव द्वेधा नराः प्रोक्ता अथो वच्मि तदाश्रयम् ॥११२॥

अर्थ—जो धर्म-कर्मसे दूर हैं, जिनके दुष्ट हृदय नाना प्रकारके खोटे भावोसे सहित हैं तथा जो पापकार्योंमे कुशल हैं वे म्लेच्छ मनुष्य कहे गये हैं। कोई म्लेच्छ अन्तर्द्वीपज है और कोई कर्मभूमिज है। इस प्रकार वे म्लेच्छ दो प्रकारके है। वे म्लेच्छ दीक्षासे विमुख होते हैं। मलिन बुद्धिके धारक जो म्लेच्छ अन्तर्द्वीपोमे उत्पन्न होते हैं वे उत्तम आचार्योंके द्वारा अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं। ये सब एक पल्यकी आयु वाले होते हैं, शरीरसे विरूप होते हैं तथा कुपात्रदानके प्रभावसे सदा दुःख भोगते हैं। ये कुभोगभूमिमे उत्पन्न म्लेच्छ नामधारी मनुष्य मरकर देव पदको

प्राप्त होते हैं सो ठीक ही है क्योंकि कर्मोकी सन्तति विचित्र होती है। आर्य खण्डके सिवाय भरतादि क्षेत्रोमे जो पांच म्लेच्छ खण्ड है उनमे ही उत्पन्न हुए जीव श्रुतके धारक आचार्योके द्वारा क्षेत्रम्लेच्छ कहे जाते हैं। भील, शक, यवन आदि मनुष्य कर्मभूमिज म्लेच्छ जानना चाहिये। इस तरह दो प्रकारके मनुष्योका कथन किया। अब आगे इन मनुष्योके निवास स्थानका वर्णन करते हैं ॥१०६-११२॥

आगे लवणसमुद्रसे वेष्टित जम्बूद्वीपको आदि लेकर असख्यात द्वीप-समुद्रोका वर्णन करते है—

चलत्कल्लोलमालाभिर्गगन किल चुम्बता ।
पाठीनोद्वर्तनोद्भिन्नशीकरासारशोभिना ॥११३॥
कूजत्कादम्बचक्राङ्गचक्रवाकविराजिना ।
दीव्यद्देवाङ्गनादिव्यदेहदीधितिहारिणा ॥११४॥
उद्भ्रमन्मेघसघातविहितोल्लोचचारुणा ।
नैकरत्नमयूखालिशालिवेलाविशोभिना ॥११५॥
वासिताशेषकाष्ठान्ततटीकाननकन्तुना ।
युगयोजनलक्षात्ममानमण्डितभूर्जिना ॥११६॥
प्रस्फुटत्पद्मपुञ्जेन विद्रुमोच्चयशालिना ।
जडात्मना सुवृत्तेन लवणोदन्वता परम् ॥११७॥
जम्बूद्वीपः परीतोऽस्ति जम्बूवृक्षोपलक्षितः ।
लक्षयोजनविस्तीर्ण इन्दिरामन्दिरोपमः ॥११८॥
आदित्यमण्डलाकारो मेरुमण्डितमध्यभूः ।
धातकिस्त परीत्यास्ते तं च कालसरित्पतिः ॥११९॥
पुष्करस्तं च तमपि पुष्करोदो विराजते ।
आवेष्ट्य तं स्थितो द्वीपो वारुणीवरनामकः ॥१२०॥
त वारुणीवर. सिन्धुः समावृत्य विशोभते ।
अस्ति क्षीरवरो द्वीपस्ततः क्षीरपयोनिधि. ॥१२१॥
द्वीपो घृतवरस्तस्मात्सर्पिषः सागरस्ततः ।
ततश्चेक्षुवरो द्वीपः समुद्रश्चेक्षुसंज्ञकः ॥१२२॥

दर्शनार्य—

सद्दर्शनाश्रितं येषां मानसं भुवि विश्रुतम् ।
दृश्यन्ते दर्शनार्यास्ते दर्शनार्हसुदृष्टयः ॥१०५॥

अर्थ—जिनका हृदय सम्यग्दर्शनसे युक्त होकर पृथिवीमे प्रसिद्ध हुआ है वे दर्शनके योग्य सम्यग्दर्शनसे सहित दर्शनार्य देखे जाते हैं ॥१०५॥

म्लेच्छ—

धर्मकर्मबहिर्याता दुर्भावाश्रितदुर्हृदः ।
म्लेच्छास्ते मानवाः प्रोक्ता दक्षा ये पापकर्मसु ॥१०६॥
तत्रान्तर्द्वीपजाः केचित् केचन कर्मभूमिजाः ।
इत्थ द्विधा भवन्त्येते म्लेच्छा दीक्षापराङ्मुखाः ॥१०७॥
अन्तर्द्वीपेषु जायन्ते म्लेच्छा ये म्लानबुद्धयः ।
अन्तर्द्वीपसमुद्भूताः प्रोच्यन्ते ते सुसूरिभि ॥१०८॥
पल्योपमायुषः सर्वे सर्वे वैरूप्यदूषिता ।
कुपात्रदानमाहात्म्यादाप्नुवन्ति सदाऽसुखम् ॥१०९॥
एते कुभोगभूम्युत्था म्लेच्छनामधरा नराः ।
मृत्वा देवत्वमायान्ति विचित्रा कर्मसन्ततिः ॥११०॥
आर्येतरपञ्चखण्डेषु जाता ये तेऽपि मानवाः ।
क्षेत्रम्लेच्छाः प्रकथ्यन्ते सूरिभिः श्रुतधारिभिः ॥१११॥
पुलिन्दप्रमुखा ज्ञेया कर्मभूमिसमुद्भवाः ।
एव द्वेधा नराः प्रोक्ता अथो वच्मि तदाश्रयम् ॥११२॥

अर्थ—जो धर्म-कर्मसे दूर हैं, जिनके दुष्ट हृदय नाना प्रकारके खोटे भावोसे सहित हैं तथा जो पापकार्योंमे कुशल हैं वे म्लेच्छ मनुष्य कहे गये है। कोई म्लेच्छ अन्तर्द्वीपज है और कोई कर्मभूमिज है। इस प्रकार वे म्लेच्छ दो प्रकारके है। वे म्लेच्छ दीक्षासे विमुख होते है। मलिन बुद्धिके धारक जो म्लेच्छ अन्तर्द्वीपोमे उत्पन्न होते हैं वे उत्तम आचार्योंके द्वारा अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं। ये सब एक पल्यकी आयु वाले होते हैं, शरीरसे विरूप होते है तथा कुपात्रदानके प्रभावसे सदा दुःख भोगते हैं। ये कुभोगभूमिमे उत्पन्न म्लेच्छ नामधारी मनुष्य मरकर देव पदको

ऐरावतश्च सप्तैते जम्बूद्वीपे यथाक्रमम् ।
सुषमाभारसंछन्ना वर्षा सन्ति सदातनाः ॥१२६॥

हिमवांश्च महाहिमवान् निषधो नीलरुक्मिणौ ।
शिखरी चेति विज्ञेयास्तद्विभाजकभूधराः १२७॥

सर्वेऽप्येते महातेजोमणिपुञ्जप्रभासिताः ।
उपर्यधः समाकाराः शृङ्गनुन्ननभोऽन्तराः ॥१२८॥

पूर्वापरो पयोराशी वगाह्यावस्थिता इमे ।
मेदिनीमानदण्डाभा भासन्ते भूरिवैभवा ॥१२९॥

भर्माभः प्रथमस्तत्र द्वितीयो धवलप्रभः ।
तपनीयनिभश्चान्यश्चतुर्थो गरुडप्रभः ॥१३०॥

पञ्चमो रजताकारः षष्ठो हेममयस्तथा ।
पद्मश्चापि महापद्मस्तिगिञ्छः केसरी तथा ॥१३१॥

पुण्डरीको महापूर्वः पुण्डरीको यथाक्रमम् ।
कासारास्तत्र वर्तन्ते हिमवत्प्रमुखाद्रिषु ॥१३२॥

अर्थ—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, सुन्दरताका आधार रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र जम्बूद्वीपमे क्रमसे स्थित हैं। सुषमा-के समूहसे आच्छादित अर्थात् अत्यन्त शोभायमान तथा अनादिनिधन है ॥१२५–१२६॥ हिमवान् महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह उन क्षेत्रोका विभाग करने वाले पर्वत है ॥१२७॥ ये सभी पर्वत महादेदीप्यमान मणियोंके समूहसे सुशोभित है, ऊपर नीचे तथा बीचमे समान आकार वाले है, शिखरोके द्वारा आकाशके मध्यको विदीर्ण करने वाले है, पूर्व-पश्चिम समुद्रमे अवगाहन कर स्थित है, बहुत भारी वैभव-से सहित है तथा पृथ्वीके मानदण्डके समान जान पडते हैं ॥१२८–१२९॥ उन पर्वतोमे पहला पर्वत सुवर्णके समान पीला है, दूसरा धवल वर्णका है, तीसरा सतप्त सुवर्णके समान है, चौथा गरुड मणिके समान है, पाँचवाँ चाँदीके आकार वाला है और छठवाँ सुवर्णमय है। पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक यह छह सरोवर क्रमसे उन हिमवान् आदि पर्वतो पर स्थित है ॥१३०–१३२॥

अब उन सरोवरोमे स्थित कमल तथा उनमे रहने वाली देवियोका वर्णन करते हैं—

सहस्रयोजनायामः प्रथमस्त्वार्धविस्तरः ।
आतिगिञ्छं द्विगुणिता उत्तरा दक्षिणोपमाः ॥१३३॥
दशयोजनगाम्भीर्यः प्रथमश्च तदुत्तरा ।
द्विगुणा आतृतीयान्तमुदीच्या दक्षिणोपमा ॥१३४॥
प्रथमे योजन पद्मं द्वितीये युगयोजनम् ।
तृतीये चापि विज्ञेयं युगलद्वन्द्वयोजनम् ॥१३५॥
पूर्वतुल्यान्युदीच्यानि प्रस्फुरन्ति निरन्तरम् ।
पिङ्गकिञ्जल्कपुञ्जेन मञ्जुलान्यखिलान्यपि ॥१३६॥
तदीयकर्णिकामध्यप्रान्तभागनिवेशिन ।
शारदेन्दुनिभा क्रोशायामा क्रोशार्धविस्तरा ॥१३७॥
देशोनक्रोशकोत्सेधाः सन्ति सौधा शुभावहा ।
तत्र श्रीर्ह्रीर्धृति कीर्तिर्बुद्धिलक्ष्मी यथाक्रमम् ॥१३८॥
देव्यः पल्यायुपः सामानिकपारिपदावृता ।
अमन्दानन्दसन्दोहतुन्दिला निवसन्ति ता. ॥१३९॥

अर्थ—पहला सरोवर एक हजार योजन गहरा और पांचसौ योजन चौडा है। तिगिञ्छ पर्यन्त दूने-दूने विस्तार वाले हैं और उत्तरके सरोवर दक्षिणके समान हैं। पहला सरोवर दश योजन गहरा है, उसके आगे तीसरे सरोवर तक दूने-दूने गहरे हैं और उत्तरके सरोवर दक्षिणके समान है ।।१३३-१३४।। प्रथम सरोवरमे एक योजन विस्तार वाला, दूसरे सरोवरमे दो योजन विस्तार वाला और तीसरे सरोवरमे चार योजन विस्तार वाला कमल है। उत्तर दिशाके कमल पूर्व कमलोके समान विस्तार वाले है। ये सभी कमल निरन्तर विकसित रहते हैं और पीली केशरके समूहसे मनोहर हैं ॥१३५-१३६॥

उन कमलोकी कर्णिकाके मध्यभागमे स्थित, शरदऋतुके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल, एक कोश लम्बे, आधा कोश चौडे और कुछ कम एक कोश ऊँचे उत्तम भवन हैं। उन भवनोमे क्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ निवास करती हैं। ये देवियाँ एक पल्यकी

आयुवाली, सामानिक तथा पारिषद जातिके देवोसे घिरी तथा बहुत भारी आनन्दके समूह युक्त होती है ॥१३७-१३९॥

आगे चौदह महानदियोका वर्णन करते हैं—

गङ्गासिन्धू ततो रोहिद्रोहितास्ये सुविस्तृते ।
द्वे हरिद्धरिकान्ते च सीतासीतोदके तथा ॥१४०॥
ते नारीनरकान्ते च स्वर्णरूप्यककूलके ।
रक्तारक्तोदके द्वे द्वे स्रवन्त्यौ क्षेत्रसप्तके ॥१४१॥
युगले पूर्वगा पूर्वा· शेषाः पश्चिमगा मता ।
चतुर्दशसहस्रात्मपरिवारपरिश्रिते ॥१४२॥
गङ्गासिन्धू ततो द्वन्द्वत्रयं द्विगुणितश्रितम् ।
उत्तरा दक्षिणातुल्या सरितां युगलत्रयी ॥१४३॥

अर्थ—गङ्गा-सिन्धु, रोहित्-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, स्वर्णकूला-रूप्यकूला, और रक्ता-रक्तोदा, दो-दोके युगलमे ये चौदह नदियाँ उपर्युक्त सात क्षेत्रोमे बहती है । प्रत्येक युगलकी पहली नदी पूर्व दिशाकी ओर बहती है और दूसरी नदी पश्चिम की ओर जाती है । गङ्गा और सिन्धु नदीका युगल चौदह हजार सहायक नदियोसे सहित है आगेके तीन युगल दूनी-दूनी नदियोसे सेवित है। उत्तरकी नदियोंके तीन युगल दक्षिणके तीन युगलोके समान है ॥१४०-१४३॥

आगे भरतादि क्षेत्रोके विस्तार आदिका वर्णन करते हैं—

नवतिशतभाग. स्याज्जम्बूद्वीपस्य दक्षिणे ।
भरतो भूरिभूतीनामाश्रयः सुगुणै श्रित· ॥१४४॥
आविदेहं ततो वर्षधरवर्षभुवोऽपि च ।
द्वाभ्यां गुणितविस्तारास्तदग्रथा पूर्वसन्निभाः ॥१४५॥
आद्येऽन्तिमे तथा क्षेत्रे वृद्धिहानिचयप्रदे ।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ पक्षयुग्मसुसदृशे ॥१४६॥
वर्तेते एव नान्यत्रावस्थिता ह्यन्यभूमयः ।
गङ्गासिन्धुस्रवन्तीभ्यां विजयार्धनगेन च ॥१४७॥

मण्डितं खण्डितं षोढा भारतं खलु विद्यते ।
मध्यमं शकलं तत्र ह्यार्यक्षेत्रं समुच्यते ॥१४८॥
इतरत्पञ्चकं ज्ञेयं म्लेच्छपूरुषसश्रितम् ।
विदेहस्तन्महाक्षेत्र चतुर्थं जगतीतले ॥१४९॥
राजते यत्र मोक्षस्याजस्रं पन्थाः प्रवर्तते ।
लक्षैकयोजनोत्सेधस्तुङ्गशृङ्गविशोभितः ॥१५०॥
नन्दनादिवनाकीर्णः शातकुम्भकलेवरः ।
यस्य भूपयते मध्यं महामेरुः सुदर्शनः ॥१५१॥
द्वात्रिंशच्च भिदा यस्य सन्ति शैलधुनीकृताः ।
देवोत्तरकुरू मुक्त्वा विदेहे सकलेऽप्यहो ॥१५२॥
संख्येयहायनायुष्का मर्त्या भद्रा भवन्ति हि ।
ऐरावतं भवेत्क्षेत्रं भरतेन समं सदा ॥१५३॥
अस्यादिकर्मषट्केन जीवा जीवन्ति तत्त्रिगाः ।
अन्यत्र स्वर्गभूजातजातभोगचयं चिरम् ॥१५४॥
भुञ्जाना भूजनाः सन्ति भोगभूमिमहातले ।
पूर्वशास्त्रक्रमादेवं जम्बूद्वीपः प्ररूपितः ॥१५५॥

अर्थ—जम्बूद्वीपके दक्षिणमे, जम्बूद्वीपके एकसौ नव्वेवें भाग प्रमाण ($५२६\frac{६}{१९}$ योजन) भरत क्षेत्र है, जो बहुत भारी सम्पदाओका आधार है तथा उत्तम गुणी मनुष्योसे सहित है ॥१४४॥ इसके आगे विदेह क्षेत्र तक के पर्वत और क्षेत्र दूने-दूने विस्तार वाले हैं। विदेहके आगेके पर्वत और क्षेत्र पहलेके पर्वत और क्षेत्रोके समान हैं ॥१४५॥ पहले और अन्तिम क्षेत्रमे अर्थात् भरत और ऐरावत क्षेत्रमे शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्षके समान वृद्धि और हानिके समूहको देने वाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रवर्तती है। इनके सिवाय अन्य भूमियाँ अवस्थित हैं अर्थात् जहाँ जो काल है वहाँ वह निरन्तर वर्तता है। गङ्गा, सिन्धु नदी तथा विजयार्ध पर्वतसे सुशोभित भरत क्षेत्रके छह खण्ड हो जाते हैं। उनमे बीचका आर्य-खण्ड कहलाता है और शेष पाँच म्लेच्छ पुरुषोसे सेवित हैं अर्थात् म्लेच्छ खण्ड हैं। इस पृथ्वीतलपर चौथा विदेह क्षेत्र सुशोभित है जहाँ मोक्षका

मार्ग निरन्तर प्रवर्तता है। एक लाख योजन ऊँचा, उन्नत चूलिकासे सुशोभित, नन्दनादि वनोंसे युक्त, सुवर्णमय सुदर्शन नामका महामेरु जिस विदेह क्षेत्रके मध्यभागको विभूषित करता है ॥१४६–१५१॥ वक्षार गिरि और विभङ्गा नदियोंके द्वारा किये हुए बत्तीस भेद जिस विदेह क्षेत्र-के हैं। देवकुरु और उत्तरकुरुको छोड़कर समस्त विदेह क्षेत्रमे सख्यात वर्षकी आयु वाले भद्रपरिणामी मनुष्य रहते हैं। ऐरावत क्षेत्र सदा भरत क्षेत्रके समान रहता है ॥१५२–१५३॥ भरत, ऐरावत और विदेह इन तीन क्षेत्रोमे रहने वाले मनुष्य असि आदि छह कर्मोंके द्वारा जीवित रहते है और भोगभूमिमे रहने वाले मनुष्य कल्पवृक्षोसे उत्पन्न हुए भोगोको चिर काल तक भोगते हुए निवास करते हैं। इस प्रकार पूर्व शास्त्रोंके अनुसार जम्बूद्वीपका निरूपण किया ॥१५४–१५५॥

आगे धातकीखण्ड आदि द्वीपोका वर्णन करते हैं—

लवणाब्धिं परिक्षिप्य धातकीखण्डमस्ति यत्।
एतस्माद् द्वीपतस्तत्र द्विगुणा निर्मितिर्मता ॥१५६॥
कालोदधिः परिक्षिप्य द्वीपो यः पुष्कराभिधः।
तस्यार्धे वलयाकारः शृङ्गभिन्नवलाहकः ॥१५७॥
प्राकारायते नूनं मानुषोत्तरपर्वतः।
प्राक् ततोऽपि समाचिन्त्या रचना द्विगुणीकृता ॥१५८॥
एवं पञ्चदशत्रिंशल्लक्षयोजनविस्तृतम्।
सार्धद्वीपद्वयं यावदेव मानुषसस्थितिः ॥१५९॥
आद्येऽब्धौ कालसिन्धौ च चतुरूनशतप्रभा।
द्वीपा अन्तर्गताः सन्ति म्लेच्छास्तेषु वसन्ति ते ॥१६०॥
येऽन्तर्द्वीपसमुद्भूता प्रोक्ता दुष्कर्मदूषिताः।
एते कुभोगभूजाता वर्णिता म्लेक्षसंज्ञया ॥१६१॥

अर्थ—लवणसमुद्रको घेर कर जो धातकीखण्डद्वीप है उसमे इस जम्बूद्वीपसे दूनी रचना मानी गई है ॥१५६॥ कालोदधि समुद्रको घेर कर जो पुष्करवर नामका द्वीप है उसके अर्ध भागमे चूडीके आकार तथा शिखरोसे मेघोको विदीर्ण करनेवाला मानुषोत्तर पर्वत है। यह मानुषोत्तर पर्वत कोटके समान जान पडता है। उस मानुषोत्तर पर्वतके पहले भी

जम्बूद्वीपसे दूनी अर्थात् घातकीखण्डके बराबर रचना जानना चाहिए ॥१५७-१५८॥ इस प्रकार पैंतालीस लाख योजन विस्तृत अढाई द्वीप तक ही मनुष्योका सद्भाव है। ॥१५९॥ लवणसमुद्र तथा कालोदधि समुद्रमे छियानवे अन्तर्द्वीप हैं। उनमे वे म्लेच्छ रहते हैं जो अन्तर्द्वीपज तथा दुष्कर्मसे दूषित कहे गये हैं। ये कुभोगभूमिज जीव म्लेच्छनामसे कहे गये हैं ॥१६०-१६१॥

आगे मनुष्योमे कौन उत्पन्न होते हैं ? यह कहते हैं—

अथ मर्त्येषु के जीवा जायन्त इति चेच्छृणु ।
अमरा मानवाश्चापि तिर्यञ्चश्चापि नारकाः ॥१६२॥
यथाभाग्यं लभन्तेऽत्रोद्भविनां भविनो भवे ।
नराश्चापि यथाकर्म गतीनां हि चतुष्टये ॥१६३॥
उत्पद्यन्ते पुनः केऽपि प्रसेधन्ति शिवश्रियम् ।
नृणां तीर्णभवाब्धीनां जातानां कर्मभूमिषु ॥१६४॥
भवेयुर्गुणधामानि केषाञ्चिच्चतुर्दश ।
दर्शनत्रितयं चापि भवितुं शक्नुयादिह ॥१६५॥
केचिद्गर्भजन्मानः केचित्संमूर्छनोद्भवा ।
केचित्पुवेदिनः केचित्कामिनीरूपधारिणः ॥१६६॥
केचन क्लीवताधारा सर्वे सर्वेन्द्रियास्तु ते ।
भवन्ति स्वान्तसयुक्ताः पुमांसो निखिला इह ॥१६७॥
भवेयुर्योनिलक्षाणि मानवानां चतुर्दश ।
त्रिपल्योपमित चायुः परम ह्यपर तु तम् ॥१६८॥
शेषमन्तर्मुहूर्तात्म प्रोक्तेत्थं मानवी गतिः ।
अथाग्रे कलये किञ्चिन्नैलिम्पी किल तां गतिम् ॥१६९॥

अर्थ—आगे मनुष्योमे कौन जीव उत्पन्न होते हैं ? यह जानना चाहते हो तो सुनो। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च नारकी—चारो गतिके जीव अपने अपने भाग्यके अनुसार इस मनुष्यगतिमे जन्मको प्राप्त होते हैं और मनुष्य भी अपने कर्मोके अनुसार चारो गतियोमें उत्पन्न होते हैं ॥१६२-१६३॥ कोई मनुष्य मोक्षलक्ष्मीको भी प्राप्त होते हैं। जो ससार

सागरसे पार हो रहे हैं ऐसे कर्मभूमिज किन्ही मनुष्योके चौदह गुणस्थान होते हैं। इस मनुष्यगतिमे तीनो सम्यग्दर्शन हो सकते है ॥१६४-१६५॥ इस मनुष्यगतिमे कोई गर्भ जन्म वाले है, कोई समूर्च्छन जन्म वाले हैं, कोई पुरुषवेदी है, कोई स्त्रीवेदो है, और कोई नपुसकवेदी हैं। इस गतिमे जीव पञ्चेन्द्रिय और सज्ञी ही होते हैं। मनुष्योकी चौदह लाख योनियाँ होती हैं, तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयु और अन्तर्मुहूर्तकी जघन्य आयु है। इस प्रकार मनुष्यगतिका कथन किया। अब आगे कुछ देवगतिका निरूपण करता हूँ ॥१६६-१६९॥

(इस प्रकार मनुष्यगतिका वर्णन पूर्ण हुआ)

आगे देवगतिका वर्णन करते है—

उपजाति

दीव्यन्ति नानागिरिशृङ्गकेषु
पयोधिपूरेषु सरित्तटेषु ।
पयोदवृन्दे च निजेच्छया ये
गदन्ति देवान् किल तान् जिनेन्द्राः ॥१७०॥

अर्थ—नाना पर्वतोंके शिखरोपर, समुद्र के पूरोमे, नदियोके तटोपर और मेघसमूहमे जो अपनी इच्छानुसार क्रीडा करते है उन्हे जिनेन्द्र भगवान् देव कहते हैं ॥१७०॥

देवगत्युदये नूनं जायन्ते यत्र देहिनः ।
देवानां सा गतिः प्रोक्ता दिव्यबोधविराजितैः ॥१७१॥
भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकसुसंज्ञिताः ।
भेदा भवन्ति चत्वारस्तेषां भूरिभिदां गताः ॥१७२॥
नागादिभेदतो भिन्ना भावना दशधा पुनः ।
किन्नराद्याश्च विज्ञेया व्यन्तरा वसुभेदिताः ॥१७३॥
ज्योतिष्काः पञ्चधा प्रोक्ताः सूर्याचन्द्रादिभेदतः ।
द्वादशभेदसंभिन्ना अखिन्ना बहुभूतिभिः ॥१७४॥
वैमानिकास्तथा प्रोक्ताः पूर्वाचार्यकदम्बकैः ।
कल्पाकल्पजभेदेन द्वेधा तेऽपि मताः पुनः ॥१७५॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदाभिधाः ।
लोकपालात्मरक्षानीकप्रकीर्णककिल्विषाः ॥१७६॥
आभियोग्याश्च विज्ञेया भेदाः सङ्घचतुष्टये ।
लोकपालैस्तथा त्रायस्त्रिंशैरपगताः पुनः ॥१७७॥
वन्यज्योतिर्मतामष्टावेव भेदा भवन्ति तु ।
एवं देवगतौ भेदव्यवस्था विनिदर्शिता ॥१७८॥

अर्थ—देवगति नाम कर्मके उदयसे जिसमे जीव उत्पन्न होते हैं उसे केवलज्ञानसे सुशोभित-अर्हन्त भगवान्ने देवगति कहा है ॥१७१॥ भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक नामसे उनके चार भेद होते हैं। ये चारो भेद बहुत भारी अवान्तर भेदोको प्राप्त हैं ॥१७२॥ नागकुमार आदिके भेदसे भवनवासी दश प्रकारके और किन्नर आदिके भेदसे व्यन्तर देव आठ प्रकारके जानना चाहिए ॥१७३॥ सूर्य, चन्द्रमा आदिके भेदसे ज्योतिषी देव पांच प्रकारके कहे गये है। बहुत भारी विभूतिसे हर्षित रहनेवाले वैमानिकदेव पूर्वाचार्योंके समूह द्वारा बारह प्रकारके कहे गये हैं। वे वैमानिक देव कल्पोपपन्न और कल्पातीतके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥१७४-१७५॥ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, लोकपाल, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, किल्विष और आभियोग्य ये दश भेद चारो निकायोमे जानना चाहिए। परन्तु विशेषता यह है कि व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके लोकपाल और त्रायस्त्रिंशके विना आठ ही भेद माने गये हैं। इस प्रकार देवगतिमें भेद व्यवस्था दिखायी गयी है ॥१७६-१७८॥

आगे देवोमे प्रवीचार (कामसुख) का विभाग कहते हैं—

उपजाति

ऐशानक व्याप्य निलिम्पवर्गाः
कायप्रवीचारयुता भवन्ति ।
ततः परं स्पर्शनरूपराव-
चित्तप्रवीचारयुताश्च बोध्याः ॥१७९॥

ततः परे तु विज्ञेया देवा मैथुनवर्जिताः ।
स्वात्मजानन्दसंभारसंभृता परमत्विषः ॥१८०॥

अर्थ—ऐशान स्वर्ग तकके देव काय प्रवीचारसे सहित हैं और उसके आगे सानत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्गके देव स्पर्शन प्रवीचार, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर,

लान्तव, कापिष्ठ इन चार स्वर्गोंके देव रूपप्रवीचार, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार इन चार स्वर्गोंके देव शब्दप्रवीचार और आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार स्वर्गोंके देव मन प्रवीचारसे युक्त जानना चाहिये। इसके आगेके सब देव कामबाधासे रहित है, आत्मोत्थ आनन्दके समूहसे परिपूर्ण तथा उत्कृष्ट कान्तिको धारण करनेवाले हैं ॥१७९-१८०॥

अब देवोंके आवासस्थानका वर्णन करते हैं—

अथातः संप्रवक्ष्याम्यावसथ दानवद्विषाम् ।
सुखपीयूषसंपूर्णचेतसां विपुलायुषाम् ॥१८१॥

उपजाति

रत्नप्रभायाः प्रथमे विभागे तथा द्वितीये च विभाभिरम्ये ।
भव्येषु सौधेषु वसन्ति देवा नागादयो भावनवासिनस्ते ॥१८२॥

रत्नप्रभाभुवो भागे मध्ये चोर्ध्वतलेऽपि च ।
व्यन्तरा अमरा नूनं निवसन्ति निरन्तरम् ॥१८३॥
योजनानां च सप्तैव शतानि नवतिस्तथा ।
उत्पत्य मेदिनीभागाद् यावन्नवशतीं समात् ॥१८४॥
नभोऽङ्गणे निराधारे जम्भारातिमणिप्रभे ।
तारारवीन्दुनक्षत्रबुधभार्गवजीवकाः ॥१८५॥
अङ्गारकश्च मन्दश्चेत्येवं वै क्रमितां गताः ।
वसन्ति ज्योतिषा देवा कान्तिकान्तकलेवराः ॥१८६॥
मानवानां महीक्षेत्रे सुमेरुं स्वर्णसन्निभम् ।
सर्वदागतयो ह्येते परिक्राम्यन्ति सन्ततम् ॥१८७॥
एतत्संचारसभूतो गौणः कालः प्रवर्तते ।
ततो बहिः स्थिताः सर्वे कीर्णका इव संस्थिताः ॥१८८॥

अर्थ—अब इसके आगे सुखरूपी अमृतसे परिपूर्णचित्त तथा विशाल आयु वाले देवोके निवासस्थानको कहूँगा ॥१८१॥ रत्नप्रभा पृथिवीके कान्तिसे रमणीय पहले तथा दूसरे (खरभाग और पंकभाग) भागमे जो सुन्दर भवन हैं उनमे नागकुमार आदि भवनवासी देव रहते हैं ॥१८२॥

रत्नप्रभा पृथिवीके मध्यभागमे तथा मध्यमलोकमे भी निश्चयसे व्यन्तर देव निरन्तर निवास करते हैं ।।१८३।। पृथिवीके समतलसे सात सौ नब्वे योजनकी ऊँचाईसे लेकर नौसौ योजन तक निराधार नीले आकाशमें तारा, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मङ्गल और शनैश्चर इस क्रमसे ज्योतिषी देव रहते हैं। इनका शरीर कान्तिसे सुन्दर होता है। मनुष्यक्षेत्र अर्थात् अढाई द्वीपमे स्वर्णमय सुमेरु पर्वतकी ये सब निरन्तर चलते हुए प्रदक्षिणा देते रहते हैं ।।१८४-१८७।। इन गतिशील ज्योतिषी देवोके सचारसे उत्पन्न व्यवहारकाल प्रवर्तता है। मानुषोत्तर पर्वतके आगेके सभी ज्योतिषी देव अवस्थित हैं अर्थात् जो जहां हैं वही रहते हैं। ये ज्योतिषी देव मुट्ठीमे भर कर फेंके हुए पुष्पादिके समान स्थित हैं अर्थात् श्रेणीवद्ध स्थित नही हैं ।।१८८।।

आगे ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हैं—

रत्नसानोरतिक्रम्य सानोर्वालाग्रमात्रकम् ।
सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रकास्तथा ।।१८९।।
ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ लान्तवकापिष्टौ ततः परौ ।
ज्ञेयौ शुक्रमहाशुक्रौ व्योमयानौ सदातनौ ।।१९०।।
शतारकसहस्रारौ ह्यानतप्राणतौ तथा ।
अरणश्चाच्युतश्चेत्थमूर्ध्वोर्ध्वं गगनान्तरे ।।१९१।।
अष्टौ द्वन्द्वानि राजन्ते त्रिदिवानां ततः परम् ।
नवग्रैवेयकास्तस्मान्नव चानुदिशास्ततः ।।१९२।।
विजयो वैजयन्तश्च जयन्तश्चापराजितः ।
सर्वार्थसिद्धिरित्येते विमानाः सहजा स्थिताः ।।१९३।।

अर्थ—मेरु पर्वतके शिखरसे बालके अग्रभागके बराबर अन्तर छोड सौधर्म ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार सहस्रार, आनत प्राणत और आरण अच्युत, स्वर्गोंके ये आठ युगल आकाशके मध्य ऊपर ऊपर स्थित हैं। ये सब विमान सदा स्थिर रहने वाले हैं। इन आठ युगलोके ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश तथा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये सहज सिद्ध विमान स्थित हैं। भावार्थ—दो-दोकी बराबरीसे आठ युगलोमे सोलह स्वर्ग हैं। उनके आगे एकके ऊपर एक, इस क्रमसे नौग्रैवेयक हैं। उनसे

ऊपर एक पटलमे नौ अनुदिश हैं। ये अनुदिश चार दिशाओमे चार, चार विदिशाओमे चार और एक बीचमें इस तरह स्थित हैं। इनके आगे एक पटलमे पाँच अनुत्तर विमान हैं। जो चार दिशामे चार और एक बीचमे इस क्रमसे स्थित हैं ।।१८९-१९३।।

आगे इन विमानोमे रहनेवाले वैमानिक देव तथा उनकी गति आदि विषयक हीनाधिकताका वर्णन करते हैं—

तेषु वैमानिका देवा निवसन्ति निरन्तरम् ।
स्थितिप्रभावलेश्यातिविशुद्धया च सुशर्मणा ।।१९४।।
अक्षावधिविषयेण कान्तिभिश्चाखिला इमे ।
ऊर्द्ध्वोर्द्ध्वं ह्यधिका ज्ञेयाः पुण्यातिशयशोभिताः ।।१९५।।
हीना गत्या शरीरेण मूर्च्छया चाभिमानतः ।
लेश्याश्च द्वित्रिशेषेषु पीता पद्मा च शुक्लका ।।१९६।।
लेश्या भवन्ति पीतान्ता आदितस्त्रिषु राशिषु ।
भवनव्यन्तरज्योतिष्केषु सर्वज्ञभाषिताः ।।१९७।।
ग्रैवेयकेभ्यो विज्ञेया प्राग्भवाः कल्पसंज्ञिताः ।
अथ सारस्वतादित्यवह्न्यरुणास्ततः परम् ।।१९८।।
गर्दतोयश्च तुषिताव्यावाधारिष्टसंज्ञकाः ।
लौकान्तिकास्तु विज्ञेया ब्रह्मलोकालयाः सुराः ।।१९९।।
विजयादिषु संजाता देवा द्विचरमा मताः ।
सर्वार्थसिद्धिनिस्तीर्णा निर्वान्त्येकभवेन तु ।।२००।।
इन्द्रादिकल्पना तेषां कल्पेष्वेव प्रवर्तते ।
तदुत्तरत्र सर्वेषां सामान्यं सर्वत स्थितम् ।।२०१।।

अर्थ—उपर्युक्त विमानोमे निरन्तर वैमानिक सभी देव रहते है। पुण्यातिशयसे शोभित ये सभी देव स्थिति, प्रभाव, लेश्याकी अत्यन्त विशुद्धता, सुख, इन्द्रिय तथा अवधिज्ञान का विषय और कान्तिके द्वारा ऊपर-ऊपर अधिक जानना चाहिये तथा गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा हीन समझना चाहिये। दो, तीन और शेष युगलोमे क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या जानना चाहिये अर्थात् सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे पीत लेश्या, सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमे पीत पद्म लेश्या, ब्रह्म

ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ट स्वर्गमे पद्मलेश्या, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गमे पद्म और शुक्ल लेश्या, आनतादि चार स्वर्गोमे शुक्ल लेश्या और नव ग्रैवेयकादिमे परम शुक्ल लेश्या जानना चाहिये। आदिके भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायोमे कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा कही गई है। यहाँ इतनी विशेषता जानना चाहिये कि इन भवनवासी आदि तीन निकायोको अपर्याप्तक अवस्थामे कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। परन्तु पर्याप्तक अवस्थामे जघन्य पीत लेश्या होती है॥ १९४–१९७॥

ग्रैवेयकोसे पूर्ववर्ती स्वर्ग कल्प कहलाते हैं। सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अरिष्ट और अव्याबाध ये आठ लोकान्तिक देव जाननेके योग्य है। ये लौकान्तिक देव ब्रह्म स्वर्गमे रहते हैं॥१९८–१९९॥ विजयादि विमानो तथा अनुदिशोमे उत्पन्न होने वाले देव द्विचरम होते हैं अर्थात् मनुष्यके अधिक-से-अधिक दो भव धारणकर मोक्ष चले जाते हैं। परन्तु सर्वार्थसिद्धिमे आये हुए देव एक भवमे ही निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं॥ २००॥ इन्द्रादिक दशभेदोकी कल्पना, कल्पो अर्थात् सोलह स्वर्गोमे ही है उनके आगे सब देवोमे समानता है अर्थात् राजा प्रजाका व्यवहार न होकर सब समान अहमिन्द्र कहलाते हैं॥ २०१॥

आगे देवोके शरीरकी अवगाहना कहते हैं—

अथात संप्रवक्ष्यामि देवानामवगाहनाम्।
असुराणां समुत्सेधो धनुषां पञ्चविंशतिः॥२०२॥
विग्रहस्य च शेषाणां दश मन्दिरवासिषु।
दशैव व्यन्तराणां स्याज्ज्योतिष्काणां च सप्त सः॥२०३॥
सौधर्मादिषु कल्पेषु देवदेहावगाहना।
द्वयोर्द्वयोश्चतुर्षु स्याच्चतुर्षु स्याद् द्वयोर्द्वयोः॥२०४॥
सप्त षट् पञ्च हस्ता वै चत्वारश्चार्धसंयुताः।
त्रयोहस्तास्त्रयो हस्ता ज्ञेया ज्ञेयबुभुत्सुभिः॥२०५॥
अधोग्रैवेयकेषु स्यात्सार्धहस्तद्वय ततः।
हस्तद्वय च विज्ञेयं मध्यग्रैवेयकेषु च॥२०६॥

अन्त्यग्रैवेयकेषु स्याद्धस्तश्चार्धेन संयुतः ।
अयमेव च विज्ञेयो नवानुदिशवासिनाम् ॥२०७॥
एकहस्तश्च विज्ञेया विजयादिषु पञ्चसु ।
एष नैसर्गिकोत्सेधो विविधो विक्रियोद्भवः ॥२०८॥

अर्थ—अब देवोकी अवगाहना कहते हैं—भवनवासी देवोमे असुरकुमारोके शरीरकी अवगाहना पच्चीस धनुष, शेष भवनवासी और व्यन्तरो की दश धनुष तथा ज्योतिषी देवोकी सात हाथ है ॥ २०२–२०३॥ सौधर्मादिक स्वर्गोमे देवोके शरीरकी अवगाहना इस प्रकार है। सौधर्म ऐशान इन दो स्वर्गोमे सात हाथ, सानत्कुमार माहेन्द्र इन दो स्वर्गोमे छह हाथ, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ट, इन चार स्वर्गोमे पाँच हाथ, शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार इन चार स्वर्गोमे चार हाथ, आनत प्राणत इन दो स्वर्गोमे साढे तीन हाथ और आरण अच्युत इन दो स्वर्गोमे तीन हाथकी अवगाहना ज्ञेय तत्त्वोके जिज्ञासु मनुष्योके द्वारा जाननेके योग्य है ॥ २०४–२०५ ॥ अधोग्रैवेयकोमे अढाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयकोमे दो हाथ और अन्तिम ग्रैवेयकमे डेढ हाथ अवगाहना है। यही डेढ हाथ प्रमाण अवगाहना नौ अनुदिशोमे रहने वाले देवोकी है। विजयादिक पाँच अनुत्तरोमे एक हाथ प्रमाण अवगाहना है। देवोकी यह स्वाभाविक अवगाहना है। विक्रियासे उत्पन्न होने वाली अवगाहना विविध प्रकार की है अर्थात् विक्रियासे कितना ही छोटा-बडा शरीर बना सकते हैं। ॥ २०६–२०८ ॥

आगे देवोकी आयुका वर्णन करते हैं—

अथाग्रे संप्रवक्ष्यामि देवानां जीवितस्थितिम् ।
असुराहिकुमाराणां सुपर्णद्वीपसज्ञिनाम् ॥२०९॥
शेषाणां भावनानां च सिन्धु-पल्यत्रयोपमा ।
अर्धहीनमिता ज्ञेया स्थितिरग्रे परा बुधैः ॥२१०॥
दशवर्षसहस्राणि जघन्या तु जिनोदिता ।
व्यन्तरज्योतिषाणां च परा पल्योपमाऽपरा ॥२११॥
दशवर्षसहस्राणि व्यन्तराणां समुच्यते ।
ज्योतिष्काणां च पल्याष्टभागोत्तुलिता मता ॥२१२॥

लक्षवर्षाधिक त्विन्दोः सहस्राब्दयुतं रवेः ।
शुक्राणां च शताधिक्यं पूर्णं देवरोगुर्मतम् ॥२१३॥
शेषाणामुडुकानां च ह्यर्घं पल्योपमं स्मृतम् ।
इत्थमत्र विशेषोऽत्र वर्णितः परमागमे ॥२१४॥

अर्थ—अब आगे देवोकी आयु का कथन करते हैं । असुरकुमार नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार और शेष अन्य भवनवासी देवोकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे एक सागर तीन पल्य, अढाईपल्य, दो पल्य और डेढ पल्य विद्वानो के द्वारा जानने योग्य है ॥ २०९–२१० ॥ इनकी जघन्य आयु जिनेन्द्र भगवान्‌ने दशहजार वर्षकी कही है । व्यन्तर और ज्योतिषी देवोकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यकी है । व्यन्तरोकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है । और ज्योतिषी देवोकी पल्यके आठवें भाग है । ज्योतिषी देवोमे चन्द्रमाकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यसे एक लाख वर्ष अधिक है । सूर्यकी एक हजार वर्ष अधिक है । शुक्रकी सौ वर्ष अधिक है । बृहस्पतिकी पूर्ण एक पल्य प्रमाण है । शेष ज्योतिषी देव तथा नक्षत्रोकी अर्धपल्य प्रमाण है । इस सदर्भकी यह विशेषता परमागममे कही गई है ॥ २११–२१४ ॥

आगे वैमानिक देवोकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

सौधर्मैशानयोर्नूनमधिके सागरोपमे ।
सानत्कुमारमाहेन्द्रयुग्मे सप्त पयोधयः ॥२१५॥
ब्रह्म ब्रह्मोत्तरद्वन्द्वे सागरा दश सम्मताः ।
चतुर्दशाब्धयो ज्ञेयाः कापिष्टे लान्तवे तथा ॥२१६॥
शुक्रे चैव महाशुक्रे सागराः षोडशोदिताः ।
शतारे च सहस्रारे सिन्धवोऽष्टादशोदिताः ॥२१७॥
आनतप्राणतद्वन्द्वे विंशतिः सागरा मताः ।
आरणाच्युतयोर्ज्ञेया द्वाविंशतिपयोधयः ॥२१८॥
आरणादच्युतादूर्ध्वमेकैकेन च वर्धिताः ।
नवग्रैवेयकेषु स्युर्नवस्वनुदिशेषु च ॥२१९॥
विजयादिषु विमानेषूत्कृष्टा स्थितिः समुच्यते ।
सौधर्मैशानयोर्हीनाऽधिकपल्योपमा स्मृता ॥२२०॥

पूर्वत्र या समुत्कृष्टा सा परत्राधमोच्यते ।
सर्वार्थसिद्धिजानां तु नैव हीना स्थितिर्भवेत् ॥२२१॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे दो सागरसे कुछ[1] अधिक आयु है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमे सात सागरसे कुछ अधिक है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरके युगलमे दश सागरसे कुछ अधिक है। लान्तव और कापिष्टमे चौदह सागरसे कुछ अधिक है। शुक्र और महाशुक्रमे सोलह सागरसे कुछ अधिक है। शतार और सहस्रारमे अठारह सागरसे कुछ अधिक है। आनत और प्राणतमे बीस सागर है और आरण तथा अच्युत-मे बाईस सागर है। आरण-अच्युतके ऊपर एक एक सागर बढती हुई नव ग्रैवेयकोमे २३ से लेकर ३१ सागर तककी आयु है। अनुदिशोमे ३२ सागरकी है और विजयादिक अनुत्तर विमानोमे ३३ सागरकी उत्कृष्ट स्थिति कही जाती है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य है। पूर्व स्वर्गमे जो उत्कृष्ट स्थिति है वह आगेके स्वर्गमे जघन्य आयु होती है। सर्वार्थसिद्धिमे उत्पन्न हुए जीवोकी जघन्य आयु नही होती। सबकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरकी ही होती है ॥२१५–२२१॥

अब देवगतिमे कौन जीव कहाँ तक उत्पन्न होते है और वहाँसे आकर कहाँ जन्म लेते है ? यह कहते है—

पर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्चाक्षाः संख्येयाब्दमितायुषः ।
पुण्यबन्धेन तिर्यञ्चो भावनव्यन्तरेषु च ॥२२२॥
त एव संज्ञिनो मिथ्यादृष्टिसासादनास्तथा ।
सहस्रारमभिव्याप्योत्पद्यन्ते, शुद्धदृष्टयः ॥२२३॥
अच्युतान्तेषु जायन्ते सौधर्मप्रमुखेषु तु ।
असंख्येयसमायुष्कास्तिर्यञ्चो मानवास्तथा ॥२२४॥
आद्यं स्वर्गद्वयं यावद् यान्ति नोर्ध्वं कदाचन ।
ज्योतिष्कनिर्जरान् यावज्जायन्ते केऽपि तापसा. ॥२२५॥

---

१ कुछ अधिकका सम्बन्ध बारहवें स्वर्ग तक ही है क्योकि घातायुष्क जीव यही तक उत्पन्न होते हैं। जो जीव पहले आगेके स्वर्गकी आयु बाधकर पीछे सक्लेश परिणामोसे आयुमें अपकर्षण कर नीचे उत्पन्न होते हैं वे घातायुष्क कहलाते है। इनकी आयु अर्ध सागर अधिक होती है।

विशुद्धदृष्टयः केचित्तापसा आद्यनाकयोः ।
संख्येयहायनायुष्का. मर्त्या मिथ्यात्वदूषिताः ॥२२६॥
सासादनाश्च ग्रैवेयकान्तेष्वत्रोद्भवन्ति हि ।
परिव्राजः प्रकर्षेण ब्रह्मलोक प्रयान्ति च ॥२२७॥
आजीवकाः सहस्रार जायन्ते न ततः परम् ।
तपोऽनुष्ठानसलब्धपुण्यबन्धविशेषकाः ॥२२८॥
निर्ग्रन्थलिङ्गिनो द्रव्यदृष्टयश्चोद्भवन्ति तु ।
नवग्रैवेयकान्तेषु ततः संशुद्धदृष्टय ॥२२९॥
श्रावका अच्युतान्तेषु जायन्ते न ततः परम् ।
देवश्च्युत्वा मनुष्येषु तिर्यक्ष्वप्यभिजायते ॥२३०॥

अर्थ—असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक संख्यात वर्षकी आयुवाले अर्थात् कर्मभूमिज तिर्यञ्च पुण्यबन्धसे भवनवासी तथा व्यन्तर देवोमे उत्पन्न होते हैं। वे ही कर्मभूमिज सञ्ज्ञी मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवाले तिर्यञ्च सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। ये ही तिर्यञ्च यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो सौधर्मस्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। असख्यात वर्षकी आयुवाले अर्थात् भोगभूमिज तिर्यञ्च और मनुष्य प्रारम्भके दो स्वर्गों तक जाते हैं, इसके आगे कभी नही जाते। कोई तापस, ज्योतिषी देवो तक अर्थात् भवनत्रिकोमे उत्पन्न होते हैं। कितने ही भद्रपरिणामी तापस पहले, दूसरे स्वर्गमे उत्पन्न होते हैं। सख्यात वर्षकी आयुवाले मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमे स्थित मनुष्य ग्रैवेयको तक उत्पन्न होते हैं। परिव्राजक अधिक-से-अधिक ब्रह्म स्वर्ग तक जाते हैं। आजीवक सहस्रार स्वर्ग तक जाते हैं उसके आगे नही। तपश्चरणके द्वारा विशिष्ट पुण्यबन्ध करनेवाले द्रव्यलिङ्गी (मिथ्यादृष्टि) मुनि नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। उसके आगे सम्यग्दृष्टि मुनि ही उत्पन्न होते हैं। श्रावक अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं उसके आगे नही। देव देवगतिसे च्युत होकर मनुष्य और तिर्यञ्चोमे उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—देवगतिके जीव मर कर नरक और देवगतिमे जन्म नही लेते। मनुष्य अथवा तिर्यञ्च ही होते है। दूसरे स्वर्ग तकके देव अग्नि कायिक और वायु कायिकको छोड कर शेष तीन एकेन्द्रियो तकमे उत्पन्न हो सकते हैं। विकलत्रयोमे नही। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोमे बारहवें स्वर्ग

तकके ही देव उत्पन्न होते है, आगेके नही । वहांके देव नियमसे कर्मभूमिज मनुष्य होते हैं ॥२२२-२३०॥

आगे देवोमे गुणस्थान आदिका वर्णन करते है—

पुंस्त्रीवेदद्वयं चैव देवानां भवति ध्रुवम् ।
गुणधामानि चत्वारि भवितु शक्नुवन्ति च ॥२३१॥
केषांचित् क्षायिकं प्रोक्तं केषाञ्चिद् वेदकं मतम् ।
इतरेषां च देवाना दर्शनं शमज स्मृतम् ॥२३२॥
शीतोष्णयोनयो देवा देवाः संवृतयोनयः ।
अचित्तयोनयो देवा उद्भवश्चोपपादकः ॥२३३॥
अपि चैषां हि विज्ञेयं योनिलक्षचतुष्टयम् ।
शरीरं विक्रियोद्भूतं तैजस कार्मणं तथा ॥२३४॥
मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञान मेव च ।
जायते जातमात्राणां देवानां विनियोगतः ॥२३५॥
इत्थ चतुष्टयी प्रोक्ता गतीनामिह लेशत ।
विजयन्ते पुनः केऽपि गतिभेदविनिर्गताः ॥२३६॥

अर्थ— देवोके नियमसे पुवेद और स्त्रीवेद ये दो ही वेद होते है। गुणस्थान आदिके चार हो सकते हैं॥२३१॥ किन्ही देवोके क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा गया है। किन्ही देवोके वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन माना गया है और किन्ही देवोके औपशमिक सम्यग्दर्शन स्मरण किया गया है। तात्पर्य यह है कि देवोके तीनो सम्यग्दर्शन सम्भव हैं। देव शीतोष्णयोनिवाले होते है, सवृतयोनिवाले होते है तथा अचित्त योनिवाले होते हैं। इनका उपपाद जन्म होता है। विस्तारकी अपेक्षा देवोंके चार लाख योनियाँ होती है। इनके वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते हैं। इनके उत्पन्न होते ही मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान नियमसे होते हैं (मिथ्यादृष्टि देवोके ये तीन ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहलाते है और सम्यग्दृष्टि देवोके सम्यग्ज्ञान)। इस प्रकार सक्षेपसे चार गतियोका कथन किया। गतियोके भेदसे रहित कोई अनिर्वचनीय सिद्ध भगवान् सदा जयवन्त प्रवर्तते हैं। अर्थात् गतिका व्यवहार ससारी जीवोमे ही है मुक्त जीवोमे नही ॥ २३१-२३६॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमें गतिमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला तृतीय मयूख समाप्त हुआ। ●

चतुर्थो मयूखः

मङ्गलाचरण

प्रमदानन छन्द

अथ मुक्तिसुप्रमदाननाब्जपडङ्घ्रिमाहितशंभर
शुभकीर्तिसारसितीकृताखिललोकसुन्दरमन्दिरम् ।
दिविजाहिमर्त्यखगेशभूधरचित्तकञ्जविभाकर
वरबोधशालिनमुत्तमं प्रणमाम्यहं वदतां वरम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखकमलके भ्रमरस्वरूप हैं, जो सुख समूहको धारण करनेवाले हैं, श्रेष्ठ शुभ कीर्तिसे जिन्होने समस्त लोक रूपी मन्दिरको शुक्ल कर दिया है, जो देव धरणेन्द्र मनुष्य तथा विद्याधर राजाओके मनरूपी कमलको विकसित करनेके लिए सूर्य हैं, उत्तम ज्ञान–केवलज्ञानसे सुशोभित हैं, उत्कृष्ट हैं तथा वक्ताओमे श्रेष्ठ हैं ऐसे अरहत भगवान्को मै प्रणाम करता हूँ ॥१॥

आगे इन्द्रियमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

अथाग्रे सम्प्रवक्ष्यामि हृषीकाणि समासतः ।
भव्यानामुपकाराय यथाशक्ति यथागमम् ॥ २ ॥
तानीन्द्रियाणि जानीहि यानि स्वविषयग्रहे ।
अहमिन्द्रा यथा ह्यात्मतन्त्राण्येव भवन्ति वै ॥ ३ ॥
तेषामिन्दनशीलानां लिङ्गानां वा निजात्मनः ।
द्रव्यभावविभेदेन भेदद्वन्द्व विराजते ॥ ४ ॥
तत्र देहोदयाज्जात देहचिह्न तु द्रव्यकम् ।
लब्ध्युपयोगरूप च प्रोक्तं भावेन्द्रियं तथा ॥ ५ ॥

अर्थ—अब आगे भव्य जीवोके उपकारके लिए अपनी शक्ति तथा आगमके अनुसार सक्षेपसे इन्द्रियोका कथन करूँगा ॥२॥ जो अपना स्पर्शादि विषय ग्रहण करनेमे अहमिन्द्रोके समान स्वतन्त्र हैं उन्हे इन्द्रिय

जानो ।।३।। जिनका इन्दन—आत्मस्वातन्त्र्यरूप स्वभाव है अथवा जो आत्माका परिचय करानेके लिए साधन स्वरूप हैं उन इन्द्रियोके द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो भेद है। उनमे शरीरनामकर्मके उदयसे शरीरमे जो इन्द्रियाकार चिह्न है उन्हे द्रव्येन्द्रिय कहते हैं और जो लब्धि तथा उपयोग रूप हैं उन्हे भावेन्द्रिय जानना चाहिए ।।२-५।।

स्पर्शन रसना घ्राणं लोचनं श्रवणं तथा ।
इत्यक्षपञ्चकं प्रोक्त प्रेक्षादक्षमनीषिभि ।। ६ ।।
स्पर्शो रसश्च गन्धश्च रूपं शब्दश्च संक्रमात् ।
विषयाश्चाक्षवर्गस्य वर्णिताः परमागमे ।। ७ ।।
एकेन्द्रियादिसंयोगाज्जीवा एकेन्द्रियादय· ।
सन्ति पञ्चविधा नूनं निजावान्तरभेदिता ।। ८ ।।

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ विचार-कुशल विद्वानोने कही है ।।६।। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पाँच उन पाँच इन्द्रियोंके विषय परमागममे कहे गये है ।।७।। एकेन्द्रियादिके संयोगसे एकेन्द्रिय आदि पाँच प्रकारके जीव होते है। निश्चयसे ये सब जीव अपने अपने अनेक अवान्तर भेदोसे सहित है ।।८।।

इन्द्रियोके आकार तथा विषय—

लोचनश्रवणघ्राणजिह्वाकारा यथाक्रमम् ।
मसूरयवनाल्याभतिलपुष्पक्षुरप्रकैः ।। ९ ।।
तुलिता, नैकसंस्थानं स्पर्शनं बुधसंस्मृतम् ।
स्पर्शनविषयः प्रोक्तो धनुःशतचतुष्टयम् ।।१०।।
रसनाविषयक्षेत्रं चतु षष्टिशरासनाः ।
नासाविषयभूभाग शतकोदण्डसंमितः ।।११।।
चतुःपञ्चाशदाधिक्यनवशतक सयुते ।
योजनानां सहस्रे द्वे चक्षुषो विषयस्थलम् ।।१२।।
श्रुतिक्षेत्रं परं ह्यष्टसहस्री धनुषां मतम् ।
व्याप्यामनस्कपञ्चाक्षमेष · द्विगुणितः स्मृत· ।।१३।।

रसज्ञाचर्मनासानां योजनानि नव स्मृताः ।
श्रुत्योर्द्वादश संप्रोक्ता संज्ञिनां विषयस्थली ॥१४॥
द्विशतत्रिषष्टियुञ्जि सातिरेकाणि चक्षुषः ।
विषयः सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि सञ्ज्ञिनः ॥१५॥

अर्थ—नेत्र, कर्ण, घ्राण और जिह्वा इन्द्रियके आकार क्रमसे मसूर, जौ की नली, तिल पुष्प और खुरपी तुल्य है। स्पर्शन इन्द्रियका आकार विद्वानोंने अनेक प्रकारका माना है। स्पर्शन इन्द्रियका विषय चार सौ धनुष, रसना इन्द्रियका विषय क्षेत्र चौंसठ धनुष, घ्राण इन्द्रियका विषय सौ धनुष, चक्षु इन्द्रियका विपय दो हजार नौ सौ चौंवन योजन और कर्ण इन्द्रियका विषय आठ हजार धनुष माना गया है। असैनी पञ्चेन्द्रिय तक यह विषय दूना दूना होता जाता है। सञ्ज्ञी जीवकी रसना, स्पर्शन और घ्राण इन्द्रियका विषय नौ नौ योजन, कर्ण इन्द्रियका विषय बारह योजन और चक्षु इन्द्रियका सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजनसे कुछ अधिक $\frac{7}{20}$ है ॥९-१५॥

अब एकेन्द्रियादि जीवोंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य अवगाहनाका वर्णन करते हैं—

कमले साधिकं चैकं योजनानां सहस्रकम् ।
योजनद्वादशी शङ्खे वृश्चिके क्रोशकत्रयम् ॥१६॥
षट्पदे योजनं ह्येक महामत्स्ये सहस्रकम् ।
इत्थमेकेन्द्रियादीनामवगाहः प्रमुखो मतः ॥१७॥
पर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां जघन्यं त्ववगाहनम् ।
अनुन्धरी कुन्थुकाणमक्षिकासिक्थकेषु च ॥१८॥
वृन्दाङ्गुलस्य संख्येयात्संख्यसगुणितक्रमम् ।
अपर्याप्तस्य जातस्य तृतीये समये पुनः ॥१९॥
निगोदस्यातिसूक्ष्मस्याङ्गुलासंख्येयभागकम् ।
एकेन्द्रियेषु विज्ञेयं जघन्यमवगाहनम् ॥२०॥

अर्थ—एकेन्द्रियोंमे कमलकी कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियोमे शङ्खकी बारह योजन, त्रीन्द्रियोंमें बिच्छूकी तीन कोश, चतुरि-

न्द्रियोमे भ्रमरकी एक योजन और पञ्चेन्द्रियोंमे महामत्स्यकी एक हजार योजन, इस प्रकार एकेन्द्रियादि जीवोकी उत्कृष्ट अवगाहना जानना चाहिये। पर्याप्तक द्वीन्द्रियादिककी जघन्य अवगाहना अनुन्धरी, कुन्थु, काणमाक्षिका और सिक्थक मत्स्यमे वृन्दाङ्गुलके सख्यातवें भागसे लेकर आगे आगे सख्यात गुणित क्रमको लिए हुए हैं। एकेन्द्रियोंमे लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीवके उत्पन्न होनेके तृतीय समयमे अङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना जानना चाहिए ॥१६-२०॥

अब एकेन्द्रियादिकोमे जन्म तथा लिङ्गादिकी व्यवस्था कहते हैं—

आर्या

चतुरक्षान्ता जीवा समूर्च्छनजा नपुसकाश्चापि।
मिथ्यादर्शनदूषितहृदया नियमेन जायन्ते ॥२१॥
पञ्चेन्द्रियाः पुनस्ते वेदोत्पत्तित्रयाभिसंयुक्ताः।
निखिलगुणधामसहिताः सकलकलाशोभिताः सन्ति॥२२॥

अर्थ—चतुरिन्द्रिय तकके जीव नियमसे संमूर्च्छन जन्मवाले, नपुसक-वेदी तथा मिथ्यादर्शनसे दूषित हृदय होते हैं ॥२१॥ और पञ्चेन्द्रिय जीव तीनो वेदो तथा तीनो जन्मोसे सहित होते है। साथ ही समस्त गुणस्थानोसे युक्त और सकलकलाओसे सुशोभित होते है ॥२२॥

आगे इन्द्रियातीत सिद्धपरमेष्ठीका जयघोष करते हैं—

इत्यक्षकक्षामाश्रित्य सहन्ते भविनोऽसुखम्।
अक्षकक्षापरातीता मुक्तात्मानो जयन्ति तु ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार इन्द्रियकक्षाका आश्रय कर ससारी जीव दु ख सहन करते हैं परन्तु इन्द्रियकक्षासे परे रहनेवाले सिद्ध परमेष्ठी जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥२३॥

(इस प्रकार इन्द्रियमार्गणाका वर्णन पूर्ण हुआ)

आगे कायमार्गणा की अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

जातिकर्माविनाभावित्रसस्थावरकर्मणोः।
उदयेन भवेत्कायः पृथ्वीकायादिषड्विधः ॥२४॥
भूमितोयाग्निवायूनां कर्मणामुदये सति।
तेषां तत्रैव देहः स्यान्निजवर्णादिसंयुतः ॥२५॥

स्थूलसूक्ष्मोदयात्तेषां देहा हि स्थूलसूक्ष्मकाः ।
घातदेहं भवेत्स्थूलमघात च भवेत्परम् ॥२६॥
वादराः क्वचिदाधारे सूक्ष्मास्त्वाधारवर्जिता ।
सर्वत्र सर्वदा सन्त्यनन्तानन्ताः शरीरिणः ॥२७॥
तरुकर्मोदये जीवास्तरुकाया भवन्ति हि ।
ते च प्रत्येकसामान्यभेदाभ्यां द्विविधाः स्मृताः ॥२८॥
प्रतिष्ठितान्यभेदेन प्रत्येका द्विविधा मताः ।
साधारणोदये ये निगोददेहा भवन्ति वै ॥२९॥
सामान्यास्तेऽपि सूक्ष्मस्थूलभेदाद् द्विविधा मताः ।
साधारणं भवेदेषामाहारश्चानपानकम् ॥३०॥
जीवनं मरणं चाप्यक्रमणं क्रमणं तथा ।
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पञ्चभिः करणैर्युताः ॥३१॥
जीवास्त्रसा हि विज्ञेया सन्मतेरुपदेशतः ।
परिणत त्रस त्यक्त्वा मारणान्तोपपादयोः ॥३२॥
त्रसनालीवहिःस्थल्यां न त्रसा सन्ति कुत्रचित् ।
स्थावरास्त्वखिलं लोकं व्याप्यासीदन्ति सर्वतः ॥३३॥
पृथ्वीतोयाग्निवातेष्वाहारके च विगूर्वके ।
निगोदा वादरा न स्युः केवलिनां च विग्रहे ॥३४॥

उपजाति

सूचिकलापध्वजतोयविन्दुमसूरसादृश्यमवाप्नुवन्तः ।
वह्निप्रवाताभृतभूमिदेहास्तरुत्रसा नैकविधाश्च वोध्याः ॥३५॥

भुजङ्गप्रयात

यथा भारवाही नरो दुःखभार,
निरन्तं सकायो विभर्ति प्रमूढः ।
प्रवुद्ध पुराणस्त्वकायः स कोऽपि
शुभानन्दवृन्दं सदा विन्दति स्वम् ॥३६॥

अर्थ—जाति नामकर्मके अविनाभावी त्रस-स्थावर नामकर्मके उदयसे काय होता है। वह काय, पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारका है अर्थात् पृथिवीकायिक आदि पाँच स्थावर और एक त्रस, ये छह कायके जीवोके भेद हैं ।।२४।। पृथिवी जल अग्नि और वायु कर्मका उदय होनेपर उन जीवोंका अपने अपने वर्णादिसे सहित शरीर उन्ही जीवोमे उत्पन्न होता है ।।२५।। उन जीवोका शरीर स्थूल नामकर्मके उदयसे स्थूल तथा सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे सूक्ष्म होता है। स्थूल शरीरसे दूसरे जीवोका घात—रुकावट होती है परन्तु सूक्ष्म शरीरसे किसीकी रुकावट नही होती ।।२६।। वादर अर्थात् स्थूल जीव किसी आधारपर रहते है परन्तु सूक्ष्म जीव आधारसे रहित हैं। ऐसे सूक्ष्म जीव अनन्तानन्त है तथा तीनो लोकोमे सर्वत्र सदा विद्यमान रहते है ।।२७।। वनस्पति नामकर्मके उदयसे जीव वनस्पतिकाय होते है। वे वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक और साधारणके भेदसे दो प्रकारके माने गये है ।।२८।। प्रत्येकवनस्पति जीव सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येकके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं। साधारण नामकर्मके उदयसे जीव निगोदशरीर वाले होते है तथा सूक्ष्म और स्थूलके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इन साधारण जीवो-का आहार, श्वासोच्छ्वास, जीवन, मरण तथा गमनागमन साधारण होता है अर्थात् एकके आहार आदिसे सबका आहार आदि हो जाता है। दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियोसे सहित जीवोको भगवान् महावीरके उपदेशसे त्रस जानना चाहिये मारणान्तिक समुद्घात तथा उपपाद रूप परिणत त्रसको छोडकर अन्य त्रसजीव त्रसनालीके बाहर कही भी नही होते। परन्तु स्थावर जीव समस्त लोकको सब ओरसे व्याप्तकर स्थित हैं ।।२९।-३३।। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, आहारकशरीर, देवनारकियोके वैक्रियिक शरीर तथा केवलीके परमौ-दारिक शरीरमे वादरनिगोदिया जीव नही होते हैं ।।३४।। अग्निकायिक जीवोका आकार खडी सूजियोके समूहके समान, वायुकायिकका ध्वजाके समान, जलकायिकका जलकी बूंदके समान, पृथिवीकायिकका मसूरके समान होता है। वनस्पतिकायिक और त्रस अनेक आकारके होते है। ।।३५।। जिस प्रकार भारवाही पुरुष काँवर लेकर भारको उठाता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव शरीर ग्रहणकर अनन्त दुःखको उठाता है। परन्तु कोई ज्ञानी जीव शरीर रहित होकर सदा आत्मोत्थ शुभ आनन्दके समूह-को प्राप्त करते है ।।३६।।

इस प्रकार कायमार्गणाका वर्णन हुआ।

आगे योगमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

इन्द्रवज्रा

चेतोवचःकायविराजितस्य
जीवस्य कर्मागमकरणं या।
जाता शरीरोदयतो हि शक्ति-
र्योगः स योगीशनिवेदितोऽस्ति ॥३७॥

अर्थ—मन, वचन, कायसे युक्त जीवकी कर्मागममें कारणभूत जो शक्ति शरीरनामकर्मके उदयसे प्रकट होती है वह योगिराज—वीतराग जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ योग है ॥३७॥

मनोवचःशरीराणां भेदात्स त्रिविधो मतः।
स एव ह्यास्रवो बोध्यः कर्मबन्धनकारणम् ॥३८॥

सत्यासत्योभयार्थेष्वनुभयार्थेषु वर्तनात्।
चेतसो वचसो भेदाश्चत्वारश्च भवन्ति वै ॥३९॥

सद्भावमनसा योगो यो हि नाम प्रजायते।
असौ सत्यमनोयोगो मुनिवृन्दनिरूपितः ॥४०॥

असद्भूतेन चित्तेन योगो यश्च प्रवर्त्यते।
सोऽसत्यो मानसो योगो योगिसङ्घप्रकीर्तितः ॥४१॥

सत्यासत्येन चित्तेन योगो यश्च विधीयते।
उभयः स मनोयोगो विदुषां परिसम्मतः ॥४२॥

नाप्यसत्येन सत्येन मनसा यो विरच्यते।
योगः सोऽनुभयः प्रोक्तो निखिलज्ञजिनेन्दुना ॥४३॥

अर्थ—वह योग मन वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका माना गया है। निश्चयसे उस योगको ही कर्मबन्धका कारणभूत आस्रव जानना चाहिये ॥३८॥ सत्य, असत्य, उभय और अनुभय पदार्थोंमे प्रवर्तनेसे मन तथा वचनके चार चार भेद होते है अर्थात् सत्यमनोयोग, असत्यमनो-

योग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग और सत्यवचनयोग, असत्यवचन योग, उभयवचनयोग अनुभयवचनयोग ।।३९।। सत्य पदार्थका विचार करने वाले मनके द्वारा जो योग होता है वह मुनिसमूहके द्वारा कहा हुआ सत्यमनोयोग है ।।४०।। असत्य पदार्थका विचार करनेवाले मनके द्वारा जो योग प्रवर्तता है उसे मुनिसमूहने असत्यमनोयोग कहा है ।।४१।। सत्यासत्य पदार्थका चिन्तन करने वाले मनके द्वारा जो योग किया जाता है वह विद्वानोको उभयमनोयोग नामसे इष्ट है।।४२।। और जो न सत्य न असत्य अर्थात् अनुभय पदार्थका चिन्तन करने वाले मनके द्वारा रचा जाता है उसे सर्वज्ञ जिनचन्द्रने अनुभयमनोयोग कहा है ।

भावार्थ—सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे पदार्थ चार प्रकार-का होता है। जो पदार्थ, अर्थक्रियाकारी है अर्थात् अपना कार्य करनेमे समर्थ है वह सत्य कहलाता है। जैसे जलको जल जानना। जो पदार्थ अर्थक्रियाकारी नही है अर्थात् अपना कार्य करनेमे समर्थ नही है उसे असत्य कहते हैं जैसे मृगमरीचिकाको जल जानना। जो पदार्थ, सत्य और असत्य रूप हो उसे उभय कहते हैं जैसे कमण्डलुको घट जानना। कमण्डलु, जलधारणरूप घटका कार्य करता है इस लिये सत्य है परन्तु आकृतिभेद होनेसे असत्य है। जो पदार्थ, न सत्य हो न असत्य हो उसे अनुभय कहते है। जैसे आमन्त्रणी, आज्ञपनी आदि वचनोके विषयभूत पदार्थ ।

इन सत्यादि चार प्रकारके पदार्थोंका चिन्तन करना चार प्रकारका मनोयोग है ।।४३।।

आगे चार प्रकारके वचनयोगका वर्णन करते है—

दशधासत्यभारत्यां जीवानां व्यापृतिस्तु या ।
स सत्यभारतीयोगः सूरिसन्दोहशंसितः ।।४४।।

असत्यभाषणे वाचामुद्यमो यत्र राजते ।
असत्यः स वचोयोगो वाचामीशैर्निरूपितः ।।४५।।

सत्यासत्यस्वरूपाया ब्राह्मया यो नाम संचरः ।
उभयोऽसौ वचोयोगो वीरतीर्थकृदीरितः ।।४६।।

न तथ्ये नाप्यतथ्ये वा गिरां यश्च समुद्यमः ।
सोऽनुभयो वचोयोगो जिनचन्द्रनिवेदितः ॥४७॥

अर्थ—जनपदसत्य आदि दश प्रकारके सत्य वचनोंके बोलनेमे जीवोका जो व्यापार है वह साधुसमूहके द्वारा प्रशसित सत्यवचनयोग है ॥४४॥ असत्य बोलनेमे वचनोका जो उद्यम है उसे वचनोके स्वामी जिनेन्द्र भगवान्ने असत्यवचनयोग कहा है ॥४५॥ उभयरूप वचनोका जो प्रयोग है उसे वीरजिनेश्वरने उभयवचनयोग कहा है ॥४६॥ जो न सत्य न असत्य अर्थात् अनुभयरूप पदार्थके विषयमे वचनोका उद्यम है वह जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा हुआ अनुभयवचनयोग है ॥४७॥

आगे मनोयोग और वचनयोगका निमित्त कहते हैं—

पूर्णदेहोदयो मूलनिमित्तं चित्तवाचयोः ।
आवरण भवेन्मूलमसत्योभययोः पुनः ॥४८॥

अर्थ—मनोयोग और वचनयोगका मूल निमित्त पर्याप्ति तथा शरीर-नामकर्मका उदय है और असत्य तथा उभय मनोयोग और वचन योगका निमित्त ज्ञानावरणकर्मका उदय है ॥४८॥

अब केवलीके मनोयोगका सद्भाव बताते है—

उपजाति

चेतायुतानां वचसां प्रयोगो
विलोक्यते मानसमूलको हि ।
अतो हृषीकोद्भवबोधहीने
सयोगकैवल्ययुतेऽपि तत्स्यात् ॥४९॥

तत्रापि कारण ह्येतदङ्गोपाङ्गोदयोत्थितम् ।
द्रव्य मनो जिनेन्द्रस्य हृत्कासारे विराजते ॥५०॥
प्रफुल्लपङ्कजाकार तदर्थं वर्गणागमात् ।
कार्याभावेऽपि तेन स्याद्योगस्तस्यापि मानस ॥५१॥

अर्थ—मन सहित जीवोका वचनप्रयोग मनोमूलक देखा जाता है इसलिये इन्द्रियजन्यज्ञानसे रहित होनेपर भी सयोगकेवलीके मनोयोग होता है ॥४९॥ और इसका कारण भी यह है कि उनके हृदयरूपी सरोवर

मे खिले हुए कमलके आकार द्रव्यमन होता है और उसके लिये मनो-वर्गणाका आगमन जारी रहता है। अतः विचाररूप कार्यका अभाव होने पर भी उनके मनोयोग माना जाता है ।।५०-५१।।

अब औदारिक और औदारिकमिश्र काययोगका वर्णन करते हैं—

तिरश्चां मानवानां च शरीर स्थूलमुच्यते ।
औदारिक तथौरालिकं वा तत्र समुद्भवः ।।५२।।
औदारिको भवेद्योगः कायिको जिनकीर्तितः ।
औदारिकमपूर्णं यत्तन्मिश्र समुच्यते ।।५३।।
संप्रयुक्तः पुनस्तेनौदारिकमिश्रसञ्ज्ञकः ।
काययोगो जिनाधीशैर्दर्शितः परमागमे ।।५४।।

अर्थ—तिर्यञ्च और मनुष्योका शरीर स्थूल, औदारिक अथवा औरालिक कहलाता है उसमे जो योग होता है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा औदारिककाययोग कहा गया है। वही औदारिक शरीर जब तक अपूर्ण रहता है अर्थात् जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नही होती तब तक औदारिकमिश्र कहलाता है। उस समय जो योग होता है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने परमागममे औदारिकमिश्रकाययोग कहा है ।।५२-५४।।

आगे वैक्रियक और वैक्रियिकमिश्रकाययोगका कथन करते हैं—

विक्रियायां समुद्भूतो योगो वैक्रियिकाभिधः ।
स एवापरिपूर्णं सन् तन्मिश्रो हि निगद्यते ।।५५।।
सुराणां नारकाणां च योगावेतौ निरूपितौ ।
मानवानां तिरश्चां च केषांचिद् विक्रिया भवेत् ।।५६।।

अर्थ—जो योग विक्रियामे होता है वह वैक्रियिक नामका काययोग है और जब वह अपरिपूर्ण रहता है तब वैक्रियिकमिश्रकाययोग कहा जाता है ।।५५।। ये दोनो योग देवो और नारकियोके कहे गये है। किन्ही मनुष्यो और तिर्यञ्चोके भी विक्रिया होती है ।।५६।।

आर्या

वादरवह्निसमीरणपञ्चेन्द्रियपूर्णका विकुर्वन्ति ।
तत्तेषामपि देहो वैक्रियिकः कीर्त्यते मुनिभिः ।।५७।।

अर्थ—बादरतेजस्कायिक, वायुकायिक और पञ्चेन्द्रियपर्याप्तकजीव विक्रिया करते हैं इसलिये उनका शरीर भी मुनियोके द्वारा वैक्रियिक कहा जाता है ॥५७॥

अब आहारककाययोगका वर्णन करते हैं—

उपजाति

असयमध्वान्तविनाशनाय जिनेन्द्रतन्मन्दिरवन्दनाय ।
तपोमुखोन्मङ्गलसंगमाय सन्देहसन्दोहविलोपनाय ॥५८॥
कैवल्ययुक्तद्वयवर्जिते स्वक्षेत्रे परत्रस्थितपूज्यलोके ।
प्रभूतकल्याणकलापके च ह्याहारकाङ्गोदयनेऽपि जाते ॥५९॥

उपेन्द्रवज्रा

यतेः प्रमत्तस्य धृतव्रतस्य शुभोदयस्याश्रिततथ्यवृत्तेः ।
प्रशान्तिपीयूषपयोदधेश्च जितेन्द्रियोद्दामहाहयालेः ॥६०॥

इन्द्रवज्रा

हस्तप्रमाण च प्रशस्तजन्म शुक्ल शुभं सुन्दरमूर्तिरम्यम् ।
अव्याहत युग्मघटीस्थित च मांसास्थिहीन किल धातुहीनम्
मूर्धाभिजात खलु यच्छरीर संजायते कार्यकलापदक्षम् ।
आहारकाख्यानविशोभितं तत् संशस्यते शस्तविबोधयुक्तैः ॥६२॥

अनुष्टुम्

तेन संपादितः काययोगो ह्याहारकाभिधः ।
स एवापूर्णतां यातो मिश्राख्यः कथितो जिनैः ॥६३॥

अर्थ—असयमरूपी अन्धकारका नाश करनेके लिये, जिनेन्द्र और जिनेन्द्रमन्दिरोकी वन्दनाके लिये तपश्चरण आदि उत्कृष्ट मङ्गलोकी प्राप्तिके लिये, सदेहसमूहका लोप करनेके लिये, अपने क्षेत्रमे केवली तथा श्रुतकेवलीका अभाव होने तथा अन्य क्षेत्रमे पूज्यपुरुषोके विद्यमान रहनेपर बहुतभारी कल्याणोके होते हुए तथा आहारकशरीरनामकर्मका उदय रहते हुए शुभोदयसे सहित, यथार्थवृत्तिका पालन करने वाले, शान्तिसुधाके सागर, इन्द्रियरूपी प्रचण्ड अश्वसमूहको जीतने वाले प्रमत्त-

संयत गुणस्थानवर्ती मुनिके एक हाथ प्रमाण वाला, प्रशस्त उत्पत्तिसे सहित, शुक्ल वर्ण, शुभ, अत्यन्त सुन्दर, अव्याहत–किसीसे नही रुकने वाला, अन्तर्मुहूर्ततक स्थिर रहने वाला, मास तथा हड्डीसे रहित धातुओंसे रहित, मस्तकसे समुत्पन्न तथा कार्यकलापमे दक्ष जो शरीर उत्पन्न होता है वह प्रशस्त ज्ञानी जीवोके द्वारा आहारकशरीरनामसे सुशोभित कहा जाता है ॥५८–६२॥

इस आहारकशरीरसे जो योग होता है वह आहारककाययोग है। वही आहारककाययोग जब अपूर्णताको प्राप्त होता है तब जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा आहारकमिश्रकाययोग कहा गया है ॥६३॥

आगे कार्मणकाययोगका स्वरूप कहते हैं—

कर्मणाश्च समूहोऽयं कार्मणं ह्यभिधीयते ।
तेन संजायमानः स्याद्योगः कार्मणसञ्ज्ञितः ॥६४॥
केवलिनां समुद्घाते विग्रहार्थगतावपि ।
एकद्विकत्रिकालेषु कार्मणोऽयं प्रवर्तते ॥६५॥

अर्थ—कर्मोका समूह कार्मण कहलाता है। उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाला योग कार्मणकाययोग कहलाता है। यह कार्मणकाययोग केवलिसमुद्घातमे तथा विग्रहगतिमे एक, दो अथवा तीन समयके लिये होता है ॥६४–६५॥

विशेषार्थ—समस्त ससारी जीवोके विग्रहगतिमे कार्मणकाययोग होता है। उसके पश्चात् मनुष्य और तिर्यञ्चोमे उत्पन्न होनेवाले जीवके अपर्याप्तक अवस्थामे अन्तर्मुहूर्त तक औदारिकमिश्रकाय योग होता है उसके बाद औदारिककाययोग होता है, जो जीवनभर रहता है। विग्रह-गतिके बाद देव और नरक गतिमे उत्पन्न होनेवाले जीवके अपर्याप्तक अवस्थामे अन्तमुर्हूर्त तक वैक्रियिकमिश्रकाययोग होता है और उसके पश्चात् वैक्रियिककाययोग होता है, जो जीवनपर्यन्त रहता है। प्रमत्त-सयत गुणस्थानवर्ती किन्ही किन्ही मुनियोके तपश्चरणके प्रभावसे आहरकशरीरकी उत्पत्ति होती है। उसकी उत्पत्तिके कार्य ऊपर बताये जा चुके है। आहारकशरीर उत्पन्न होनेके पूर्व आहारकमिश्रकाययोग होता है और उसके बाद आहारकशरीर उत्पन्न होनेपर आहारक-काययोग होता है। इन दोनोका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। जिन

सयोगकेवली भगवान्‌के तेरहवें गुणस्थानके अन्तिम अन्तर्मुहुर्तमें लोक-पूरण समुद्धात होता है उनके दण्डनामक भेदमे औदारिककाययोग, कपाटमे औदारिकमिश्र और प्रतर तथा लोकपूरण भेदमे कार्मण काय-योग होता है। तैजस शरीरके निमित्तसे आत्मप्रदेशोमे परिष्पन्द नही होता, इसलिए तैजसयोग नही माना गया है। चौदहवें गुणस्थानमे कोई योग नही होता।

आगे सयोग और अयोग जीवोकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—

सयोगा जन्मकान्तारे प्रकुर्वन्त्यटनं परम्।
योगबाधाबहिर्भूता विजयन्ते त्वयोगिनः ॥६६॥

अर्थ—योग सहित जीव ससाररूपी अटवीमे बहुत भारी भ्रमण करते हैं और योगकी बाधासे रहित अयोगी जिन सदा जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥६६॥

इस प्रकार योगमार्गणाका वर्णन पूर्ण हुआ

अब वेदमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

द्रव्यभावविभेदेन वेदो द्वेधा विभिद्यते।
प्रायेण समः क्वापि विषमश्चापि जायते ॥६७॥
नरस्त्रीक्लीववेदानामुदयादात्ममोहनम्।
यज्जायते स भावेन वेदः सर्वज्ञभाषितः ॥६८॥
नामकर्मोदयाज्जातं यत्तु लक्ष्मविशेषकम्।
द्रव्येणासौ मतो वेदो जिनेन्द्रागमधारिभिः ॥६९॥
वेदकर्मोदये जाते जीवः समोहवान् भवेत्।
समोहेन न जानाति गुण वा दोषसङ्घकम् ॥७०॥

वसन्ततिलका

जीवः स्वयं पुरुगुणान् पुरुभोगिभोगान्
शेते करोति निखिल पुरुकर्ममान्यम्।
यस्माद् भवेदखिलमानवमाननीय—
स्तस्मादयं पुरुष इत्थमुपस्तुतोऽस्ति ॥७१॥

अनुष्टुप्

मायया छादयत्यात्मानं परं च नरं सदा ।
दोषैर्या सा सुधीभिः स्त्री, मता मायानिकेतनम् ॥७२॥
न स्त्री न पुरुषो लोके लिङ्गयुग्मविहीनकः ।
नपुसकः स विख्यातो मदनानलमध्यगः ॥७३॥

उपेन्द्रवज्रा

तृणाग्निकारीषशिखीष्टपाकाशुशुक्षणिभ्रातृरतीशबाधाः ।
नराश्च नार्यश्च नपुंसकाश्च निरन्तरं दुःखभर भरन्ति ॥७४॥

आर्या

निजधैर्यखड्गधाराविनिपातितमारदेवभूधानः ।
मुक्तिस्त्रीवरसगमनोत्का लोका जयन्ति केऽपीह ॥७५॥

अर्थ—द्रव्य और भावके भेदसे वेद दो प्रकारका है। प्राय कर ये दोनो वेद समान होते है परन्तु कही (कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चके) विषम भी होते है ॥६७॥ पुवेद, स्त्रीवेद और नपुसकवेद नामक नोकषायके उदयसे आत्मामे जो समोह उत्पन्न होता है उसे सर्वज्ञ भगवान्ने भाववेद कहा है ॥६८॥ तथा नामकर्मके उदयसे जो चिह्नविशेष उत्पन्न होते है उन्हे जिनागमके ज्ञाता पुरुषोने द्रव्यवेद माना है ॥६९॥ वेदकर्मका उदय होनेपर जीव समोहसे युक्त होता है और उस समोहके कारण गुण अथवा दोषसमूहको नही जानता है ॥७०॥

जिस कारण जीव स्वयं बहुत गुणो तथा बहुत भारी भोगोके स्वामित्वको प्राप्त होता है और समस्त प्रशस्त कार्यकलापको करता है इसलिये वह समस्त मनुष्योके द्वारा माननीय 'पुरुष' ऐसा कहा गया है ॥७१॥ जो मायाके द्वारा अपने आपको तथा अन्य मनुष्योको दोपोसे आच्छादित करती है तथा मायाचारका घर है उसे विद्वज्जनोने स्त्री माना है ॥७२॥ लोकमे जो न स्त्री है न पुरुष है—दोनोके चिह्नोसे विहीन है तथा सदा कामाग्निके मध्य रहता है अर्थात् सदा कामाकुलित है वह नपुसक नामसे प्रसिद्ध है ॥७३॥ जिन्हे तृणाग्नि, कारीषाग्नि और ईंट पकानेके अवाकी अग्निके समान काम वाधा है ऐसे पुरुष, स्त्री और नपुसक निरन्तर दु खका भार उठाते रहते है ॥७४॥ अपने धैर्यरूपी

तलवारकी धारासे जिन्होने कामदेवका मस्तक गिरा दिया है तथा जो मुक्तिस्त्रीके समागमके लिए उत्कण्ठित हैं ऐसे कोई पुरुष, इस जगत्मे भी जयवत प्रवर्तते हैं ॥७५॥

इस प्रकार वेदमार्गणा पूर्ण हुई।

आगे कषायमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

अथात्मनो हि सम्यक्त्वचारित्रप्रभृतीन् गुणान् ।
ये कषन्ति कषायास्तान् निगदन्ति जिनेन्दवः ॥७६॥
क्रोधाहंकारमायाभिस्तृष्णया च विभिद्यते ।
चतुर्धात्र कषायः स भवकाननवारिदः ॥७७॥

अर्थ—जो आत्माके सम्यक्त्व तथा चारित्र आदि गुणोको घातते हैं उन्हे जिनचन्द्र कषाय कहते हैं।

भावार्थ—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्वको, अप्रत्याख्यानावरण देश-चारित्रको, प्रत्याख्यानावरण सकलचारित्रको और सज्वलन यथाख्यात चारित्रको घातती है। क्रोध, मान, माया और लोभके द्वारा वह कषाय चार प्रकारकी है। कषाय, ससाररूपी वनको हरा-भरा रखनेके लिए मेघरूप है ॥७६-७७॥

क्रोधकषाय—

क्रोधकर्मोदयाज्जातो रक्तलोचनयुग्मकः ।
आत्मप्रशंसनोद्युक्तो वागाटोपविधायकः ॥७८॥
उत्तालतालसंलीनश्चरणस्फालनोद्यतः ।
क्रोधोऽवस्थान्तरो जीवस्योच्यते परमात्मभिः ॥७९॥

वसन्ततिलका

क्रोधो भवाब्धिविनिपातनिमित्तमूल
क्रोधो निगोदनरकादिनिवासहेतु ।
क्रोधः प्रशान्तिविशदेन्दुविधु तदोऽयं
क्रोधो हि बोधगजराजमृगाधिराजः ॥८०॥

अर्थ—क्रोधकर्मके उदयसे आत्माकी जो अवस्थाविशेष होती है वह परमात्माओके द्वारा क्रोध कही जाती है। इस क्रोधके समय मनुष्यके

दोनो नेत्र लाल हो जाते है। यह मनुष्य आत्मप्रशंसामे उद्यत होता है, वचनोका आडम्बर करता है, बहुत भारी ताली पीटता है और पैरोके आस्फालनमे उद्यत रहता है ॥७८-७९॥ क्रोध, ससाररूपी समुद्रमे गिरानेका मूल कारण है। क्रोध, निगोद और नरकादि गतियोमे निवास-का कारण है। यह क्रोध, शान्तिरूपी निर्मल चन्द्रमाको ग्रसनेके लिये राहु है तथा ज्ञानरूपी गजराजको नष्ट करनेके लिये मृगराज—सिह है ॥८०॥

मानकषाय—

आत्मानं लोकशृङ्गाग्रमधिरूढमिव स्वयम् ।
मन्यमान पुनर्हीनहीनाद्धीनतमं परम् ॥८१॥
मानकर्मोदयोद्भूतोऽहङ्कारवचनोद्यतः ।
अशुद्धो ह्यात्मनो भावो मानो मुनिभिरुच्यते ॥८२॥

उपजाति

हेमाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि
पतत्यधस्तात्पुनरेष जीव ।
निजप्रतापार्जितभूरिभूति
पातो नरस्यापि भवत्यधस्तात् ॥८३॥

अर्थ—मानकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ आत्माका वह अशुद्धभाव मुनियोके द्वारा मान कहा जाता है, जिसमे यह जीव अपने आपको स्वय लोकशिखरके अग्रभागपर चढा हुआ तथा दूसरेको हीनसे हीन अर्थात् अत्यन्त हीन मानता है। साथ ही अहकारपूर्ण वचनोके कहनेमे उद्यत रहता है ॥८१-८२॥ सुमेरुकी शिखरपर चढ़ा हुआ भी यह जीव पुन. नीचे गिरता है। अपने प्रतापसे बहुत भारी विभूतिका उपार्जन करनेवाले मनुष्यका भी नीचे पतन होता है ॥८३॥

मायाकषाय—

मायाकर्मोदयोत्पन्ना कौटिल्याकारधारिणी ।
जगत्प्रवञ्चनोद्युक्ता माया मायावि-सम्मता ॥८४॥

हास्यरत्यरतित्रासजुगुप्साशोकवेदकाः ।
इतीषत्कार्यहेतुत्वान्नोकषाया निरूपिताः ॥९७॥

तत्रैतन्नोकषायाणां मेलने पञ्चविंशतिः ।
कषायाणां विभेदा स्युर्वर्णिता परमागमे ॥९८॥

अन्तर्मुहूर्तकं पक्षो मासाः षट्संख्यकास्तथा ।
असंख्येयाश्च संख्येया अनन्ताश्च भवोच्चयाः ॥९९॥

यथाक्रमं कषायाणा क्रोधाद्यानां महर्षिभिः ।
संज्वलनादिभेदानां वासनाकाल उच्यते ॥१००॥

तीव्रा तीव्रतरा मन्दा पुनर्मन्दतरापि च ।
एतेषामुदयावस्था वर्णिताः पूर्वसूरिभिः ॥१०१॥

उपेन्द्रवज्रा

न सोऽस्ति कालो न स भूमिभागो
यत्र स्थितो याति कषाययुक्तः ।
नर सुखित्वं तु कषायहीन
सुख समाप्नोति सदा समन्तात् ॥१०२॥

अर्थ—जो अपने प्रभावसे आत्माके सम्यक्त्व नामक गुणका घात करती है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने अनन्तानुबन्धी कषाय कहा है ॥९२॥ जो अपने वैभवसे आत्माके देशचारित्रका घात करती है वह अप्रत्याख्यानावरणी कषाय कहलाती है ॥९३॥ जिसके उदयसे सकलचारित्रका घात होता है वह प्रत्याख्यानावरणी कषाय मुनीन्द्रोके द्वारा कही गई जानना चाहिये ॥९४॥ जो यथाख्यात नामक उत्कृष्ट चारित्रका घात निरन्तर करती है वह सज्वलन कषाय कही जाती है ॥९५॥ ये चारो कषाय क्रोध मान माया और लोभके भेदसे चार-चार प्रकारकी है इसलिये सब कषाय सोलह कही गई है ॥९६॥ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद ये ईषत् कार्यका कारण होनेसे नोकषाय कही गई हैं ॥९७॥ उपर्युक्त सोलह कषायोमे नोकषायोके नौ भेद मिलानेसे कषायोके पच्चीस भेद परमागममे कहे गये हैं ॥९८॥ महर्षियोंने

सज्वलन आदि कषायोका वासनाकाल क्रमसे एक मुहूर्त, एक पक्ष, छह माह और सख्यात, असख्यात तथा अनन्त भव कहे है ॥९९–१००॥ इन कषायोकी उदयावस्था पूर्वाचार्योने तीव्र, तीव्रतर, मन्द और मन्दतराके भेदसे चार प्रकारकी कही हैं ॥१०१॥ न वह काल है और न वह भूभाग है जहाँ कषायसे युक्त मनुष्य सुखको प्राप्त होता हो। इसके विपरीत कषाय रहित मनुष्य सदा सब ओर सुखको प्राप्त होता है ॥१०२॥

इस प्रकार कषायमार्गणा पूर्ण हुई।

अब ज्ञानमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

वसन्ततिलका

संसारसिन्धुतरणिस्तरणिः प्रगाढ–
मिथ्यात्वकृष्णरजनीतिमिरापहान्यै ।
योगीशचित्तकुमुदावलिकौमुदीशो
ज्ञानं सदा विजयते जनपूज्यमानम् ॥१०३॥

अर्थ—जो ससाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये जहाज है, जो अत्यन्त तीव्र मिथ्यात्वरूपी कृष्णरात्रि सम्बन्धी अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्य है, जो मुनिराजोके हृदयरूपी कुमुदसमूहको विकसित करनेके लिये चन्द्रमा है तथा मनुष्योके द्वारा पूज्य है ऐसा ज्ञान सदा सर्वोत्कृष्ट जयवत प्रवर्तता है ॥१०३॥

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमेव च ।
मनःपर्ययबोधश्च केवलज्ञानमेव च ॥१०४॥
इति ज्ञानानि पञ्चैव वर्णितानि जिनागमे ।
तत्राद्ये द्वे परोक्षे स्तः प्रत्यक्षाणीतराणि तु ॥१०५॥
क्षायोपशमिकं ज्ञानमाद्यज्ञानचतुष्टयम् ।
इतरत्केवलज्ञानं क्षायिकं बुधसम्मतम् ॥१०६॥
क्षयोपशमने जाते मतिज्ञानावृतेः पुनः ।
चेतोहृषीकयोगेन दिव्यालोकादिसन्निधौ ॥१०७॥

तिरस्कृत कर दिया है, जो समस्त लोकको जाननेवाला है और मोक्षका साधन है उसे केवल नामक महाज्ञान जानना चाहिये ॥११७-११८॥ न वह द्रव्य है, न वह क्षेत्र है, न वह काल है और न वह भाव है जिसमे केवलज्ञानकी शुभ गति नही है। भावार्थ यह है कि केवलज्ञान, द्रव्य, क्षेत्र-काल और भावकी सीमासे रहित होकर लोकालोकवर्ती समस्त द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायोको एक साथ जानता है ॥११९॥ आश्चर्य है कि मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान, किसी जीवमे मिथ्यात्वरूपी दैत्यके ससर्गसे मिथ्यात्वदूषित अर्थात् मिथ्याज्ञान हो जाते हैं और ससार-रूपी भँवरमे रहनेवाले जीवोमे किन्ही जीवो—मिश्रगुणस्थानवर्ती जीवोके मिश्रमोहनीयके उदयसे मिश्र ज्ञान कहलाते हैं ॥१२०-१२१॥ मतिज्ञानादिकी विशिष्टता सम्यग्ज्ञानके वर्णनमे आगमानुसार आगे कहेगे। यहाँ कुछ ही—सक्षिप्त निरूपण किया है ॥१२२॥

इस प्रकार ज्ञानमार्गणा पूर्ण हुई।

अब सयममार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

स्रोतःसघकषायाणां निग्रहो दण्डदण्डनम् ।
व्रतानां समितीनां च पालनं संयमो मतः ॥१२३॥

संयमश्च भवेन्नूनं स्थूलसज्वलनोदये ।
सूक्ष्मोदये च मोहस्य शमनक्षययोः सतो. ॥१२४॥

अर्थ—इन्द्रियसमूह तथा कषायोका निग्रह करना, मन, वचन, कायके व्यापाररूप दण्डको दण्डित करना—रोकना, तथा व्रतो और समितियोका पालन करना सयम माना गया है ॥१२३॥ यह सयम नियमसे वादरसज्वलनका उदय होनेपर, सूक्ष्मसज्वलनका उदय होनेपर और मोहनीय कर्मका उपशम तथा क्षय हो जानेपर होता है। भावार्थ—सयम, छठवें गुणस्थानसे होता है। छठवेंसे नौवें गुणस्थान तक वादर-सज्वलन कषायका उदय रहता है और दशम गुणस्थानमे सूक्ष्म-सज्वलनका होता है साथ ही प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम होता है। इस क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग कारणसे इन गुणस्थानोमे सयम होता है। उपशमश्रेणीवाला, चारित्रमोहका उपशम कर ग्यारहवें गुण-स्थानमे पहुँचता है इसलिये उसके औपशमिक चारित्र होता है और

क्षपकश्रेणीवाला चारित्रमोहका क्षय कर बारहवें गुणस्थानमे पहुँचता है। इसलिए उसे आदि लेकर चौदहवें गुणस्थान तक और उसके अनन्तर सिद्धपर्यायमे भी क्षायिक चारित्र होता है ॥१२४॥

सामायिकं च छेदोपस्थापना परिहारकः ।
सूक्ष्मस्तथा यथाख्यातं पञ्चैते संयमाः स्मृताः ॥१२५॥
परिहारविशुद्धिश्च छेदोपस्थापना तथा ।
सामायिकं च चारित्रं स्थूलसज्वलनोदये ॥१२६॥
जायन्ते, परिहारो हि प्रमत्तेतरयोस्ततः ।
शिष्टद्वयं प्रमत्ताद्यनिवृत्यन्तेषु धामसु ॥१२७॥
संज्वलनकषायीयसूक्ष्मोदयसमुद्भवः ।
संयमः सूक्ष्मको ज्ञेयो दशमे गुणधामनि ॥१२८॥
यथाख्यातं तु चारित्रं शान्तमोहादिषु स्मृतम् ।
अप्रत्याख्यानरोषाद्यनुदयाद्देशसंयमः ॥१२९॥
जायते पञ्चमे स्थाने देशसयतसंज्ञिते ।
संयतासंयतो जीवो युगपद्यत्र कीर्त्यते ॥१३०॥
अप्रत्याख्यानसंरोधकषायोदयनोत्थितः ।
असंयमो भवेत्पु सामाद्यस्थानचतुष्टये ॥१३१॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच सयम माने गये है ॥१२५॥ इनमेसे सामायिक छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि ये तीन चारित्र वादरसज्वलनके उदयमे होते है। परिहारविशुद्धि सयम प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत इन दो गुणस्थानोमे होता है और सामायिक तथा छेदोपस्थापना प्रमत्त-संयतसे लेकर अनिवृत्तिकरण तक अर्थात् छठवेंसे नौवें गुणस्थान तक होते है ॥१२६-१२७॥ सज्वलनकषायके सूक्ष्म उदयमे होनेवाला सूक्ष्म-सांपरायचारित्र दशम गुणस्थानमे जानना चाहिये ॥१२८॥ यथाख्यात चारित्र, उपशान्तमोह आदि गुणस्थानोमे माना गया है। अप्रत्याख्याना-वरणक्रोधादिके अनुदयमे होनेवाला देशसयम, देशसयत नामक पञ्चम गुणस्थानमे होता है जहां यह जीव एक साथ सयतासयत कहा जाता

है अर्थात् त्रसहिंसाका त्यागी होनेसे संयत और स्थावरहिंसाका त्यागी न होनेसे असंयत कहलाता है ॥१२९–१३०॥ अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमे होनेवाला असंयम जीवोंके प्रारम्भिक चार गुणस्थानोमे होता है ॥१३१॥

आगे सामायिक आदि संयमोके लक्षण कहते हैं—

सर्वसावद्यकार्याणां त्यागो यत्र विधीयते ।
लोकोत्तरः स सामायिकसंयम उदाहृतः ॥१३२॥
पूर्वपर्यायमुच्छिद्य स्वकीयस्थापना पुनः ।
प्रायश्चित्तादिना धर्मे छेदोपस्थापना हि सा ॥१३३॥
परिहारेण सत्रं स्याद्विशुद्धिर्यत्र संयते ।
परिहारविशुद्धि स संयमो यमिसंयतः ॥१३४॥
त्रिगुप्तिमण्डनः पञ्चसमितिव्रतशोभनः ।
त्रिंशद्वर्षेषु यातेषु यातेषु सुखमुत्पत्तिकालतः ॥१३५॥
यावत्पृथक्त्ववर्षाणि तीर्थेशाङ्घ्रिपयोजयोः ।
प्रत्याख्यानानुवादस्य ह्यध्येता भक्तिसंयुतः ॥१३६॥
संध्याकालत्रयं मुक्त्वा गव्यूतियुगसंचरः ।
नित्यं विहरमाणोऽपि जीवानां निकुरम्बके ॥१३७॥
जीवानां घातको न स्यात्परिहारर्द्धिसंयुतः ।
यत्र लोभो भवेद् भिक्षोः संयमेन समं मनाक् ॥१३८॥
स सूक्ष्मसाम्परायः स्यात्संयमो जिनसम्मतः ।
क्षीणे वा ह्युपशान्ते वा मोहनीयाख्यकर्मणि ॥१३९॥
आत्मस्वरूपलब्धिर्या सा यथाख्यातसंयतिः ।
कथ्यते मुक्तिकान्तायाः साक्षात्संगमकारिणी ॥१४०॥

इन्द्रवज्रा

हिंसानृतस्तेयकुशीलसङ्गपापावलीभ्योऽल्पतया विमुक्ता ।
युक्ताः पुनः सप्तसुशीलभावैर्देशव्रतास्तथ्यदृशा युताः स्यु ॥१४१

षट्कायजीवहिंसायां तत्परा भुवि ये नराः ।
अक्षचेष्टासमुद्युक्तास्त उक्ता. संयतेतरा ॥१४२॥

अर्थ—जिसमे समस्त पापकार्योका त्याग किया जाता है वह श्रेष्ठ सामायिक सयम कहा गया है ॥१३२॥ पूर्वकी सदोष पर्यायको छोडकर प्रायश्चित्तादिके द्वारा अपने आपको पुन सयममे स्थापित करना छेदोपस्थापना है ॥१३३॥ जिसमे साधुके परिहारके साथ साथ एक विशिष्ट प्रकारकी शुद्धि होती है वह परिहारविशुद्धि सयम है। यह सयम मुनिको अत्यन्त प्रिय होता है ॥१३४॥ जो तीन गुप्तियोसे अलकृत है, पञ्चसमितियो और पञ्चमहाव्रतोसे सुशोभित है, जन्मसे लेकर तीस वर्ष सुखसे व्यतीत होनेपर जिसने तीर्थंकरके चरण कमलोमे रहकर पृथक्त्ववर्ष तक प्रत्याख्यान पूर्वका अध्ययन किया है, जो जिनभक्तिसे सहित है, तीन सध्याकालोको छोडकर प्रतिदिन दो कोश गमन करता है और जीवसमूहपर विहार करनेपर भी जीवोका घात करनेवाला नही होता है वह परिहारविशुद्धि सयमसे सहित होता है। जहाँ साधुके सयमके साथ अत्यन्त सूक्ष्म लोभ रह जाता है वह जिनसमत सूक्ष्मसाम्पराय नामका सयम है। मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षीण हो जानेपर जो आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है वह मुक्तिकान्ताका साक्षात् सगम करानेवाला यथाख्यात सयम कहलाता है ॥१३५-१४०॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापोके समूहसे जो एकदेश रहित हैं, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सात शीलोसे सहित हैं तथा सम्यग्दर्शनसे सहित हैं वे देशव्रतके धारक हैं ॥१४१॥ पृथिवीपर जो षट्कायिक जीवोकी हिंसामे तत्पर है तथा इन्द्रियोके व्यापारमे समासक्त हैं वे असयमी कहे गये है ॥१४२॥

इस प्रकार सयममार्गणा पूर्ण हुई।

आगे दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

ग्रहणं सर्वभावानां सामान्यं निर्विकल्पकम् ।
सत्तामात्रपरिग्राहि दर्शनं जिनदर्शितम् ॥१४३॥

चक्षुर्गोचरभूतस्य भावजातस्य दर्शनम् ।
जात यज्ज्ञानत पूर्वं तदुक्त नेत्रदर्शनम् ॥१४४॥

शेपेन्द्रियप्रकाशो यो ज्ञानात्पूर्वं प्रजायते ।
अचक्षुर्दर्शनं प्रोक्तं तत्सर्वज्ञजिनेन्दुना ॥१४५॥
अवधिज्ञानतः पूर्वं यत्सामान्यविलोकनम् ।
अवधिदर्शन तत्स्यादनक्षोद्योगसगतम् ॥१४६॥
साधं केवलबोधेन जात सर्वातिगं परम् ।
केवलदर्शनं ज्ञेय शाश्वतञ्चात्मसंभवम् ॥१४७॥
ज्ञानं छद्मस्थजीवानां मतं दर्शनपूर्वकम् ।
सर्वज्ञस्य जिनेन्द्रस्य जायते तु सम द्वयम् ॥१४८॥

अर्थ—समस्त पदार्थोको विकल्परहित, सामान्यरूपसे ग्रहण करना दर्शन है। यह दर्शन पदार्थोकी सत्ता मात्रको ग्रहण करता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है ॥१४३॥ चक्षुरिन्द्रियके विषयभूत पदार्थोका ज्ञानके पूर्व जो दर्शन (सामान्यावलोकन) होता है वह चक्षुर्दर्शन कहा गया है ॥१४४॥ चक्षुरिन्द्रियके सिवाय शेष इन्द्रियोका जो प्रकाश उनके ज्ञानके पूर्व होता है उसे सर्वज्ञ जिनचन्द्रने अचक्षुर्दर्शन कहा है ॥१४५॥ अवधिज्ञानके पूर्व जो पदार्थोका इन्द्रियव्यापारसे रहित सामान्य अवलोकन होता है वह अवधिदर्शन है ॥१४६॥ और केवलज्ञानके साथ जो पदार्थोका सर्वातिशायी दर्शन होता है उसे केवलदर्शन जानना चाहिये। यह केवलदर्शन शाश्वत है अर्थात् होकर कभी नष्ट नही होता तथा आत्मासे ही उत्पन्न होता है ॥१४७॥ छद्मस्थ जीवोका ज्ञान, दर्शन पूर्वक होता है और सर्वज्ञ जिनेन्द्रका ज्ञान तथा दर्शन—दोनो साथ ही प्रकट होते हैं ॥१४८॥

इस प्रकार दर्शनमार्गणा पूर्ण हुई।

अब लेश्यामार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

लेश्याका लक्षण—

आत्मान कर्मपुञ्जेन पुण्यपापात्मना नरः ।
यया लिम्पति लेश्या सा लक्षिता परमात्मना ॥१४९॥
लेश्या योगप्रवृत्तिः स्यात्कषायोदयरञ्जिता ।
कुर्वाणा कर्मणां बन्धचतुष्क चेति दर्शितम् ॥१५०॥

अर्थ—जिसके द्वारा यह मनुष्य अपने आपको पुण्य-पापरूप कर्म-समूहसे लिप्त करता है। उसे परमात्माने लेश्या कहा है। यह लेश्याका निरुक्त अर्थ है। वाच्यार्थ इस प्रकार है। कषायके उदयसे अनुरञ्जित योगोकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। यह लेश्या कर्मोंके चतुर्विध बन्धको करनेवाली है ऐसा कहा गया है ॥१४९-१५०॥

लेश्या—

कृष्णनील्याभकापोततेजःपद्मवलक्षिताः ।
विभिन्ना द्रव्यभावाभ्यामिति लेश्याः षडीरिताः ॥१५१॥

अर्थ—मूलमे लेश्या, द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो भेद वाली है। पश्चात् दोनोके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल ये छह भेद कहे गये है॥१५१॥

द्रव्यलेश्या—

वर्णोदयेन संजाता याः कलेवरकान्तयः ।
षोढा ता द्रव्यतो भिन्ना लेश्याः कृष्णादयो मताः ॥१५२॥
भृङ्गनीलकपोतस्वर्णाब्जकम्बुमनोहराः ।
भवन्ति वर्णतो लेश्या बहुभेदविशोभिताः ॥१५३॥

अर्थ—वर्णनामकर्मके उदयसे शरीरकी जो कान्तियाँ होती हैं वे कृष्णादिके भेदसे छह प्रकारकी द्रव्यलेश्याएँ मानी गई हैं।।१५२॥ वे द्रव्यलेश्याएँ वर्णकी अपेक्षा क्रमसे भ्रमर, नील, कपोत, स्वर्ण, कमल और शङ्खके समान मनोहर हैं तथा अवान्तर बहुत भेदोसे सहित है ॥१५३॥

भावलेश्या—

तारतम्यं च भावानां कषायोदयनोत्थितम् ।
उपचारसमालब्धकृष्णनीलादिसञ्ज्ञिताः ॥१५४॥
संस्मृता भावतो लेश्याः कर्मबन्धनहेतवः ।
अथासां बाह्यविज्ञानं चेष्टाजातं प्रचक्ष्यते ॥१५५॥

अर्थ—कषायके उदयसे उत्पन्न भावोका जो तारतम्य है वह भाव-लेश्या है। ये भावलेश्याएँ उपचारसे कृष्ण, नील आदि संज्ञाओको प्राप्त है

तथा कर्मबन्धकी कारण हैं। अब इन लेश्याओंके चेष्टासे उत्पन्न बाह्य चिह्न कहे जाते हैं ॥१५५॥

कृष्णलेश्यावालेकी पहिचान—

चण्डो भण्डनशीलश्च दुष्टो धर्मदयोज्झितः ।
अवशो वैरसयुक्तः कृष्णलेश्याश्रितो भवेत् ॥१५६॥

अर्थ—जो अत्यन्त क्रोधी हो, बकनेवाला हो, दुष्ट हो, दयाधर्मसे रहित हो, किसीके वशमे न आनेवाला हो और वैरसे सयुक्त हो वह कृष्ण लेश्या वाला है ॥१५६॥

नीललेश्यावालेका लक्षण—

मानी मायी तथालस्यो भेद्यो विषयलम्पटः ।
मन्दो बुद्धिविहीनश्च विज्ञानाभावसंयुत ॥१५७॥
निद्रावञ्चनसंसक्तस्तीव्रसंज्ञो धनादिषु ।
भणित लक्षण ह्येतन्नीललेश्यावतो जिनैः ॥१५८॥

अर्थ—जो मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, चाहे जिसके चक्रमे आ जानेवाला हो, विषय लम्पट हो, मन्द हो, बुद्धिहीन हो, विशिष्ट ज्ञानसे रहित हो, निद्रा और प्रतारणा—दूसरोके ठगनेमे आसक्त हो और धनादिककी तीव्र लालसा रखता हो वह नीललेश्यावाला है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌ने नील लेश्यावालेका लक्षण कहा है ॥१५७-१५८॥

कापोत लेश्यावालेका लक्षण—

रुष्यति निन्दति स्वैरं बहुशो दुष्यतीतरम् ।
आत्मप्रशसनोद्युक्त शोकभीतिवशगत ॥१५९॥
मन्यमानः पर लोकमात्मानमिव वञ्चकम् ।
न च प्रत्येति, नो वेत्ति हानिवृद्धी ददाति च ॥१६०॥
स्तूयमानो धन भूरि मृत्यु प्रार्थयते रणे ।
कर्त्तव्यं चाप्यकर्त्तव्य नैव जानाति जातुचित् ॥१६१॥
यो लोके स भवेन्मर्त्यो युक्तः कापोतलेश्यया ।
अथाग्रे पीतलेश्याया लक्षणं विनिवेद्यते ॥१६२॥

अर्थ—जो स्वेच्छापूर्वक अनेक बार दूसरेसे रोष करता है, उसकी निन्दा करता है, उसे दोष लगाता है, अपनी प्रशसा करनेमे उद्यत रहता है, शोक और भयके वशीभूत रहता है, अपने ही समान दूसरेको ठग मानता हुआ उसका विश्वास नही करता है, हानि-वृद्धिको नही समझता है, स्तुति किये जानेपर बहुत भारी धन देता है, रणमे मरणकी इच्छा करता है और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको कभी नही जानता है वह मनुष्य लोक-मे कापोतलेश्यासे युक्त होता है। अब आगे पीतलेश्याका लक्षण कहा जाता है ॥१५९-१६२॥

पीतलेश्यावालेका लक्षण—

> **कार्याकार्यें विजानाति सेव्यासेव्ये च पश्यति ।**
> **दयादानरतो नम्रः पीतलेश्यायुतो जनः ॥१६३॥**

अर्थ—जो कार्य अकार्यको जानता है, सेव्य असेव्यको समझता है, दया दानमे तत्पर रहता है और प्रकृतिका नम्र होता है वह मनुष्य पीत लेश्यासे युक्त होता है ॥१६३॥

पद्मलेश्यावालेका लक्षण—

> **त्यागी भद्र सुकर्तव्यः क्षमाढ्य पूज्यपूजकः ।**
> **ससारसुखनिर्विण्णस्तथ्यतत्त्वगवेषकः ॥१६४॥**
> **जिनेन्द्रपादपङ्कजे भृङ्गः स्वात्महितोद्यतः ।**
> **लोको भवति लोकेऽस्मिन् पद्मलेश्याविभूषितः ॥१६५॥**

अर्थ—जो दानी हो, भद्र परिणामी हो, उत्तम काम करनेवाला हो, क्षमावान् हो, पूज्य जनोका पूजक हो, ससारके सुखसे विरक्त हो, सत्य-तत्त्वका अन्वेषक हो, जिनेन्द्र भगवान्के चरण कमलोका भ्रमर हो, और स्वात्महितमे उद्यत रहता हो ऐसा मनुष्य इस लोकमे पद्मलेश्यासे विभू-षित होता है ॥१६४-१६५॥

शुक्ललेश्यावालेका लक्षण—

वशस्थवृत्त

> **न पक्षपातं विदधाति कस्यचित्**
> **न यो निदान कुरुते च जातुचित् ।**
> **न रागद्वेषोपहतश्च यो भवेत्**
> **स शुक्ललेश्यासहितो जनो भवेत् ॥१६६॥**

अर्थ—जो मनुष्य न किसीका पक्षपात करता है, न कभी निदान करता है और न राग-द्वेषसे उपहत होता है वह शुक्ललेश्यासे सहित होता है ।।१६६।।

आगे गुणस्थानोमे लेश्याओका विभाग कहते हैं—

यावत्तुर्यगुणस्थानं लेश्याषट्क निरूप्यते ।
अप्रमत्त ततो यावच्छुभलेश्यात्रयी मता ।।१६७।।

ततो लेश्या स्मृता शुक्ला निर्लेश्यो योगवर्जितः ।
येषां क्रोधादयो जाताः खरशृङ्गयुगोपमाः ।।१६८।।

भूतपूर्वगतिन्यायात्तेषां लेश्या समुच्यते ।
अथवा योगजातस्य मुख्यत्वान्न विरुध्यते ।।१६९।।

चिर सीदन्ति संसारसागरावर्तवर्तिनः ।
युक्ता लेश्याकलापेन कुर्वाणाः कर्मसंचयम् ।।१७०।।

अर्थ—प्रारम्भसे चतुर्थ गुणस्थान तक छहो लेश्याएँ कही जाती हैं, उसके आगे अप्रमत्तसयत—सातवें गुणस्थान तक तीन शुभलेश्याएँ—पीत, पद्म और शुक्ल मानी गई है। उसके आगे शुक्ललेश्या है परन्तु अयोग केवली लेश्यासे रहित हैं। जिनके क्रोधादि कषाय खरशृगके समान अभावरूप है ऐसे ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तकके जीवोके भूतपूर्वगतिन्यायसे लेश्या कही जाती है अथवा योगकी मुख्यतासे, विरोध नही है। भावार्थ—कषायसे अनुरञ्जित योगोकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है, अत प्रारभसे लेकर दशम गुणस्थान तक कषायका सद्भाव रहनेसे लेश्याका लक्षण अच्छी तरह घटित होता है परन्तु ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मात्र योगोकी प्रवृत्ति है अत लेश्याका लक्षण घटित नही होता। यहाँ आचार्यने भूतपूर्वप्रज्ञापननयसे मात्र योगप्रवृत्तिको कषायानुरञ्जित मानकर लेश्याका लक्षण घटित किया है। अथवा योगप्रवृत्तिको मुख्य मानकर लेश्याका सद्भाव स्वीकृत किया है ।।१६७–१६९।। जो जीव लेश्याओके समूहमे युक्त हैं वे ससार-सागरकी भँवरमे पडे तथा कर्मोंका सचय करते हुए चिरकाल तक दुखी रहते है ।।१७०।।

आगे लेश्यारहित जीवोंकी स्तुति करते हैं—

उपजाति

कृष्णादिलेश्यारहिता भवाब्धि-
विनिर्गताः सिद्धिपुरं प्रयाताः ।
निरन्तसौख्यामृतसारसिक्ता
स्वात्मस्थितास्ते सुजना जयन्ति ॥१७१॥

अर्थ—जो कृष्णादि लेश्याओंसे रहित है, ससाररूपी सागरसे बाहर निकल चुके हैं, मुक्तिनगरको प्राप्त हैं, अनन्तसुखरूप अमृतके सारसे सिक्त हैं तथा स्वकीय आत्मामे स्थित हैं ऐसे मुक्त जीव जयवत प्रवर्तते हैं ॥१७१॥

इस प्रकार लेश्यामार्गणा पूर्ण हुई ।

आगे भव्यत्वमार्गणाकी अपेक्षा जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

सम्यक्त्वप्रमुखैर्भावैर्ये भविष्यन्ति जन्तव ।
स्वर्णोपला इव प्रोक्ता भव्या भगवता हि ते ॥१७२॥
व्यक्ता नैव भविष्यन्ति भावाः संदर्शनादयः ।
येषां ते ह्यन्धपाषाणसदृशोऽभव्यसंज्ञिताः ॥१७३॥
भव्याभव्यत्वभावाभ्यां बहिर्याता शिवेश्वराः ।
सज्ज्ञानचन्द्रिकापूरैर्भ्राजमाना जयन्ति वै ॥१७४॥

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शन आदि भावोंसे युक्त होगे वे भगवान्—जिनेन्द्रदेवके द्वारा स्वर्णपाषाणके समान भव्य कहे गये है ॥१७२॥ और जिनके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट नही होगे वे अन्धपाषाणके समान अभव्य कहे गये है ॥१७३॥ जो भव्य और अभव्य भावसे बहिर्भूत हैं तथा सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रिकासे शोभायमान है वे सिद्ध भगवान् निश्चयसे जयवत प्रवर्तते है ॥१७४॥

यह भव्यत्वमार्गणा पूर्ण हुई ।

आगे सम्यक्त्वमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका निरूपण करते है—

सम्यक्त्वका लक्षण—

जिनचन्द्रोपदिष्टानां जीवाजीवादिसञ्ज्ञिनाम् ।
तत्त्वानां सप्तसंख्यानां श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते ॥१७५॥

अर्थ—जिनचन्द्रके द्वारा कहे हुए जीवाजीवादि सात तत्त्वोंकी श्रद्धा करना सम्यक्त्व कहलाता है ॥१७५॥

सम्यक्त्वके भेद—

दर्शनमोहनीयस्यानचतुष्कविराजिनः ।
क्षये तत्क्षायिक प्रोक्तं शमे चोपशमोद्भवम् ॥१७६॥
क्षयोपशमने जाते क्षायोपशमिकं भवेत् ।
सम्यक्त्वत्रितय ह्येतद् वर्णित परमागमे ॥१७७॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धीकी चौकडीसे सहित दर्शनमोहनीयके क्षयसे क्षायिक, उपशमसे औपशमिक और क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। परमागममे सम्यक्त्वके ये तीन भेद कहे गये हैं ॥१७६–१७७॥

आगे क्षायिकसम्यक्त्वकी महिमा कहते हैं—

अनेककल्पकालानां शते याते न विक्रियाम् ।
क्षायिक याति सम्यक्त्व सुवर्णाचलसन्निभम् ॥१७८॥
क्षये दर्शनमोहस्य श्रद्धाभूषाविभूषितः ।
नातिक्राम्यति जीवोऽयं तुरीय जातुचिद् भवम् ॥१७९॥
कर्मभूमिसमुद्भूतो नरो दर्शनमोहनम् ।
हन्तु प्रारभते नून केवलिद्विकसन्निधौ ॥१८०॥
निष्ठापना तु सर्वत्र सर्वदा तस्य जायते ।
साद्यनन्तमिद प्रोक्तं दर्शन वरदर्शनैः ॥१८१॥

अर्थ—सुमेरु पर्वतके समान क्षायिकसम्यग्दर्शन, अनेक कल्पकालोंके शतक बीत जानेपर भी विकारको प्राप्त नही होता है ॥१७८॥ दर्शन-मोहका क्षय हो जानेपर श्रद्धारूपी आभूषणसे विभूषित यह जीव, कभी भी चतुर्थ भवका उल्लघन नही करता है अर्थात् चतुर्थ भवमे नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥१७९॥ कर्मभूमिमे उत्पन्न हुआ मनुष्य ही केवलिद्विकके सन्निधानमे दर्शनमोहनीयका क्षय करना प्रारम्भ करता है परन्तु उसकी निष्ठापना सब गतियों सदा हो सकती है। इस क्षायिक-सम्यग्दर्शनको उत्कृष्ट सम्यक्त्वके धारक जिनेन्द्र भगवान्‌ने सादि अनन्त कहा है ॥१८०–१८१॥

औपशमिकसम्यक्त्वकी विशेषता—

दर्शनमोहनीयस्योपशमे जायते तु यत् ।
प्रसन्नपङ्कपानीयवद्भवेत्क्षणिकं हि तत् ॥१८२॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम होनेपर होता है वह औपशमिकसम्यग्दर्शन कहलाता है। वह सम्यग्दर्शन ऊपरसे स्वच्छ किन्तु भीतर कीचसे युक्त पानीकी स्वच्छताके समान क्षणिक होता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमे नियमसे नष्ट हो जाता है ॥१८२॥

वेदक सम्यक्त्वकी विशेषता—

सम्यक्त्वमोहनीयस्योदये दोषविदूषितम् ।
वेदकं हन्त सम्यक्त्वं भविनां भवति ध्रुवम् ॥१८३॥

अर्थ—खेद है कि जीवोका वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्वमोहनीयके उदयमे चल, मल और अगाढ दोषसे निश्चित ही दूषित होता है॥१८३॥

सासादनसम्यग्दृष्टिका लक्षण—

सम्यक्त्वशैलतो भ्रष्टो जीवो मिथ्यात्वभूतलम् ।
यावत्प्राप्तो न स प्रोक्तस्तावत्सासनदर्शनः ॥१८४॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूपी पर्वतसे भ्रष्ट हुआ जीव जब तक मिथ्यात्वरूपी भूतलपर नही आता है तब तक वह सासादनसम्यग्दृष्टि कहा गया है ॥१८४॥

मिश्र और मिथ्यादृष्टिका लक्षण—

मिश्रमोहोदये यस्य तत्त्वानां निकुरम्बके ।
श्रद्धाऽश्रद्धोभयाकारं पृथक्कर्तुमनीश्वरः ॥१८५॥
परिणामो भवेत्स स्यान्मिश्रसंज्ञाविभूपित ।
मिथ्यात्वमोहनीयस्योदयं यातो हि यो जनः ॥१८६॥
जिनेन्द्रचन्द्रनिर्दिष्ट तत्त्वजात न जातुचित् ।
प्रत्येति स च विज्ञेयो जीवो मिथ्यात्वसंयुतः ॥१८७॥

अर्थ—मिश्र (सम्यङ्मिथ्यात्व) मोहनीयके उदयमें जिस जीवका परिणाम तत्त्वसमूहके विषयमे श्रद्धा और अश्रद्धाके समिलित आकारको

पृथक् करनेमे असमर्थ रहता है वह मिश्रसज्ञासे युक्त है। तथा मिथ्यात्व-मोहनीयके उदयको प्राप्त हुआ जो जीव जिनेन्द्रचन्द्रके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वसमूहकी कभी प्रतीति नही करता उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥१८५-१८७॥

इस प्रकार सम्यक्त्वमार्गणाका वर्णन हुआ।

आगे सञ्ज्ञीमार्गणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं—

संज्ञाका लक्षण—

नोइन्द्रियावृतेर्नूनं क्षयोपशमने सति।
जायते बोधन यच्च सा संज्ञा सज्ञिता बुधैः ॥१८८॥

अर्थ—निश्चय ही नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशम होनेपर जो ज्ञान होता है उसे विद्वज्जनोने सज्ञा कहा है ॥१८८॥

संज्ञीका लक्षण—

उपजाति

मनोवलम्बेन निरन्तरं यः
शिक्षाक्रियालापमुखानुपायान्।
गृह्णाति सञ्ज्ञी स हि संज्ञितोऽयं
संज्ञानवद्भिः परमागमेषु ॥१८९॥

अर्थ—जो जीव मनके आलम्बनसे निरन्तर शिक्षा, क्रिया तथा आलाप आदि उपायोको ग्रहण करता है वह समीचीन ज्ञानके धारक मुनियोके द्वारा परमागममे सञ्ज्ञी कहा गया है ॥१८९॥

असंज्ञीका लक्षण—

उपेन्द्रवज्रा

न यत्र संज्ञा न मनोवलम्बो
न वर्तते काचन तत्त्वचिन्ता।
जनः स संज्ञारहितः प्रगीतो
यशोवलक्षीकृतदिक्समूहैः ॥१९०॥

अर्थ—जिसमे न संज्ञा है, न मनका आलम्बन है, और न कोई तत्त्वकी चिन्ता है उसे यशके द्वारा दिशाओके समूहको धवल करनेवाले ऋषियोने असञ्ज्ञी कहा है ॥१९०॥

संज्ञी-असंज्ञी व्यवहारसे शून्य जीवोंका स्तवन—

विजयन्ते जनाः केऽपि संज्ञ्यसंज्ञित्ववर्जिताः ।
आत्मानन्दथुसंभारसंभृताः पुरुषाश्चिरम् ॥१९१॥

अर्थ—जो पुरुष सज्ञी और असज्ञीके व्यवहारसे रहित हैं तथा चिरकाल तक आत्मोत्थ आनन्दके समीचीन भारसे परिपूर्ण रहते है वे कोई अनिर्वचनीय-अरहन्त सिद्ध परमेष्ठी जयवन्त प्रवर्तते है।

भावार्थ—एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीव असंज्ञी ही होते है। ये नियमसे तिर्यञ्चगतिमे होते है और मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमे ही रहते हैं। सज्ञीपञ्चेन्द्रियसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक सज्ञी कहलाते है। इनमे देव और नारकियोके आदिके चार गुणस्थान तथा तिर्यञ्चोके आदिके पाँच गुणस्थान होते हैं। परन्तु मनुष्योके प्रारम्भसे लेकर बारह गुणस्थान तक होते है। उसके आगे तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवाले मनुष्य तथा सिद्ध भगवान् सज्ञी और असज्ञीके व्यवहारसे रहित है ॥१९१॥

इस प्रकार संज्ञीमार्गणा पूर्ण हुई।

आगे आहारमार्गणाके आलम्बनसे जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

आहारका लक्षण—

देहनामोदयाद्देहवतां संसारवर्तिनाम् ।
नोकर्मपुद्गलादानमाहारो हि समुच्यते ॥१९२॥

अर्थ—शरीरनामकर्मके उदयसे ससारी जीवोके जो नोकर्मरूप पुद्गलोका ग्रहण होता है निश्चयसे वह आहार कहलाता है।

भावार्थ—विग्रहगतिके बाद संसारी जीव शरीररचनाके योग्य आहारवर्गणाके परमाणुओको जो ग्रहण करता है उसे आहार कहते है। इन आहारवर्गणाके परमाणुओसे शरीरकी रचना होती है। द्वीन्द्रियादि जीवोके इन्ही आहारवर्गणाके परमाणुओके साथ भाषावर्गणाके परमाणुओका भी सचय होता है उनसे वचनकी उत्पत्ति होती है और सज्ञी पञ्चेन्द्रियोके मनोवर्गणाके परमाणुओका भी ग्रहण होता है और उनसे मनकी उत्पत्ति होती है। जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नही होती तब तक जीव अपर्याप्तक कहलाता है। अपर्याप्तक अवस्थामे आयु, इन्द्रिय और कायबल ये तीन ही प्राण होते है। पर्याप्तक होनेपर श्वासो-

च्छ्वास, वचनवल और मनोवल भी हो जाते हैं। उपर्युक्त आहारको ग्रहण करनेवाले जीव आहारक कहलाते हैं ।।१९२।।

आगे आहारक और अनाहारक कौन होते हैं, यह कहते हैं—

उपजाति

अयोगिनः केवलिनो जिनेन्द्राः
सिद्धाः समुद्घातयुता जिनाश्च ।
नाहारका विग्रहयानयुक्ता
आहारकाः सन्ति तदन्यजीवाः ।।१९३।।

अर्थ—अयोगकेवली जिनेन्द्र, सिद्धपरमेष्ठी, समुद्घातसे सहित सयोगकेवली जिनेन्द्र और विग्रहगति वाले जीव अनाहारक होते हैं। इनसे अतिरिक्त समस्त जीव अहारक होते है।

भावार्थ—गुणस्थानोकी अपेक्षा अनाहारक अवस्था प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, समुद्घातगत त्रयोदश और चतुर्दश गुणस्थानमे ही होती है, अन्य स्थानोमे नही ।।१९३।।

समुद्घातका लक्षण—

जीवस्यात्मप्रदेशानामत्यक्त्वा मूलदेहकम् ।
वहिष्प्रसरण यत्तत् समुद्धातः समुच्यते ।।१९४।।

अर्थ—मूल शरीरको न छोडकर जीवके आत्मप्रदेशोका जो बाहर फैलाना है वह समुद्घात कहलाता है ।।९४।।

समुद्घातके भेद—

कषायवेदनोद्भूतौ वैक्रियो मारणान्तिकः ।
आहारकश्च तेजश्च केवलिनां च सप्तमः ।।१९५।।
एते सप्त समुद्घाताः प्रगीताः परमागमे ।
काष्ठामेकां प्रयात्येवाहारको मारणान्तिकः ।।१९६।।
इतरे पञ्च सर्वत्र गामिनस्तेषु सम्मताः ।
समुद्घातदशा सैषा स्वत एव प्रजायते ।।१९७।।

अर्थ—समुद्घातके सात भेद हैं—१ कषायोद्भूत, २ वेदनोद्भूत, ३ वैक्रियिक, ४ मारणान्तिक, ५ आहारक, ६ तैजस और ७ केवलि-समुद्घात।

भावार्थ—कषायकी तीव्रताके समय जो आत्मप्रदेश शरीरसे बाहर फैलते है वह कषाय-समुद्घात है। विशेष वेदना के समय आत्मप्रदेशोका बाहर फैलना वेदनासमुद्घात है। पृथक् विक्रियाके समय आत्मप्रदेशोका जो उत्तरदेहके साथ जाना है वह वैक्रियिकसमुद्घात है। किन्ही किन्ही जीवोंके आत्मप्रदेश मरणके पूर्व उस स्थानका स्पर्श करने जाते है जहाँ इसे उत्पन्न होना है, यह मारणान्तिकसमुद्घात कहलाता है। प्रमत्तसयत-गुणस्थानवर्ती किन्ही किन्ही मुनिके मस्तकसे निकलनेवाले आहारक-शरीरके साथ जो आत्मप्रदेशोका जाना है वह आहारकसमुद्घात कहलाता है। लब्धिप्रत्यय तैजसशरीरके साथ जो आत्मप्रदेशोका जाना है वह तैजससमुद्घात कहलाता है और जिन केवलियोके आयुकर्मकी स्थिति थोडी हो तथा शेष तीन अघातिया कर्मोकी स्थिति अधिक हो उनके तेरहवें गुणस्थानके अन्तिम मुहूर्तमे जो दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण अवस्था आत्मप्रदेशोकी होती है वह केवली-समुद्घात कहलाता है। इसमे आठ समय लगते है। दण्डभेदमें औदारिककाययोग, कपाटमे औदारिकमिश्रकाययोग और प्रतर तथा लोकपूरणभेदमे कार्मणकाययोग होता है। इस कार्मणकाययोगके समय अनाहारक अवस्था होती है ॥१९५॥

परमागममे ये सात समुद्घात कहे गये हैं। इनमे आहारक और मारणान्तिक समुद्घात एक दिशामे होते है। शेष पाँच सभी दिशाओमे होते हैं। समुद्घातकी यह अवस्था स्वय ही होती है ॥१९६-१९७॥

इस प्रकार आहारकमार्गणा पूर्ण हुई।

आगे उपयोगप्ररूपणाके द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन करते है—

हेतुयुग्मवशाज्जातश्चैतन्यानुविधायिकः ।
आत्मनः परिणामः स्यादुपयोगो जिनेरितः ॥१९८॥

स साकारनिराकारभेदाभ्यां द्विविधो मतः ।
साकारश्चाष्टधा तत्र निराकारश्चतुर्विधः ॥१९९॥

मत्यादिपञ्चसज्ज्ञानान्यज्ञानत्रितयं तथा ।
इत्थमष्टविधः प्रोक्तः साकारो ह्युपयोगक ॥२००॥

द्रुतविलम्बित

नयनदृष्टिरलोचनदर्शनं
ह्यवधिदर्शनकेवलदर्शने ।
इति पयोधिविकल्पयुतो मतो
गतविकल्पततिह्यु पयोगकः ॥२०१॥

द्वादशभेदसम्पन्न उपयोगोऽयमात्मनः ।
लक्षण लक्षित वीरजिनचन्द्रमसा चिरम् ॥२०२॥

अर्थ—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोसे उत्पन्न होनेवाला जीवका जो चैतन्यानुविधायी परिणाम है वह जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा हुआ उपयोग है ।।१९८।। वह उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका माना गया है । ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका और दर्शनोपयोग चार प्रकारका है ॥१९९॥ मति आदि पाँच सम्यग्ज्ञान और कुमति आदि तीन मिथ्याज्ञान, इस प्रकार ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका कहा गया है ।।२०१।। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इस प्रकार दर्शनोपयोग चार भेदोसे सहित माना गया है ॥२०१॥ वीर जिनेन्द्रने यह बारह भेदोसे सहित उपयोग जीवका चिरकाल व्यापी लक्षण कहा है ॥२०२॥

इस प्रकार उपयोगप्ररूपणा पूर्ण हुई ।

आगे जीवतत्त्वके वर्णनका उपसहार करते हैं—

उपजाति

ससारपाथोधिपयोनिमग्नो
दुःखं चिर हन्त भरन् समन्तात् ।
विपद्यते यो हि जनः स्वदोषात्
प्ररूपणाविंशतिवर्णितोऽसौ ॥२०३॥

ध्यानोग्रहव्याशशिखासमूह-
प्रदग्धदु खप्रदकर्मजालाः ।
सुमुक्तिकान्ताकमनीयकण्ठ-
सश्लेषजानन्दनमङ्गलाढयाः ॥२०४॥

अनन्तविज्ञानलतालवाला
विलोकिताशेषभवान्तरालाः ।
प्ररूपणाभेदबहिःप्रयाता
जयन्ति जैना जगदीश्वरास्ते ॥२०५॥

स्रग्धरा

शैलेषु स्वर्णशैलो जलधिविततिषु क्षीरपाथोनिधानो
देवेन्द्रो देववृन्दे निखिलसुरनुतो ध्यानमन्त्य तपःसु ।
भूषासु ज्ञानभूषा सुनृषु सुकृतविच्चास्ति यद्वत्प्रधान-
स्तद्वज्जीवः प्रधानः सकलगुणयुतस्तत्त्वराशौ प्रधान ॥२०६॥

अर्थ—खेद है कि जो प्राणी अपने दोषसे ससारसागरके जलमे निमग्न हो चिरकालसे सब ओर दुःख उठाता हुआ विपन्न हो रहा है उसका बीस प्ररूपणाओके द्वारा वर्णन किया गया है ॥२०३॥ जिन्होने ध्यानरूपी प्रचण्ड अग्निकी ज्वालाओके समूहमे दु खदायक कर्मसमूह-को अत्यन्त भस्म कर दिया है, जो मुक्तिकान्ताके सुन्दर कण्ठालिङ्गनसे समुत्पन्न आनन्दमङ्गलसे युक्त हैं, जो अनन्तविज्ञानरूपी लताके आलवाल स्वरूप है, जिन्होने समस्त ससारके अन्तरालको देख लिया है तथा जो प्ररूपणाओके भेदोसे बहिर्भूत है वे जैन जगदीश्वर सिद्ध पर-मेष्ठी सदा जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥२०४–२०५॥

जिस प्रकार पर्वतोमे सुमेरु, समुद्रोमे क्षीरसागर, देवसमूहमे समस्त देवोके द्वारा नमस्कृत इन्द्र, तपोमे शुक्लध्यान, आभूषणोमे ज्ञानरूप आभूषण और मनुष्योमे कृतज्ञ मनुष्य प्रधान है उसी प्रकार सब तत्त्वोमे निखिल गुणोंसे युक्त जीवतत्त्व प्रधान है ॥२०६॥

इस प्रकार सम्यक्त्व-चिन्तामणिमे जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला
चतुर्थ मयूख पूर्ण हुआ ।

●

पञ्चमो मयूखः

शार्दूलविक्रीडित

मोहक्ष्मापतिरक्षितं बहुविधं कर्मारिसैन्यं हत
येन ध्यानमयेन खङ्गनिचयेनाऽऽरक्षितं चाहवे ।
सम्यक्त्वप्रमुखात्मशोभनगुणश्रेणिः सदा सौख्यदा
स श्रीमान् वृषभेश्वरो विजयतामिष्टार्थकल्पद्रुमः ॥१॥

अर्थ—जिन्होने युद्धमे ध्यानरूपी खङ्गसमूहके द्वारा मोहरूपी राजासे सुरक्षित बहुत प्रकारकी कर्मशत्रुओकी सेनाको नष्ट किया तथा सम्यक्त्व आदि आत्माके उत्तमोत्तम, सुखदायक गुणसमूहकी रक्षा की थी, इष्ट अर्थको देनेके लिये कल्पवृक्ष स्वरूप वे श्रीमान् वृषभदेव भगवान् जयवन्त प्रवर्ते ॥१॥

इतोऽग्रे सम्प्रवक्ष्याम्यजीवतत्त्वमचेतनम् ।
स्वान्ते निधाय पूर्वेषामाचार्याणां वचःक्रमम् ॥२॥
अबोधोऽदर्शनोऽवीर्योऽसुखः सम्यक्त्ववर्जितः ।
चेतनालक्षणाज्जीवादजीवो भिन्न उच्यते ॥३॥

अर्थ—अब इसके आगे पूर्वाचार्योके वचनक्रमको हृदयमे धारणकर चेतनारहित अजीवतत्त्वका कथन करेंगे ॥२॥ जो ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य और सम्यक्त्वसे रहित है तथा चेतनालक्षण वाले जीवतत्त्वसे भिन्न है वह अजीव कहलाता है ॥३॥

आर्या

पुद्गलधर्माधर्माकाशानेहःप्रभेदसंभिन्नः ।
उक्त पञ्चविधोऽसौ ग्रन्थाकूपारनिष्णातैः ॥४॥

अर्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे वह अजीव तत्त्व, शास्त्ररूपी समुद्रके अवगाही आचार्योके द्वारा पाँच प्रकारका कहा गया है ॥४॥

पुद्गलका लक्षण—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तो मूर्ता निरूपितास्तत्र ।
पुद्गला नैकभेदाः पूरणगलनस्वभावसंयुक्ताः ॥५॥

अर्थ—उन पाँच भेदोमे जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे सहित हैं, मूर्तिक है, अनेक अवान्तर भेदोसे सहित हैं तथा पूरण-गलन स्वभाव वाले हैं वे पुद्गल कहे गये हैं ॥५॥

भावार्थ—जो स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा जाना जावे उसे स्पर्श कहते है। इसके आठ भेद है—कोमल, कडा, हलका, भारी, रूखा, चिकना, शीत और उष्ण। इनमेसे आदिके चार आपेक्षिक होनेसे परमाणुमे नही होते। शेष चार होते है। उनमे भी एक परमाणुमे स्निग्ध और रूक्षमेसे कोई एक तथा शीत और उष्णमेसे कोई एक, इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं। स्कन्धरूप पुद्गलमें सभी स्पर्श हो सकते है। जो रसना इन्द्रियके द्वारा जाना जावे उसे रस कहते है। इसके पाँच भेद है—खट्टा, मीठा, कडुआ कषायला और चिरपरा। खारा रस मीठे रसके अन्तर्गत माना गया है। इन पाँच रसोमेसे परमाणुमे कोई एक रस होता है परन्तु स्कन्धमे सभी रस हो सकते हैं। जो घ्राण इन्द्रियके द्वारा जाना जावे उसे गन्ध कहते है। इसके दो भेद है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। इनमेसे परमाणुमे कोई एक होता है परन्तु स्कन्धमे दोनो हो सकते हैं। जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा देखा जावे उसे रूप कहते है। इसके पांच भेद है—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। हरा रग पीला और नीलाके सयोगसे बनता है इसलिये उसे मूल भेदोमे समिलित नही किया है। इन रङ्गोके परस्पर मेलसे जो अनेक रङ्ग बनते हैं उनकी यहाँ विवक्षा नही की है। परमाणुमे एक रङ्ग होता है परन्तु स्कन्धमे सभी रङ्ग हो सकते हैं। पुद्गल मूर्तिक है क्योकि वह इन्द्रियोके द्वारा ग्रहणमे आता है। यद्यपि परमाणु और सूक्ष्म स्कन्ध इन्द्रियो द्वारा ग्रहणमे नही आते तो भी उन परमाणुओ और सूक्ष्म स्कन्धो के संयोगसे निर्मित बडे स्कन्धोके इन्द्रियो द्वारा ग्रहणमे आनेके कारण उन्हे मूर्ति सहित माना जाता है। पुद्गलका स्वभाव पूरण और गलन रूप है अर्थात् उनमेसे प्रत्येक समय अनेक परमाण बिखरते हैं और नये परमाणु उनमे मिलते हैं। दृश्यमान जगत् पुद्गलद्रव्यका ही विस्तार है ॥५॥

पुद्गलद्रव्यके पर्याय—

शब्दो बन्धस्तथा सौक्ष्म्यं स्थौल्यं संस्थानसंभिदाः ।
तमश्छायातपोद्योतास्तत्पर्यायाः प्रकीर्तिताः ॥६॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत, ये पुद्गल द्रव्यके पर्याय हैं ।

भावार्थ—गुण सदा द्रव्यके साथ रहते हैं परन्तु पर्याय क्रमवर्ती होनेसे कादाचित्क होते हैं । जिस प्रकार स्पर्श, रस, गन्ध और रूप सदा साथ रहते हैं उस प्रकार शब्दादिक सदा साथ नही रहते । ये शब्दादिक स्कन्धके भेद हैं । आगे इनका विवेचन किया जाता है ।

शब्द—जो कर्णेन्द्रियके द्वारा जाना जावे उसे शब्द कहते हैं । शब्दके दो भेद हैं— १ भाषारूप और २ अभाषारूप । भाषारूप शब्दके साक्षर और अनक्षरके भेदसे दो भेद हैं। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि रूप परिणत जो शब्द हैं वे साक्षर हैं । इन साक्षर शब्दोंके द्वारा ही अनेक शास्त्रोकी रचना होती है । अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिक जीवोके होता है । उत्पत्तिकी अपेक्षा केवली भगवान्की दिव्यध्वनि भी अनक्षरात्मक है परन्तु अपने अतिशयविशेषसे वह श्रोताओके कर्णकुहरमे अक्षररूप परिणत हो जाती हैं । यह अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनो प्रकारकी भाषा जीवके प्रयोग—प्रयत्न जन्य होनेसे प्रायोगिक कही जाती है । अभाषात्मक शब्द प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारके हैं । प्रायोगिक शब्द पुरुषके प्रयत्नजन्य होनेके कारण चार प्रकार के हैं—तत, वितत, घन और सौषिर । जिनपर चमडा मढा हुआ है ऐसे मृदङ्ग तथा भेरी आदिके शब्दको तत कहते हैं । वीणा आदिके शब्दको वितत कहते हैं । झालर, घण्टा आदिके शब्दको घन कहते हैं और शङ्ख तथा बासुरी आदिके शब्दको सौषिर कहते हैं ।

बन्ध—बन्धके दो भेद हैं—वैस्रसिक और प्रायोगिक । पुरुषप्रयोगकी अपेक्षा न रखकर स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण बिजली, उल्का तथा इन्द्रधनुष आदिके रूपमे जो होता है वह वैस्रसिक कहलाता है और पुरुष प्रयोगके निमित्तसे जो होता है वह प्रायोगिक कहलाता है । यह अजीव विषयक तथा जीवाजीव विषयकके भेदसे दो प्रकारका है । पुरुषके द्वारा जो लाख तथा काष्ठ आदि का बन्ध किया जाता है वह अजीव विषयक बन्ध है और जीवप्रदेशोके साथ जो कर्म तथा नोकर्म परमाणुओका बन्ध होता है वह जीवाजीव विषयक बन्ध कहलाता है । *अन्यत्र बन्धके*

तीन भेद किये गये है—१ जीवविषयक, २ अजीवविषयक और ३ जीवा-जीवविषयक। जीवके आत्मप्रदेशोमे जो राग-द्वेषरूप भावबन्ध होता है वह जीवविषयक बन्ध है। प्राचीन कर्मोके साथ जो नवीन कर्मोका सम्बन्ध होता है वह अजीवविषयक बन्ध है और जीव तथा कर्मरूप पुद्गल-प्रदेशो का जो नीर-क्षीरके समान एक क्षेत्रावगाह है वह जीवा-जीवविषयक बन्ध है। परन्तु यह चर्चा बन्धतत्त्वकी है। यहाँ मात्र पुद्गलकी पर्यायोका प्रकरण होने से उसकी विवक्षा नही की गई है।

सौक्ष्म्य—सौक्ष्म्य दो प्रकारका है—१ अन्तिम और २ आपेक्षिक। अन्तिम सौक्ष्म्य परमाणुओमे होता है क्योकि उनसे अधिक सूक्ष्म दूसरा पदार्थ नही होता और आपेक्षिक बेल, आमला तथा बेर आदिमे पाया जाता है। अर्थात् बेलसे सूक्ष्म आमला है और उससे सूक्ष्म बेर है।

स्थौल्य—स्थौल्य भी अन्त्य और आपेक्षिकके भेदसे दो प्रकारका होता है। तीनसौ तेतालीस राजू प्रमाण जो लोकरूप महास्कन्ध है उसमे अन्त्य स्थौल्य है क्योकि इससे बडा दूसरा स्कन्ध नही है। और बेर, आमला तथा बेल आदिमे अपेक्षाकृत होनेसे आपेक्षिक स्थौल्य है।

संस्थान—सस्थान आकृतिको कहते है। इसके इत्थलक्षण और अनित्थलक्षणके भेदसे दो भेद हैं। जिसका लम्बा, चौकोर तथा गोल आदि आकार शब्दोके द्वारा कहा जाय वह इत्थलक्षण सस्थान है और जो शब्दो द्वारा नही कहा जाय वह अनित्थलक्षण सस्थान है, जैसे मेघ आदिका आकार।

भेद—सघटित स्कन्धके बिखरनेको भेद कहते है। इसके ६ भेद हैं-१ उत्कर, २ चूर्ण, ३ खण्ड, ४ चूर्णिका, ५ प्रतर और ६ अणुचटन। करोत-के द्वारा लकडी आदिका चीरा जाना उत्कर कहलाता है। जौ तथा गेंहू आदिका जो आटा है उसे चूर्ण कहते हैं। घट आदिके जो टुकड़े हो जाते है उन्हे खण्ड कहते हैं। उडद तथा मूंग आदि की जो चुनी है उसे चूर्णिका कहते हैं। मेघपटल आदि की तहको प्रतर कहते हैं और सतप्त लोहको घनोके द्वारा पीटे जानेपर जो आगके कण निकलते है उन्हे अणु-चटन कहते हैं।

तम—दृष्टिको रोकनेवाला जो प्रकाशका आवरण है उसे तम कहते हैं। इसके तारतम्य लिये हुए अनेक भेद है।

छाया—प्रकाशके आवरणसे जो परछाई पडती है उसे छाया कहते है। इसके तद्वर्णा और अतद्वर्णा ये दो भेद हैं। जिसमे पदार्थका रूप उसी वर्णके साथ प्रतिबिम्बित हो उसे तद्वर्णा कहते हैं जैसे कि दर्पणमे मयूरादि

का प्रतिबिम्ब उसी वर्णका पडता है और जिसमे मात्र आकृति पडती है उसे अतद्वर्णा कहते है, जैसे धूप अथवा चादनीमे मनुष्य की छाया पडती है।

आतप—सूर्यके प्रकाशको आतप कहते हैं। यह मूलमे शीत तथा प्रभामे उष्ण होता है। यह आतप, सूर्यके विमानमे स्थित बादर पृथिवी-कायिक जीवोके शरीर से उत्पन्न होता है।

उद्योत—चन्द्रमा, मणि तथा खद्योत आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं ॥६॥

आगे पुद्गलद्रव्यके भेद कहते हैं—

अणुस्कन्धविभेदेन पुद्गला द्विविधा मताः।
तत्राणुर्भेदशून्यः स्यात् षोढा स्कन्धस्तु भिद्यते ॥७॥
बादराबादराः बादराश्च बादरसूक्ष्मकाः।
सूक्ष्मस्थूलाश्च सूक्ष्माश्च सूक्ष्मसूक्ष्माश्च ते मताः ॥८॥

आर्या

पृथिवीसलिलच्छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मसंघाताः।
द्व्यणुकश्च तत्त्वविज्ञैस्तदुदाहरणानि बोध्यानि ॥९॥

अर्थ—अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गल दो प्रकारके माने गये हैं। उनमेसे अणु भेदरहित है परन्तु स्कन्ध छह प्रकारका होता है ॥७॥ बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म। पृथिवी, जल, छाया, चक्षुरिन्द्रिय को छोडकर शेष चार इन्द्रियोके विषय, कर्म-समूह, और द्व्युक ये उन छह भेदोके उदाहरण तत्त्वज्ञ मनुष्योको जानना चाहिये।

भावार्थ—जो स्कन्ध पृथक् करनेपर पृथक् हो जावें परन्तु मिलानेपर पुन मिल न सकें उन्हे बादरबादर कहते हैं, जैसे पृथिवी। जो स्कन्ध पृथक् करनेपर पृथक् हो जावें और मिलानेसे पुन मिल जावें उन्हे बादर कहते हैं, जैसे जल। जो स्कन्ध नेत्रोसे दिखाई देते हैं परन्तु ग्रहण करनेमे नही आते उन्हे बादर-सूक्ष्म कहते हैं, जैसे छाया, आतप आदि। जो स्कन्ध, नेत्रोसे नही दिखाई देते परन्तु अन्य इन्द्रियसे जाने जाते हैं उन्हे सूक्ष्म-बादर कहते हैं, जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द। जो घात-प्रतिघातसे रहित हो उन्हें सूक्ष्म कहते हैं, जैसे—ज्ञानावरणादिकर्मोंका समूह। और दो परमाणुओंके सयोगसे निर्मित द्व्यणुकस्कन्ध सूक्ष्मसूक्ष्म कहलाता है। इससे सूक्ष्म दूसरा

स्कन्ध नही होता है। जिन आचार्योने ये छह भेद पुद्गलसामान्यके कहे हैं उन्होने सूक्ष्मसूक्ष्मका दृष्टान्त परमाणुको माना है।

अन्यत्र पुद्गलद्रव्यके स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणु ये चार भेद भी कहे गये है।[1] सर्वांशमे पूर्ण पुद्गलको स्कन्ध कहते है। उसके आधे भागको देश, और देशके आधे को प्रदेश तथा अविभागी अणुको परमाणु कहते हैं ॥८-९॥

आगे परमाणुका स्वरूप कहते है—

स्कन्धानां खलु सर्वेषां योऽन्त्यो भेदबहिःस्थितः।
परमाणु. स विज्ञेयो द्वितीयांशविवर्जितः ॥१०॥
आदेशमात्रमूर्त्तोऽयं स्वयं वै शब्दवर्जितः।
परिणामगुणो धातुचतुष्कस्यादिकारणम् ॥११॥
नित्यो नानवकाशश्च सावकाशोऽपि नैव च।
भेत्ता प्रदेशतः स्कन्धानां कर्ता कालभेदकः ॥१२॥
वर्णगन्धरसैकाढ्यो द्विस्पर्शोऽशब्दकारणम्।
विज्ञेयः स्कन्धतो भिन्नः परमाणुः स पुद्गल ॥१३॥

अर्थ—निश्चयसे जो सब स्कन्धोका अन्तिम रूप है अर्थात् स्कन्ध सज्ञा समाप्त होनेपर जिसकी उत्पत्ति होती है, जो भेदसे रहित है अर्थात् जिसके अन्य भेद नही किये जा सकते और जो द्वितीय अंशसे रहित है उसे परमाणु जानना चाहिये ॥१०॥ यह परमाणु विवक्षामात्रसे मूर्तिक है अर्थात् मूर्तिक पुद्गल द्रव्यका सबसे छोटा अश होनेके कारण मूर्तिक है वैसे इन्द्रियोके द्वारा ग्रहणमे नही आता है। स्वय शब्दसे रहित है। परिणमनशील है अर्थात् अगुरुलघुगुणके कारण अविभागी प्रतिच्छेदोकी हानि-वृद्धिरूप परिणमन करने वाला है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन धातुओकी उत्पत्तिका आदि कारण है अर्थात् अनेक अणुओके मेलसे ही इनकी उत्पत्ति होती है। द्रव्यस्वभावकी अपेक्षा नित्य है अर्थात् अणुसे छोटी अवस्थारूप परिणमन करने वाला नही है। अपनी अवगाहनामे अनेक अणुओको अवकाश देनेवाला है अत अनवकाश नही है अर्थात् सावकाश है। द्वितीयादि अशोसे रहित है अत सावकाश भी नही है। पृथक्-पृथक् प्रदेश रूप विखर जानेके कारण स्कन्धोका भेद करने वाला है अर्थात् उनकी स्कन्ध संज्ञाको दूर करने वाला है। अनेक अणु

---

१ खध सयलसमत्थ तस्स य अद्ध भणति देसो त्ति।
अद्धद्ध च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ॥—जीवकाण्ड गा० ६०४।

मिलकर स्कन्धरूप हो जाते हैं इसलिये स्कन्धोका कर्ता है। कालद्रव्यका भेद करने वाला है अर्थात् मन्दगतिसे चलने वाला परमाणु जितने समयमे आकाशके एक प्रदेशसे चलकर दूसरे प्रदेशपर पहुँचता है उसे कालद्रव्य-की समय नामक पर्याय कहते हैं। इस समयनामक पर्यायका परिज्ञान अणुके द्वारा होता है, इस विवक्षासे अणु कालका भेद करने वाला है। एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध तथा दो स्पर्शो (स्निग्ध-रूक्षमेसे एक तथा शीत, उष्णमेसे एक) से सहित है। शब्दका कारण नही है अर्थात् अणुसे शब्दकी उत्पत्ति नही होती। जब अनेक अणु मिल कर स्कन्ध बन जाते हैं तभी शब्दकी उत्पत्ति होती है अणुसे नही। वह परमाणुरूप पुद्गल, स्कन्धसंज्ञासे बहिर्भूत है ॥११-१३॥

आगे स्कन्ध और अणुओकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है, यह कहते है—

सघातात्परमाणूनां भेदात्तदुभयादपि ।
जायन्ते पुद्गलस्कन्धा, भेदादेवाणवस्तथा ॥१४॥
लोचनगोचरस्कन्धा भेदसंघातहेतुतः ।
उत्पद्यन्ते, क्रमस्तस्य सघातस्याद्य लक्ष्यते ॥१५॥
स्निग्धत्वं चापि रूक्षत्वं सघातस्यादिकारणम् ।
एकादयस्त्वनन्तान्ताः स्निग्धरूक्षगुणा मताः ॥१६॥
द्वयधिकादिगुणानां तु बन्धोऽन्योन्यं समिष्यते ।
न जघन्यगुणानां तु बन्धो भवति कुत्रचित् ॥१७॥
सति बन्धेऽधिका हीन स्निग्धेतरगुणैर्युताः ।
अणव स्वस्वरूपेण नर्तयन्ति परं सदा ॥१८॥

अर्थ—परमाणुओंके सघात, भेद और सघात, भेद—दोनोंसे पुद्गल स्कन्ध उत्पन्न होते हैं परन्तु अणुओकी उत्पत्ति मात्र भेदसे ही होती है ॥१४॥ चाक्षुष स्कन्ध भेद तथा सघातसे होते हैं मात्र भेदसे नही। अब सघात होनेका क्रम कहा जाता है ॥१५॥ स्निग्धता और रूक्षता ही सघातका प्रमुख कारण है। ये स्निग्ध और रूक्षगुण अविभाग प्रति-च्छेदोकी अपेक्षा एकसे लेकर अनन्त तक माने गये हैं अर्थात् अणुओमे रहने वाले स्निग्ध और रूक्षगुणोमे एकसे लेकर अनन्त तक अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं। अगुरुलघुगुणके निमित्तसे उन अविभागप्रतिच्छेदोमे

अनन्तभागवृद्धि षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि होती रहती है ॥१५-१६॥ दो अधिक अविभाग प्रतिच्छेद वाले परमाणुओका बन्ध परस्पर माना गया है। जघन्य गुणवाले परमाणुओका बन्ध कही नही होता है। अर्थात् जिन परमाणुओमे हानिका क्रम चलनेपर स्निग्धता और रूक्षता-का एक ही अविभाग प्रतिच्छेद रह गया है उन परमाणुओका बन्ध तब तक नही होता जबतक वृद्धिका क्रम जारी होनेपर एकसे अधिक नही हो जाते।

भावार्थ—यह बन्ध, दो अधिक गुणवाले परमाणुओका होता है जैसे एक परमाणुमे स्निग्धता या रूक्षताके दो अविभागप्रतिच्छेद है और दूसरे परमाणुओमे चार है तो उनका बन्ध हो जावेगा। हीनाधिक रहने-पर नही होगा। परमाणुओका यह बन्ध स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष तथा स्निग्ध और रूक्ष—दोनोका होता है तथा समधारा अर्थात् दो चार, छह आठ आदि पूर्णसख्यक गुणवाले परमाणुओका और विषम धारा अर्थात् तीन पाँच, सात नौ आदि ऊनसख्यक गुणवाले परमाणुओ-का भी होता है। एक गुणवाले परमाणुका तीन गुणवाले परमाणुके साथ बन्ध नही होगा, क्योकि तीन गुण वाले परमाणुमे बन्धकी योग्यता होने-पर भी एक गुणवाले परमाणुमे बन्धकी योग्यता नही है ॥१७॥ बन्ध होनेपर स्निग्धता और रूक्षतासे युक्त अधिक गुणवाले परमाणु, हीनगुण वाले दूसरे परमाणुको सदा अपने रूप परिणमा लेते हैं ॥१८॥

आगे पुद्गलद्रव्यके प्रदेशोका परिमाण तथा उपकारका वर्णन करते हैं—

आर्या

संख्यातासंख्यातानन्तानन्तप्रदेशसयुक्ताः ।
पुद्गलाः सन्ति लोके विततः सर्वत्र सर्वदेत्युक्तम् ॥१९॥
शरीरवाङ्मनःप्राणापानदुःखसुखानि च ।
जीवनं मरणं चापि पुद्गलानामुपग्रहा· ॥२०॥

अर्थ—सख्यात, असख्यात तथा अनन्तानन्त प्रदेशोसे युक्त पुद्गल, लोकमे सब स्थानोपर सदा व्याप्त हैं, ऐसा कहा गया है। भावार्थ—पुद्गलद्रव्यके ये प्रदेश स्कन्धोकी अपेक्षा है। जो स्कन्ध छोटा या बडा जैसा होता है उसमे उसी प्रकारके प्रदेश होते हैं। सबसे छोटा स्कन्ध द्व्यणुक अर्थात् दो प्रदेश वाला है और सबसे बडा स्कन्ध लोकस्कन्ध है, जिसमे अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं ॥१९॥ शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्-

वास, दुःख, सुख, जीवन और मरण, ये सब जीवके प्रति पुद्गलोके उपकार हैं। अर्थात् जीवके शरीर आदिकी रचना पुद्गलद्रव्यके कार्य हैं। इसी प्रकार जीवके सुख, दुःख, जीवन और मरण भी पुद्गलके सयोगसे होते हैं ॥२०॥

आगे धर्म और अधर्म द्रव्यका वर्णन करते है—

तरतां जलजन्तूनां तरणे सलिलं यथा।
चरतां पादचाराणां सचरे सचरो यथा ॥२०॥
जीवानां पुद्गलानाञ्च चलतां स्वेच्छया किल।
साहाय्यकारकः प्रोक्तो धर्मो धर्मधनेश्वरैः ॥२२॥
अध्वगानां यथा वृक्षः शीतलच्छायशोभितः।
स्थितौ सहायको यः स्यात्पुद्गलानां च जीवताम् ॥२३॥
अधर्मः स च सप्रोक्तः शास्त्राकूपारपारगैः।
व्याप्तमेतद्द्वय लोके दधनीह घृत यथा ॥२४॥
असख्येयप्रदेशाढ्यममूर्तमनुपद्रवम् ।
गतिस्थित्युपकारेण सयुतं सार्वकालिकम् ॥२५॥
लोकालोकव्यवस्थानकारक जिनभाषितम्।
धर्माधर्मद्वय ह्येतदेकमेक विराजते ॥२६॥

अर्थ—जिस प्रकार जल-जन्तुओ—मछली आदिके तैरनेमे जल तथा मार्गमे चलने वाले पादचारी जीवोके चलनेमे मार्ग सहायक होता है उसी प्रकार स्वेच्छासे चलने वाले जीव और पुद्गलोके चलनेमे जो सहायता करता है उसे धर्मरूपी धनके धारक गणधरोने धर्मद्रव्य कहा है ॥ २१-२२॥

जिस प्रकार पथिकोको ठहरनेमे शीतल छायासे युक्त वृक्ष सहायक होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोके ठहरनेमे जो सहायक होता है उसे शास्त्ररूपी समुद्रके पारगामी आचार्योंने अधर्मद्रव्य कहा है। ये दोनो ही द्रव्य, दहीमे घीके समान समस्त लोकमे व्याप्त हैं। असख्यात प्रदेशोसे सहित हैं, अमूर्तिक हैं, अविनाशी हैं, क्रमसे गति और स्थितिरूप उपकारसे सहित हैं, सदा विद्यमान रहते हैं, लोक-अलोककी व्यवस्था

करने वाले हैं, वीतराग-सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रतिपादित है और गिनतीमे एक-एक है।

भावार्थ—वैशेषिक दर्शनमे धर्म-अधर्म द्रव्यकी सत्ता स्वतन्त्र न मानकर उनका कार्य आकाशद्रव्यसे लिया गया है परन्तु यह मान्यता ठीक नही है क्योकि गति और स्थितिका कार्य यदि आकाशसे होता है तो आकाश, अलोकाकाशमे भी है। वहाँ भी जीव और पुद्गल चले जावेंगे, अत अलोकका विभाग समाप्त हो जावेगा ॥२३–२६॥

आगे आकाशद्रव्यका स्वरूप कहते है—

शालिनी

आकाशन्ते यत्र जीवादिभावा
निर्बाधं वै सन्ततं सन्ततास्ते।
आकाशं तज्ज्ञेयमाद्यन्तशून्यं
रूपस्वादस्पर्शगन्धप्रहीणम् ॥२७॥
अद्वितीयमनाकारमखण्ड बहुदूरगम्।
गगनं द्विविधं प्रोक्तं लोकालोकप्रभेदतः ॥२८॥
लोक्यन्ते यत्र जीवादिद्रव्याणि निखिलान्यपि।
लोकाकाशं हि तज्ज्ञेयमसख्येयप्रदेशकम् ॥२९॥
यत्रान्तरीक्षमेवास्ते सर्वतो बहुविस्तृतम्।
अलोकव्योम संप्रोक्त तदनन्तप्रदेशकम् ॥३०॥
लोकाम्बरस्य सप्रोक्तोऽवगाहः स उपग्रहः।
अलोकगगनस्याप्यवगाहो जिनसम्मत ॥३१॥

अर्थ—जहाँ जीवादि पदार्थ सुविस्तृत हो निर्बाध रूपसे निरन्तर स्थित रहते है उसे आकाश जानना चाहिये। यह आकाश आदि अन्तसे शून्य है तथा रूप रस गन्ध और स्पर्शसे रहित है ॥२७॥ गिनतीमें एक, अमूर्तिक, अखण्ड और लोक-अलोकमे व्याप्त है। लोक-अलोकके भेदसे आकाश दो प्रकारका कहा गया है ॥२८॥ जहाँ तक जीवादिक समस्त द्रव्य देखे जाते हैं उसे असख्यातप्रदेशी लोकाकाश जानना चाहिये ॥२९॥ और जहाँ सब ओर अत्यन्त विस्तृत आकाश ही आकाश है उसे अनन्तप्रदेशी अलोकाकाश कहा गया है ॥३०॥ लोकाकाशका

उपकार सब द्रव्योको अवगाह देना है। यह अवगाहरूप उपकार अलोकाकाशका भी जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। भावार्थ—यद्यपि अलोकाकाशमे अवगाहन करने वाले द्रव्योका अभाव है तथापि अवगाहन देनेकी शक्ति विद्यमान होनेसे उसका अवगाह उपकार माना गया है ॥३१॥

अब कालद्रव्यका वर्णन करते हैं—

वर्तनालक्षणो नूनमणुमात्रकलेवर ।
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थित ॥३२॥
उच्यते निश्चयः कालो ह्यमूर्त शाश्वतस्तथा ।
घट्यादिभेदभिन्नस्तु व्यवहार. प्रगीयते ॥३३॥
वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वके ।
कालस्योपग्रहाः प्रोक्ता मनीषामण्डितैर्नरैः ॥३४॥

अर्थ—निश्चयसे जो वर्तना लक्षणसे सहित है, एक प्रदेशी है, लोकाकाशके प्रदेशोपर रत्नराशिके समान स्थित है, अमूर्तिक है और शाश्वतस्थायी है वह निश्चयकालद्रव्य कहा जाता है। तथा जो घडी, घण्टा आदि भेदसे विभक्त है वह व्यवहारकाल कहा जाता है ॥३२-३३॥ बुद्धिसे सुशोभित मनुष्योने वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालद्रव्यके उपकार कहे हैं ॥३४॥

आगे द्रव्योकी संख्या और स्वरूप आदिका निरूपण करते हैं—

जीवाश्च पुद्गला धर्मो ह्यधर्मः समयोऽम्बरम् ।
इति द्रव्याणि प्रोक्तानि वीरवासरभूभृता ॥३५॥
अथोत्पादव्ययध्रौव्यसहितं सत्प्रचक्ष्यते ।
द्रव्य यत्सत्तदेव स्यादुक्तमित्थं जिनेन्दुना ॥३६॥

अर्थ—भगवान् महावीररूपी सूर्यने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य कहे हैं। इनमे जीव अनन्त है, पुद्गल उनसे भी अनन्तानन्त हैं, धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक हैं तथा काल असंख्यात हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे जो सहित है वह सत् कहलाता है और जो सत् है वही जिनचन्द्रके द्वारा द्रव्य कहा गया है ॥३५-३६॥

आर्या

अभिनवपरिणामस्योत्पत्तिः परिगीयते समुत्पादः ।
पूर्वपरिणामनाशो व्यय इति च सुसज्ञितः सद्भिः ॥३७॥
पूर्वोत्तरपरिणामद्वन्द्वे युगपद्विवर्तते यच्च ।
तद् ध्रौव्य परिगीतं गीताखिलसारवरतत्त्वैः ॥३८॥

अर्थ—नवीन पर्यायकी उत्पत्ति होना उत्पाद और पूर्व पर्यायका नाश होना व्यय, सत्पुरुषोने कहा है। और जो पूर्व तथा उत्तर पर्यायमे एक साथ रहता है उसे समस्त श्रेष्ठ तत्त्वोका कथन करने वाले गणधरादिकने ध्रौव्य कहा है ॥३७-३८॥

आगे इन्ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके स्वरूपको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

मालिनी

यदपि मनुजभावैः संयुतः कोऽपि जीवो
व्यपगतनरभावः सेन्द्रवृन्देषु जातः ।
अनुभवति स तत्रामन्दसंमोदभार
तदपि न खलु नष्टो नैजजीवत्वभावैः ॥३९॥

उपजाति

हारस्वभावेन भृतः स कश्चिच्
चामीकरो मेखलया प्रजातः ।
नितम्बबिम्बेषु नितम्बिनीनां
विशोभते यद्यपि मन्द्ररावः ॥४०॥
चामीकरत्वेन यथा तथापि
नष्टो न स स्वर्णभरो जगत्याम् ।
तथा समस्तं किल वस्तुजात—
मुत्पादभावादिभृत समस्ति ॥४१॥

[युग्मम्]

अर्थ—जैसे कोई जीव मनुष्यभावसे सहित है वह मनुष्यभावके नष्ट होनेपर देवसमूहमे उत्पन्न होकर वहांके बहुत भारी सुखसमूहका उपभोग करता है तो भी वह अपने जीवत्वभावकी अपेक्षा नष्ट नही हुआ है।

भावार्थ यह है कि यद्यपि देवपर्यायका उत्पाद और मनुष्यपर्यायका व्यय हुआ है तथापि जीवत्वसामान्य, दोनो पर्यायोमे ध्रौव्यरूपसे विद्यमान है ॥३९॥ दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे हारपर्यायसे सहित कोई सुवर्ण मेखला हो गया। अर्थात् हार को मिटाकर किसीने मेखला बनवा ली। वह मेखला यद्यपि गम्भीर शब्द करती हुई स्त्रियोके नितम्ब स्थलोपर सुशोभित होती है तथापि पृथिवीपर जिसप्रकार वह सुवर्ण, सुवर्णत्व सामान्यकी अपेक्षा नष्ट नही हुआ है उसीप्रकार समस्त वस्तुओका समूह उत्पादादि पर्यायोसे सहित है। भावार्थ—हारकी मेखला बनवानेपर यद्यपि हारपर्यायका व्यय और मेखलापर्यायका उत्पाद हुआ है तथापि सुवर्णसामान्य दोनो पर्यायोमे ध्रौव्यसे विद्यमान है।

विशेषार्थ—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनो एक कालमें होते हैं और उनका कथन पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा है। जैन सिद्धान्तमे वस्तुको न तो बौद्धदर्शनके समान सर्वथा क्षणिक ही माना है जिससे उसमे उत्पाद और व्यय होता रहे और न साख्यदर्शनके समान सर्वथा नित्य माना है, जिससे एक ध्रौव्य ही रहे। वस्तु द्रव्य तथा पर्यायरूप है अत उसे जैन सिद्धान्तमे नित्यानित्यरूप स्वीकृत किया गया है। उत्पाद और व्यय, वस्तुके अनित्य अशको ग्रहण करते हैं और ध्रौव्य, नित्य अशको ग्रहण करता है। वस्तुमे रहनेवाले प्रदेशवत्त्वगुणकी अपेक्षा जब विचार होता है तब वस्तुके आकारमे परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इसी परिवर्तनकी अपेक्षा उत्पाद व्ययका व्यवहार होता है। और जब वस्तुमे रहनेवाले अस्तित्वगुणकी अपेक्षा विचार होता है तब ध्रौव्यका व्यवहार होता है ॥३९-४१॥

आगे ये उत्पादादिक समस्त द्रव्योमे प्रतिसमय होते हैं, यह कहते हैं—

समये समये नून सर्वभावेषु जायते।
सर्वत्र युगपल्लोके ह्युद्भूतिप्रभृतित्रयम् ॥४२॥
धर्मेऽधर्मे तथा काले मुक्तजीवविहायसोः।
इतरत्रापि द्रव्येष्वालम्ब्य कालसहायताम् ॥४३॥
उत्पादादित्रय लोके स्यादगुरुलघुत्वतः।
एव न वर्तते कश्चिदुत्पादादित्रयोज्झितः ॥४४॥

अर्थ—जगत्में ये उत्पादादि तीन सर्वत्र समस्त द्रव्योमे प्रत्येक समय एक साथ होते रहते हैं ।।४२।। धर्म, अधर्म, काल, मुक्तजीव और आकाश तथा ससारी जीव और पुद्गल द्रव्यमे काल द्रव्य की सहायता पाकर अगुरुलघुगुणके कारण उत्पादादि तीनो प्रतिसमय होते हैं। इस प्रकार लोकमे ऐसा कोई पदार्थ नही है जो उत्पादादि तीनसे रहित हो। **भावार्थ**—पुद्गल और उससे सहित संसारी जीवद्रव्यमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सरलतासे समझमे आ जाते हैं परन्तु धर्म, अधर्म, काल, मुक्तजीव और आकाश इन अमूर्तिक द्रव्योमे होनेवाला उत्पादादिक सरलतासे बुद्धिमे नही आते। उनके लिये आचार्योंने कहा कि प्रत्येक द्रव्यमे रहनेवाले अगुरुलघुगुणके कारण उनमे प्रत्येक समय जो षड्गुणी हानि-वृद्धि चलती है उसकी अपेक्षा उत्पादादि तीनो सिद्ध होते है। अमूर्तिक द्रव्योके परिणमनका ज्ञान आगमप्रमाणसे होता है ।।४३-४४।।

आगे शङ्का-समाधानके द्वारा अलोकाकाशमे भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका सद्भाव दिखाते हैं—

शंका

कालाभावे कथं तत्स्यान्नन्वलोकविहायसि ।
न कालमन्तरा लोके यस्माद्भावः प्रजायते ।।४५।।
उत्पादादित्रयाभावे द्रव्यत्वं जायते कथम् ।
द्रव्याभावे च शून्यत्वं तस्य केन निवार्यताम् ।४६।।

अर्थ—कोई प्रश्न करता है कि अलोकाकाशमे कालद्रव्यका अभाव होनेपर उत्पादादि कैसे हो सकते है ? क्योकि लोकमे कालकी सहायताके बिना कोई पर्याय होती नही है। उत्पादादित्रिकके बिना अलोकाकाशमे द्रव्यत्व कैसे हो सकता है और द्रव्यत्वके बिना उसकी शून्यता किसके द्वारा रोकी जा सकती है ? ।।४५-४६।।

समाधान

नैवं यतो नभोऽखण्डं द्रव्यमेकं विराजते ।
तेनैकांशे परीणामादन्यत्रापि स जायते ।।४७।।
अखण्डवेणुदण्डस्यैकप्रदेशे प्रकम्पनात् ।
प्रकम्पन्ते न किं तस्य सर्वेंऽशाः किल सर्वतः ।।४८।।

अर्थ—ऐसा नही है, क्योंकि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है अत उसके एक देशमे परिणमन होनेसे उसके अन्य प्रदेशोमे भी परिणमन होता है।

जैसे अखण्ड बाँसके एक देशमे कम्पन होनेसे क्या उसके समस्त अश कम्पित नही हो जाते ? अर्थात् अवश्य हो जाते हैं।

भावार्थ—लोकाकाश और अलोकाकाशका भेद होनेपर भी आकाश एक ही अखण्ड द्रव्य है। अत लोकाकाशमे जो कालद्रव्य है उसीकी सहायतासे अलोकाकाशमे भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार अखण्ड बाँसके एक देशमें आघात होनेसे उसके सब प्रदेश कम्पित हो जाते हैं उसीप्रकार लोकाकाशमे कालद्रव्यके सद्भावसे ही अखण्ड अलोकाकाशमे उत्पादादि सिद्ध हो जाते हैं ॥४७-४८

आगे गुणोका लक्षण कहते हैं—

गुणा द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता निर्गुणाश्च मुनीश्वरैः ।
सामान्येतरभेदेन ते पुनर्द्विविधा मता ॥४९॥
अस्तित्वं चापि वस्तुत्वं द्रव्यत्वं प्रमेयता ।
अमूर्तत्वं च मूर्तत्वं चेतनत्वं प्रदेशिता ॥५०॥
चेतनारहितत्वञ्च ह्यगुरुलघुतादयः ।
गुणाः साधारणाः प्रोक्ता निरन्ता अन्तकान्तकैः ॥५१॥
ज्ञप्तिदृष्टिरसस्पर्शादयोऽसाधारणास्तु ते ।
त एव वस्तुनो वस्तु पृथक् कर्तुं किलेश्वराः ॥५२॥

अर्थ—जो द्रव्यके आश्रय रहे तथा स्वय दूसरे गुणोंसे रहित हो उन्हे मुनिराजोने गुण कहा है। वे गुण, सामान्य और विशेषके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥४९॥ अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अमूर्तत्व, मूर्तत्व, चेतनत्व, प्रदेशवत्त्व, अचेतनत्व और अगुरुलघुत्व आदि अनन्त साधारण गुण, मृत्युको जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे गये हैं।

भावार्थ—जिस गुणके द्वारा वस्तु सत् रूप रहे उसे अस्तित्व गुण कहते हैं। जिसके द्वारा वस्तुमे परस्पर विरोधी अनेक धर्म रहे तथा जिसके निमित्तसे वस्तुमे अर्थक्रियाकारित्व रहे उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। जिससे वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप हो उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। जिसके कारण वस्तु किसी न किसी प्रमाणका विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। जिसके निमित्तसे वस्तु रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित हो उसे अमूर्तत्व गुण कहते हैं। जिसके कारण वस्तु रूप, रस गन्ध और स्पर्शसे सहित हो उसे मूर्तत्व गुण कहते हैं। जिसके कारण वस्तु

ज्ञानदर्शनरूप चेतनासे युक्त हो उसे चेतनत्व गुण कहते है। जिसके निमित्त से वस्तु एक अथवा अनेक प्रदेशोसे सहित हो उसे प्रदेशवत्त्व गुण कहते है। जिसके निमित्तसे वस्तु चैतन्यगुणसे रहित हो अर्थात् ज्ञान-दर्शनसे रहित हो उसे अचेतनत्व कहते है और जिसके निमित्तसे द्रव्यमे षड्गुणी हानि-वृद्धि हो अथवा द्रव्य अपने स्वरूपमे स्थिर रहे, अन्य रूप न हो उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। इनमे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्त्व और अगुरुलघुत्व ये छह गुण सब द्रव्योमे व्याप्त होनेसे साधारण गुण हैं। अमूर्तत्व, जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पांच द्रव्यो मे व्याप्त होनेसे साधारण गुण कहलाता है। मूर्तत्व गुण परमाणुरूप अनन्त पुद्गलद्रव्यमे व्याप्त रहनेसे साधारण गुण है और अचेतनत्व, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालमे व्याप्त रहनेसे साधारण गुण माना गया है ॥५०–५१॥ ज्ञान-दर्शन तथा रस-स्पर्श आदि असाधारण गुण है। ये असाधारण गुण ही वस्तुको अन्य वस्तुसे पृथक् करनेमे समर्थ है।

भावार्थ—चेतनत्व जीवद्रव्यका असाधारण गुण है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसे सहित होना पुद्गलद्रव्यका असाधारण गुण है। जीव तथा पुद्गल द्रव्यके लिए गतिमे सहायक होना धर्मद्रव्यका असाधारण गुण है। जीव और पुद्गलके लिये ठहरनेमे सहायक होना अधर्मद्रव्यका असाधारण गुण है। सब द्रव्योको अवगाह देना आकाशका असाधारण गुण है तथा सब द्रव्योकी अवस्थाओके परिवर्तित होनेमे सहायक होना काल द्रव्यका असाधारण गुण है। इन असाधारण गुणोके द्वारा ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे पृथक् भावको प्राप्त होता है ॥५२॥

आगे पर्यायका लक्षण कहते है—

परिणामाः पुनः प्रोक्ता भावा द्रव्यस्य च क्रमात् ।
जायमाना मनुष्याद्या घटमौलिपटादयः ॥५३॥
तत्रादिवर्जिताः केचित् केचन सादयो मताः ।
इत्याद्यनादिमत्त्वेन पर्याया द्विविधाः स्मृताः ॥५४॥

अर्थ—द्रव्यकी क्रमसे होने वाली अवस्थायो को पर्याय कहते है। जैसे जीवकी मनुष्यादि और पुद्गलकी घट, मुकुट तथा वस्त्र आदि। उन पर्यायोमे कितनी ही पर्यायें अनादि है और कितनी ही सादि मानी गयी हैं। इस प्रकार सादि और अनादिकी अपेक्षा पर्यायें दो प्रकारकी कही गई है।

भावार्थ—मूलमे पर्यायके दो भेद हैं—अर्थ पर्याय और व्यञ्जन-पर्याय। समय-समयमे होने वाली द्रव्यकी सूक्ष्म परिणतिको अर्थपर्याय कहते हैं और अनेक समयमे होनेवाली स्थूल पर्यायको व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। अथवा प्रदेशवत्त्व गुणके कारण द्रव्यकी जो आकृति विशेष होती है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते है और अन्य गुणोका जो परिणमन है उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इन दोनो पर्यायोके स्वभाव और विभावके भेदसे दो-दो भेद होते हैं अर्थात् स्वभाव अर्थपर्याय और विभाव अर्थपर्याय। स्वभाव व्यञ्जनपर्याय और विभाव व्यञ्जनपर्याय। जीव और पुद्गल-को छोडकर शेष चार द्रव्योकी स्वभाव अर्थपर्याय तथा स्वभाव व्यञ्जन पर्याय ही होती है उनमे विभावरूपता कभी नही आती है। परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्यमे दोनो प्रकारकी पर्याय होती है। सिद्ध परमेष्ठीके आत्मप्रदेशोका जो चरम शरीरसे किञ्चित् न्यून पुरुषाकार परिणमन है यह उनकी स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है और ससारी जीवका जो नर-नारकादिरूप परिणमन है यह उनकी विभाव व्यञ्जन पर्याय है। अरहन्त तथा सिद्ध भगवान्के केवलज्ञानादि गुणोमें जो अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा हानिवृद्धि रूप परिणमन होता है वह स्वभाव अर्थपर्याय है और ससारी जीवोंके मतिज्ञानादि गुणोमे जो हानिवृद्धिरूप परिणमन होता है वह विभाव अर्थपर्याय है। इसी प्रकार पुद्गलकी पर्यायोमें भी स्वभाव और विभावका भेद लगा लेना चाहिये ॥५३-५४॥

आगे अस्तिकायका स्वरूप कहते है—

अस्तित्वे सति काया ये काया इव भवन्ति हि।
अस्तिकाया निरूप्यन्ते तेऽखिलज्ञजिनेश्वरैः ॥५५॥
अस्तिकायाः पुनः पञ्च भावा जीवादयो मताः।
कालस्त्वणुस्वरूपत्वान्नास्तिकायः प्रचक्ष्यते ॥५६॥

शंका

एवमेकप्रदेशित्वादणूनामस्तिकायता।
कथं संघटते नाम ब्रूहि मे कृपयाधुना ॥५७॥

समाधान

शक्त्या बहुप्रदेशित्वमणूनामपि वर्तते।
ततो विरुध्यते तेषां न कुत्राप्यस्तिकायता ॥५८॥

इत्यजीवाभिधं तत्त्वं यः श्रद्धत्ते सुधीः सदा।
दृढता तस्य सद्दृष्टेर्भवतीति निरूपितम् ॥५९॥

अर्थ—जो द्रव्य अस्तिरूप रहते हुए काय—शरीरकी तरह बहुप्रदेशी होतेहै वे सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवके द्वारा अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥५५॥ जीवादिक पांच पदार्थ अस्तिकाय माने गये हैं किन्तु काल द्रव्य अणुरूप—एकप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय नही कहलाता है ॥५६॥

शंका

इस तरह एकप्रदेशी होनेसे अणुओमे अस्तिकायपना किस प्रकार घटित होता है ? कृपाकर अब यह कहिये ॥५७॥

समाधान

शक्तिकी अपेक्षा अणुओंमे भी बहुप्रदेशीपना विद्यमान है, इसलिये उनका अस्तिकायपन विरुद्ध नहीं है ॥५८॥ इस प्रकार जो बुद्धिमान् सदा अजीवतत्त्वका श्रद्धान करता है उसके सम्यग्दर्शनकी दृढ़ता होती है ॥५९॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमे अजीवतत्त्वका वर्णन करने वाला पञ्चम मयूख समाप्त हुआ ॥

षष्ठो मयूखः

आगे आस्रवतत्त्वका वर्णन करनेके पूर्व मङ्गलाचरण करते हैं—

सकलसुरेन्द्रसमूहवन्दितो
विशदविबोधविलोकितावनिः ।
धवलयशोभरपूरिताम्बरो
जयति स कोऽपि जिनो जनाधिपः ॥१॥

अर्थ—जो समस्त इन्द्रसमूहके द्वारा वन्दित हैं, निर्मल ज्ञानके द्वारा जिन्होने समस्त पृथिवीको देखा है और शुक्लकीर्ति समूहके द्वारा जिन्होंने आकाशको परिपूर्ण किया है वे अनिर्वचनीय जननायक जिनेन्द्र भगवान् जयवन्त प्रवर्तते हैं ॥१॥

अब आस्रवका लक्षण तथा उसके भेद बताते हैं—

येनास्रवन्ति कर्माणि जलान्यात्मजलाशये ।
आस्रवः स च सम्प्रोक्तो निर्गतास्रवबन्धनैः ॥२॥
कश्चिच्छुभास्रवः कश्चिद् वर्तते ह्यशुभास्रवः ।
शुभोऽशुभो निजो भावः कारण च तयोः क्रमात् ॥३॥
जीवानां सकषायाणामास्रवः साम्परायिकः ।
ईर्यापथश्च विज्ञेयः कषायरहितात्मनाम् ॥४॥
उपशान्तकषायादेर्भवेदीर्यापथास्रवः ।
ततोऽधश्चास्रवः प्रोक्तः साम्परायिकसंज्ञकः ॥५॥
पञ्चेन्द्रियाणि चत्वार कषायाः पञ्चविंशतिः ।
क्रियाणामव्रतानां च पञ्चकं चेति सभिदाः ॥६॥
साम्परायिकसञ्ज्ञस्य ह्यास्रवस्य निरूपिताः ।
ईर्यापथस्तु निर्भेदो भेदातीतै प्रकीर्तित ॥७॥
तीव्रभावात्तथा मन्द-भावतो ज्ञातभावतः ।
अज्ञातभावतो द्रव्यवीर्यस्यापि विशेषतः ॥८॥

विशेषो जायते तस्य भविनामास्रवस्य वै ।
कार्यभेदः कथं न स्याद्धेतुभेदेषु सत्स्वपि ॥९॥

अर्थ—जिसके द्वारा आत्मारूपी सरोवरमे कर्मरूपी जल आता है उसे बन्धसे रहित जिनेन्द्र भगवान्ने आस्रव कहा है ॥२॥ कोई आस्रव शुभास्रव है और कोई अशुभास्रव है अर्थात् आस्रवके शुभ और अशुभके भेदसे दो भेद है और उन दोनों भेदोका कारण क्रमसे आत्माका शुभ अशुभ भाव है ॥३॥ कषायसहित जीवोका आस्रव साम्परायिक और कषायरहित जीवोका ईर्यापथ जानना चाहिये ॥४॥ उपशान्त कषायको आदि लेकर तेरहवें गुणस्थान तक ईर्यापथ आस्रव होता है और उसके नीचे साम्परायिक आस्रव कहा गया है। योग और कषाय—दोनों का अभाव हो जानेसे चौदहवें गुणस्थानमे कोई भी आस्रव नही होता है ॥५॥ पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पच्चीस क्रियाएँ और पाँच अव्रत ये सापरायिक आस्रवके भेद कहे गये है। भेदसे रहित जिनेन्द्र भगवान्ने ईर्यापथ आस्रवको भेदातीत कहा है ॥६-७॥

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, द्रव्य—अधिकरण और वीर्यकी विशेषतासे ससारी जीवोके आस्रवमे विशेषता होती है। ठीक ही है क्योकि कारणभेद होनेपर कार्यभेद क्यो नही होगा ? अवश्य ही होगा ॥८-९॥

अब अधिकरणके दो भेद कहते हैं—

आर्या

जीवाजीवा प्रोक्ता अधिकरणञ्चास्रवस्य तत्राद्यम् ।
संरम्भसमारम्भारम्भैर्योगैस्त्रिभिस्त्रिभिः पुंसाम् ॥१०॥
कृतकारितानुमोदैस्त्रिभि· कषायैश्चतुर्भिराऽगुणितम् ।
अष्टोत्तरशतभेदं सुभृतं गीतं जिनेन्द्रचन्द्रेण ॥११॥

उपजाति

निक्षेपसंयोगनिवर्तनाश्च
पयोधियुग्मद्विकभेदयुक्ताः ।
त्रिधा विभिन्नश्च तथा निसर्ग-
आधार एव प्रमतो द्वितीय ॥१२॥

अर्थ—आस्रवका जो अधिकरण भेद है उसके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरणके भेदसे दो भेद कहे गये है। उनमे पहला जो जीवाधि-

करण आस्रव है उसे जिनचन्द्रने सरम्भ समारम्भ, आरम्भ, मन, वचन, काय ये तीन योग, कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन और क्रोधादि चार कषायोके द्वारा गुणित होनेपर एक सो आठ प्रकारका कहा है ॥१०-११॥ दूसरा जो अजीवाधिकरण आस्रव है उसके चार निक्षेप, दो सयोग, दो निवर्तना और तीन निसर्गके भेदसे ग्यारह भेद कहे गये हैं। भावार्थ—अप्रमृष्ट निक्षेप, दुष्प्रमृष्ट निक्षेप, सहसानिक्षेप और अनाभोग निक्षेप, ये निक्षेपके चार भेद हैं। भक्तपान सयोग और उपकरण संयोग ये सयोगके दो भेद हैं। मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना, ये निर्वर्तनाके दो भेद हैं। और मनोनिसर्ग, वाङ्निसर्ग और कायनिसर्ग ये निसर्गके तीन भेद हैं ॥१२॥

आगे आस्रवके विस्तृत और सक्षेप भेद कहते हैं—

आर्या

पञ्चविधं मिथ्यात्वं द्वादशभेदैर्युता तथाऽविरतिः ।
पञ्चदशभेदभिन्नस्तथा प्रमादस्तथादृशो योगः ॥१३॥
पञ्चविंशति कषायाश्चेति व्यासो निरूपितस्तस्य ।
योगयुतश्च कषायस्तथास्रवस्यायमस्ति संक्षेपः ॥१४॥

अर्थ—पांच प्रकारका मिथ्यात्व, बारह प्रकारकी अविरति, पन्द्रह प्रकारका प्रमाद, पन्द्रह प्रकारका योग, और पच्चीस कषाय, यह उस आस्रवका विस्तार है तथा योग और कषाय, यह उस आस्रवका सक्षेप है ॥१३-१४॥

आगे मिथ्यात्वके पांच भेदोका वर्णन करते हैं—

एकान्तं विपरीतं चाज्ञानं संशयसंयुतम् ।
वैनयिकमिति प्रोक्तं मिथ्यादर्शनपञ्चकम् ॥१५॥
इदमेवेत्थमेवेति धर्मधर्मिविनिश्चयः ।
एकान्ततां समादायैकान्तमिथ्यात्वमिष्यते ॥१६॥
निखिलं नित्यमस्तीदमनित्यं ह्येकमेव वा ।
सर्वो ब्रह्ममयश्चैव लोकस्तत्रेति भावना ॥१७॥
केवली कवलाहारी नारीमोक्षोऽपि जायते ।
एवं विरुद्धविश्वासो विपरीतं तदिष्यते ॥१८॥

हिताहितपरीक्षाया विरहो यत्र वर्तते ।
आज्ञानिकत्वमिथ्यात्वं विगीतं तन्महागमे ॥१९॥
सच्छ्रद्धा बोधचारित्रत्रितयं मोक्षपद्धतिः ।
भवेन्न वेति संशीतिर्जायते यत्र चेतसि ॥२०॥
समीरेरितकल्लोलवत् स्थिर न मनो भवेत् ।
यत्र तत् किल मिथ्यात्वं सांशायिकं समुच्यते ॥२१॥
सर्वे देवास्तथा धर्माः समानाः सौख्यकारकाः ।
रुचिरेवं भवेद्यत्र वैनयिकं भवेत्तु तत् ॥२२॥

अर्थ—एकान्त, विपरीत, अज्ञान, संशय और वैनयिक, ये मिथ्यादर्शनके पांच भेद कहे गये हैं ॥१५॥ 'यह ही है, ऐसा ही है' इस प्रकार एकान्तपनको लेकर धर्म और धर्मीका निश्चय करना एकान्त मिथ्यात्व माना जाता है ॥१६॥ इस मिथ्यात्वमे ऐसी भावना होती है कि 'समस्त वस्तु नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है, एक ही है अथवा अनेक ही है और यह सर्वलोक ब्रह्ममय ही है ॥१७॥ केवली कवलाहारी है और द्रव्य स्त्रीको मोक्ष भी होता है' इस प्रकारका विरुद्ध विश्वास रखना विपरीत मिथ्यात्व माना जाता है। जिस मिथ्यात्वमे हित-अहितकी परीक्षाका अभाव होता है उसे परमागममे अज्ञानमिथ्यात्व कहा है ॥१९॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मोक्षके मार्ग हैं या नही, इस प्रकारका सशय जहाँ चित्तमे होता है तथा वायुसे प्रेरित तरङ्गके समान जहाँ मन स्थिर नही होता है वह साशयिक मिथ्यात्व कहा जाता है ॥२१॥ सब देव और सब धर्म समान हैं तथा सुखके करने वाले हैं ऐसी रुचि जिसमे होती है वह वैनयिक मिथ्यात्व है ॥२०–२२॥

आगे बारह प्रकारकी अविरति कहते हैं—

इलाजलाग्निवातक्ष्माजातजङ्गमजीवताम् ।
हिंसनात् स्रोतसां षण्णां विषयेषु च वर्तनात् ॥२३॥
अविरतिः कषायाणामुदये जायते हि या ।
द्वादशधा समुक्ता साऽविरति. सूरिसचयैः ॥२४॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन छहकायके जीवोकी हिंसा तथा छह इन्द्रियोके विषयोमे प्रवृत्तिसे विरत नही होना,

यह कषायके उदयमे होनेवाली बारह प्रकारकी अविरति आचार्योंने कही है ।।२३-२४।।

अब पन्द्रह प्रकारके प्रमादका वर्णन करते हैं—

चतस्रो विकथाः प्रोक्ताश्चत्वारश्च कषायकाः ।
पञ्चाक्षी प्रणयो निद्रा प्रमादा दश पञ्च च ।।२५।।
नारीणां नृपतीनां च भक्तस्य विषयस्य च ।
रागद्वेषविशिष्टा या. कथास्ता विकथा मताः ।।२६।।
क्रोधो मानस्तथा माया लोभश्चेति कषायका ।
त्वग्जिह्वाघ्राणकर्णाक्षीणीन्द्रियाणि मतानि च ।।२७।।
निद्राकर्मोदयोत्पन्ना नेत्रमीलनकारिणी ।
देहशैथिल्यसयुक्तावस्था निद्रा समुच्यते ।।२८।।
रतिकर्मसमुद्भूता प्रीतिर्जीवस्य या भवेत् ।
सा प्रीतिः प्रणयः स्नेहो हार्दं रागः समुच्यते ।।२९।।

अर्थ—चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं ।।२५।। स्त्रियो, राजाओ, भोजन और देशकी जो रागद्वेष युक्त कथाएँ हैं वे चार विकथाएँ मानी गई है ।।२६।। क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ मानी गई है ।।२७।। निद्रा कर्मके उदयसे उत्पन्न, नेत्रोको निमीलित करने वाली, शरीरकी शैथिल्य युक्त अवस्था निद्रा कहलाती है ।।२८।। रतिकर्मके उदयसे उत्पन्न जीवकी जो प्रीति है वह प्रीति, प्रणय, स्नेह, हार्द अथवा राग कहलाती है ।।२९।।

अब पच्चीस कषायोका वर्णन करते हैं—

कोपादयश्च हास्याद्याः कषायाः पञ्चविंशति ।
सन्तीत्थं निगदन्तीह गाहितग्रन्थसिन्धुभिः ।।३०।।
सामान्यतो भवेदैक्य कषायानवधानयोः ।
नानात्व तत्र पश्यन्ति प्रपञ्चाञ्चितचक्षुष ।।३१।।

अर्थ—क्रोधादिक सोलह और हास्यादिक नौ—दोनो मिलकर पच्चीस कषाय हैं ऐसा शास्त्ररूपी समुद्रमे अवगाहन करने वाले-ज्ञानी जन कहते है।

भावार्थ—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन इन चारके क्रोध मान माया और लोभकी अपेक्षा चार-चार भेद होते हैं अतः कषायके सोलह भेद हुए। तथा हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद ये नोकषायके भेद है। दोनो मिलकर कषायके पच्चीस भेद होते है ॥३०॥

सामान्यसे कषाय और प्रमादमे एकरूपता है परन्तु विस्तारकी रुचि रखनेवाले नानारूपताको देखते हैं ॥३१॥

आगे योगके पन्द्रह भेद कहते हैं—

चत्वारश्चेतसो योगाश्चत्वारो वचसस्तथा।
काययोगाश्च सप्तैते योगा. पञ्चदश स्मृताः ॥३२॥

अर्थ—सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, इस प्रकार मनोयोगके चार भेद हैं। सत्यवचनयोग, असत्य वचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचन योग, इस प्रकार वचनयोगके चार भेद है। और औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारक-मिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग, ये काययोगके सात भेद है। सब मिलकर योगके पन्द्रह भेद है ॥३२॥

आगे गुणस्थानोकी अपेक्षा आस्रवके भेदोका वर्णन करते है—

तत्रादिमे गुणस्थाने सन्त्येतान्यखिलान्यपि।
चतुर्थान्तेषु विद्यन्तेऽविरतिप्रभृतीनि च ॥३३॥
प्रमादादीनि षष्ठान्ते सूक्ष्मान्तेषु च धामसु।
कषाययोगौ विद्येते शान्तमोहादिधामसु ॥३४॥
योगमात्रमयोगे तु नास्ति बन्धस्य कारणम्।
एव सामान्यतो भेदा ह्यास्रवस्य निरूपिताः ॥३५॥

अर्थ—आस्रवके उपर्युक्त भेदोमेसे प्रथम गुणस्थानमे सभी भेद हैं। अविरति आदि चतुर्थ गुणस्थान तक है, प्रमादादि, छठवें गुणस्थान तक है, सूक्ष्मसाम्पराय तक कषाय और योग दो भेद है, उपशान्तमोह आदि-मे योग मात्र है और अयोगकेवलीके बन्धका कारण सर्वथा नही हैं। इस प्रकार सामान्यसे आस्रवके भेद कहे गये हैं ॥३३-३५॥

अब विशेषरूपसे ज्ञानावरणकर्मके आस्रव कहते हैं—

प्रदोषनिह्नवासादनोपघातान्तरायकाः ।
ईर्ष्या च बोधविषये साभिप्रायं विनिर्मिता ॥३६॥
अकालाध्ययनश्रद्धाऽभावोपाध्यायशत्रुता ।
अभ्यासानवधानत्वं श्रवणानादरस्तथा ॥३७॥
तीर्थरोधो बहुज्ञत्वगर्वो मिथ्योपदेशनम् ।
विदुषाञ्च तिरस्कारः प्रलापोत्सूत्रभाषणे ॥३८॥
लोकोत्तरश्च पाण्डित्यमात्मपक्षपरिग्रहे ।
आत्मपक्षपरित्यागाबद्ध शास्त्रस्य विक्रिया ॥३९॥
साध्यपूर्वकबोधाधिगमप्राणातिपातने ।
इत्यादयश्च विज्ञेया आस्रवा बोधवैरिणः ॥४०॥

अर्थ—ज्ञानके विषयमे किये गये प्रदोष, निह्नव, आसादन, उपघात, अन्तराय, अभिप्रायपूर्वक की गई ईर्ष्या, अकाल अध्ययन, श्रद्धाका अभाव, गुरुजनोंके साथ शत्रुता, अभ्यास करनेमे असावधानी, शास्त्रश्रवणमें अनादर, धर्मप्रवृत्तियोमे वाधा, अपनी बहुज्ञताका अहकार, मिथ्या उपदेश, ज्ञानीजनोका तिरस्कार, निष्प्रयोजन बकवास, शास्त्रविरुद्धभाषण, अपना पक्ष समर्थन करनेमे अत्यधिक पाण्डित्य, अपना मिथ्यापक्ष छोडनेमे अतत्परता, शास्त्रोका खराब करना अथवा शास्त्रविक्रय—शास्त्रोको बेचना, किसी खास वस्तुकी सिद्धिका अभिप्राय रखकर कोई बात बताना और ज्ञानप्राप्तिके उद्देश्यसे प्राणातिपात–जीवघात करना इत्यादि कार्य ज्ञानावरण कर्मके आस्रव जानना चाहिये ॥३६–४०॥

आगे दर्शनावरण कर्मके आस्रव बतलाते हैं—

दर्शने निह्नवासादनोपघातान्तरायकाः ।
प्रदोषो ह्यनुसूया च लोचनोत्पाटनं तथा ॥४१॥
इन्द्रियप्रत्यनीकत्वमायतं शयनं पुन ।
दिवास्वापस्तथालस्यं नास्तिक्यस्य परिग्रह ॥४२॥
स्वदृष्टेर्गौरव सम्यग्दृष्टेः सदूषणं तथा ।
कुतीर्थानां प्रशसा च प्राणानां व्यपरोपणम् ॥४३॥

जुगुप्सा साधुसंघस्येत्यादयो दर्शनावृते. ।
आस्रवा गदिताः सम्यग्ज्ञानरत्नाकरैर्जिनैः ॥४४॥

अर्थ—दर्शनके विषयमे किये गये, निह्नव, आसादन, उपघात, अन्तराय, प्रदोष, अनुसूया, नेत्रोका उत्पाटन, इन्द्रियोकी शत्रुता–नाश, दीर्घकाल तक शयन, दिनमे सोना, आलस्य, नास्तिकताको स्वीकृत करना, अपनी दृष्टिका गर्व करना, सम्यग्दृष्टिको दूषण लगाना, मिथ्या धर्मोकी प्रशसा करना, प्राणाघात और साधुसमूहकी निन्दा करना इत्यादि कार्य, सम्यग्ज्ञानके सागर जिनेन्द्र भगवान्ने दर्शनावरणकर्मके आस्रव कहे है ॥४१–४४॥

आगे असद्वेद्यके आस्रव कहते है—

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम् ।
आत्मेतरोभयस्थानं प्रयोगोऽह्यशुभस्य च ॥४५॥
परनिन्दातिपैशुन्यानुकम्पाविरहाः पुनः ।
परेषां परितापश्च तदङ्गोपाङ्गसन्ततेः ॥४६॥
छेदनं भेदनं किञ्च ताडनं त्रासन तथा ।
तर्जन भर्त्सनं तक्षणं विशंसनबन्धनम् ॥४७॥
रोधनं मर्दनं चापि दमनं वाहनं तथा ।
ह्लेपणं हेडनं कायरौक्ष्यञ्चात्मप्रशंसनम् ॥४८॥
संक्लेशस्य समुत्पादो विदया सत्त्वघातनम् ।
महारम्भो महाग्रन्थो विस्रम्भस्योपघातता ॥४९॥
मायाविशीलतापापजीवित्वानर्थदण्डनम् ।
विषस्य मिश्रणं पाशपञ्जरोपायसर्जनम् ॥५०॥
तथाचलाभियोगश्चेत्यादयो भुवि विश्रुताः ।
ज्ञेया अशुभवेद्यस्य ह्यास्रवा बहुदुःखका ॥५१॥

अर्थ—निज और परके विषयमे किये गये दु.ख, शोक, वध, ताप, क्रन्दन, परिदेवन, अशुभप्रयोग, परनिन्दा, अतिपैशुन्य, अनुकम्पाका अभाव, दूसरोको सन्ताप उत्पन्न करना, उनके अङ्गोपाङ्गोका छेदना भेदना, ताडना, त्रास करना, तर्जना, तिरस्कृत करना, छीलना, घात

करना, बन्धन करना, रोकना, मर्दन करना, दमन करना, वाहन करना, लज्जित करना, अनादृत करना, शरीरको रूक्ष करना, अपनी प्रशंसा, सक्लेशकी उत्पत्ति, निर्दयता, जीवघात, बडे-बडे आरम्भ, अत्यधिक परिग्रह, विश्वासघात, मायाचारी, पापपूर्ण व्यापार, अनर्थदण्ड, विष मिलाना, जाल तथा पिंजडा आदिके उपाय बताना और उपयोगकी चपलता आदि जगत् प्रसिद्ध, बहुदुःखदायक असद्वेद्यके आस्रव जानना चाहिये ।।४४-५१।।

आगे सद्वेद्यके आस्रव दिखाते हैं—

भूतव्रत्यनुकम्पा च दानं वै रागिसंयमः ।
सयमासंयमोऽकामनिर्जरा बालसंयमः ।।५२।।
एषां योगस्तथा क्षान्तिः शौचं वृद्धतपस्विनाम् ।
वैयावृत्त्य नमस्या च भूरिभक्तिभृताऽर्हताम् ।।५३।।
आर्जवो विनयश्चेत्यादयः सद्वेद्यकर्मणः ।
आस्रवा गुरुभिर्गीता भवसौख्यनिबन्धनाः ।।५४।।

अर्थ—संसारके समस्त प्राणी तथा व्रती जनोंपर अनुकम्पा, दान, सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालसंयम (बालतप) इन सबका योग तथा क्षान्ति, शौच, वृद्ध तपस्वियोकी सेवा, अरहन्तोकी भक्तिपूर्ण पूजा, आर्जव और विनय इत्यादि सद्वेद्यके आस्रव, गुरुजनोने कहे हैं । ये आस्रव सासारिक सुखको प्राप्त करानेवाले हैं ।।५२-५४।।

अब दर्शनमोहके आस्रव कहते हैं—

केवलिश्रुतसङ्घानां धर्मनाकनिवासिनाम् ।
अवर्णवाद इत्युक्ता दर्शनमोहनास्रवाः ।।५५।।
अन्तःकालुष्यदोषेण ह्यसद्भूतमलस्य च ।
उद्भावनं भवेद्वक्रोऽवर्णवादः खलप्रियः ।।५६।।

अर्थ—केवली, श्रुत, सङ्घ, धर्म और देव, इनका अवर्णवाद करना दर्शनमोहके आस्रव हैं ।।५५।। अन्तरङ्गकी कलुषताके कारण दूसरेके अविद्यमान दोषको प्रकट करना अवर्णवाद है । यह अवर्णवाद, कुटिल तथा दुष्टजनोको प्रिय होता है ।।५६।।

आगे कषायवेदनीयके आस्रव कहते हैं—

लोकानुग्रहतन्त्राणां सच्छ्रद्धाभावितात्मनाम् ।
तपस्विनां विनिन्दा च धर्मविध्वसनं तथा ॥५७॥
एकदेशव्रताधारशीलादिगुणशालिनाम् ।
व्रतात्प्रच्यावनं मद्यमांसमाक्षिक मोचिनाम् ॥५८॥
मनोविभ्रमकारित्व वृत्तसंदूषणं तथा ।
संक्लिष्टलिङ्गवृत्तादिधारणं स्वपरात्मनाम् ॥५९॥
कषायोत्पादनं चैते संसारारण्यवारिदाः ।
कषायवेदनीयस्य ह्यास्रवा विनिरूपिताः ॥६०॥

अर्थ—लोकोपकारमे तत्पर तथा समीचीन श्रद्धासे युक्त तपस्वियोकी निन्दा करना, धर्मका विध्वस करना, एकदेशव्रतके धारक तथा शीलादि गुणोसे सुशोभित पुरुषोको व्रतसे च्युत करना, मद्य मास मधुके त्यागी पुरुषोके मनमे व्यामोह उत्पन्न करना, चारित्रमे दूषण लगाना, सक्लेशको बढाने वाला वेष तथा कुचारित्रको धारण करना, और निज तथा परको कषाय उत्पन्न करना, ये सब ससार रूपी वनको हराभरा रखनेके लिये मेघ स्वरूप, कषायवेदनीयके आस्रव कहे गये है ॥५७–६०॥

अब अकषायवेदनीयके आस्रव कहते है—

उत्प्रहासोऽथ दीनानामभिहासित्वसंयुतः ।
मारोपहसनं भूरिप्रलापश्चापहासिता ॥६१॥
इति प्ररूपिता हास्य-वेदनीयस्य चास्रवाः ।
विचित्रक्रीडनोद्योगः परावर्जनशीलता ॥६२॥
रत्याख्यवेदनीयस्य हेतवो जिनदर्शिताः ।
परेषामरतिप्रादुर्भावनं रतिनाशनम् ॥६३॥
पापात्मजनससर्गः पापकार्यप्रवर्तनम् ।
प्रोत्साहो दुष्टकार्याणमकार्यकरणे रति ॥६४॥
अरतेर्नोकषायस्य हेतवो भवहेतवः ।
स्वकीयमोदसंगर्व. परदुःखविधायनम् ॥६५॥

परशोके समानन्दः शोकमोहस्य कारणम् ।
आत्मनो हि भयावेशः परस्य भयहेतुता ॥६६॥
भयमोहस्य मूलानि भाषितानि महर्षिभिः ।
कृशादिक्लिन्नजीवानां जुगुप्सागर्हणादयः ॥६७॥
जुगुप्सावेदनीयस्य ह्यास्रवाः समुदीरिताः ।
प्रवृष्टक्रोधभावस्य परिणामोऽतिमानिता ॥६८॥
ईर्ष्याव्यापारमिथ्याभिधायिता बहुमायिता ।
परस्त्रीसङ्गसंप्रीतिर्वामाभावानुरूपिता ॥६९॥
भूरिरागश्च विज्ञेया वामावेदस्य हेतवः ।
ऋजुत्वं चाल्पकोपित्वमनहंकारवृत्तिता ॥७०॥
अलोभत्वाङ्गनासङ्गमन्दरागसुशीलताः ।
अनीर्ष्यित्वं बहुस्नानगन्धमालाद्युपेक्षिता ॥७१॥
एते ह्येतादृशश्चान्ये मारव्यथनहेतवः ।
पुंवेदवेदनीयस्य हेतवो मुनिभाषिताः ॥७२॥
प्रचुरक्रोधमानाद्या गुह्येन्द्रियविघातनम् ।
परस्त्रीरतिनैपुण्यं तीव्रानाचारयुक्तता ॥७३॥
इत्याद्याः क्लीववेदस्य हेतवोऽभिहिता जिनैः ।
इत्थं चारित्रमोहस्य ह्यास्रवा विनिरूपिता ॥७४॥

अर्थ—दीन मनुष्योंकी हँसी उडाना, निरन्तर हास्यसे सयुक्त रहना, कामको उत्तेजित करनेवाले हास्य वचन बोलना, अत्यधिक बकवास करना, और दु ख-दायक हँसी करना, ये सब हास्यवेदनीयके आस्रव हैं। नाना प्रकारकी विचित्र क्रीडाओंमें तत्पर रहना तथा दूसरोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेका स्वभाव होना, रतिनोकषायके आस्रव जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं। दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न करना, उनकी प्रीतिको नष्ट करना, पापी जनोंका ससर्ग करना, पापकार्योंमे प्रवृत्ति करना, दुष्ट कार्य करने वालोंको प्रोत्साहित करना, और न करने योग्य कार्योंमें प्रीति रखना, अरतिनोकषायके हेतु हैं। ये सब हेतु ससारके कारण हैं। अपने हर्षका गर्व करना, दूसरोंको दु ख उत्पन्न करना, और परके शोकमे

आनन्द मानना, शोकवेदनीयके आस्रव है। स्वयं अपने आपको भयभीत रखना तथा दूसरोको भय उत्पन्न करना, भयनोकषायके कारण महर्षियो-के द्वारा कहे गये हैं। रोग आदिसे पीडित जीवोपर ग्लानि तथा उनकी निन्दा आदि करना, जुगुप्सावेदनीयके आस्रव कहे गये है। तीव्र-क्रोधका भाव रखना, अत्यधिक मान करना, ईर्ष्यापूर्ण कार्य करना, मिथ्या भाषण करना, बहुत मायाचार करना, परस्त्रीके समागममे प्रीति करना, स्त्रियों-के समान हावभाव करना, और अत्यधिक राग करना, स्त्रीवेदके कारण है। मन, वचन, कायकी सरलता होना, अल्प क्रोध होना, अहकार नही करना, लोभ नही करना, स्त्रीसमागममे मन्द रागका होना, ईर्ष्यालु नही होना, अधिक स्नान, गन्ध तथा माला आदिमे उपेक्षाभाव होना, ये तथा इनके समान कामपीडाके कारणभूत अन्य कार्य पुवेद नोकषाय-के कारण मुनियोके द्वारा कहे गये है। अधिक क्रोध तथा मान आदि करना, गुह्येन्द्रियका विघात करना, परस्त्रीके साथ रति करनेमे निपुणता होना, और तीव्र अनाचारसे युक्त होना इत्यादि नपुसकवेदके आस्रव जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे गये हैं। इस प्रकार चारित्रमोहके आस्रव कहे गये ॥६१–७४॥

अब नरकायुके आस्रव कहते है—

मिथ्यादर्शनसंश्लिष्टाचारतोत्कृष्टमानता ।
शैलभेदनिभः क्रोधस्तीव्रलोभानुरागिता ॥७५॥
दैन्यं परस्य संतापवधबन्धनभावना ।
अजस्रं जीवसंघातपरिणामप्रवर्तनम् ॥७६॥
अलीकवचनालापः परस्वहरणं तथा ।
अन्यकान्तारतिस्तीव्रमूर्च्छा स्वच्छन्दचारिता ॥७७॥
निरनुग्रहशीलत्व बह्वारम्भपरिग्रहः ।
कृष्णलेश्याभिसजातरौद्रध्यानाभिषङ्गिता ॥७८॥
मृत्युवेलानृशसत्व साधुसिद्धान्तभेदनम् ।
नारकस्यायुष प्रोक्ता इति क्लेशप्रदास्रवाः ॥७९॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन सहित आचारका परिपालन करना, उत्कृष्ट मान रखना, शैलभेदके समान क्रोधका होना, तीव्रलोभमे अनुराग रखना, दीनता करना, दूसरेके सताप, वध और बन्धनकी भावना रखना, निरन्तर

जीवघातके परिणाम करना, असत्य वचन बोलना, परधन हरण करना, परस्त्रीके साथ रति करना, तीव्रमूर्च्छा, स्वच्छन्द प्रवृत्ति, स्वभावसे किसी का उपकार नही करना, बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना, कृष्ण-लेश्यामे होने वाले रौद्र ध्यानमे लीन रहना, मृत्युके समय क्रूरपरिणाम होना, और उत्तम-निर्दोष शास्त्रका खण्डन करना, ये सब, नरकायुके क्लेशदायक आस्रव हैं अर्थात् उपर्युक्त कारणोसे नरकायुका बन्ध होता है ॥७५-७९॥

आगे तिर्यगायुके आस्रव कहते हैं—

मायामिथ्यात्वसंयुक्तकुधर्मस्यातिदेशना ।
अनल्पारम्भसङ्गत्व मुग्धमानववञ्चनम् ॥८०॥
कूटकर्ममहीभेदनिभरोषाग्निदग्धता ।
निःशीलतातिसन्धाने पटुत्वं सन्धिभेदनम् ॥८१॥
अनर्थोद्भावनं वर्णवैपरीत्यविकाशनम् ।
जातेः कुलस्य शीलस्य गर्वः पूज्यव्यतिक्रमः ॥८२॥
सहधर्मविसंवादो मिथ्याजीवित्वमेव च ।
सद्गुणव्यपलापश्चासद्गुणस्थापनं तथा ॥८३॥
नीलकापोतलेश्याभिजातार्तध्यानदूषितम् ।
मरणं चेति विज्ञेयास्तिर्यगायुष आस्रव ॥८४॥

अर्थ—माया और मिथ्यात्वसे सहित कुधर्मका अधिक उपदेश देना, बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहका होना, भोले मनुष्योको ठगना, कूट-कर्म अर्थात् कपटपूर्ण कार्य करना, पृथिवीभेदके समान क्रोधाग्निसे दग्ध रहना, शीलका अभाव, अधिक ठगनेमे निपुणता, सन्धिको तोडना, अर्थ-का अनर्थ करना—विपरीत अर्थ प्रकट करना, किसी वस्तुके वर्ण बदल कर नकलीको असलीका रूप देना, जाति, कुल और शीलका गर्व करना, पूज्यपुरुषोका अपमान करना, सहधर्मा बन्धुओसे विसवाद करना, मिथ्या कर्मोसे जीविका करना, दूसरेके विद्यमान गुणोको मेटना और अपने अविद्यमान गुणोको स्थापित करना, तथा नील और कापोत लेश्यामे होने वाले आर्त्तध्यानसे मरणका दूषित होना ये, सब तिर्यञ्च आयुके आस्रव जानना चाहिये ॥८०-८४॥

अब मनुष्यायुके आस्रव कहते हैं—

प्रकृत्या भद्रता नम्रशीलता मृदुता तथा ।
सुखप्रज्ञापनीयत्वमार्जवोचितमानसम् ॥८५॥
वालुकाराजिसदृक्षकोपस्तथ्यगवेषिता ।
प्रगुणव्यवहारश्च तुच्छारम्भपरिग्रह ॥८६॥
सतोषाभिरतिः प्राण्युपघाताद्विरति. पुनः ।
दुष्टकर्मनिवृत्तत्वं स्वागताद्यभिभाषणम् ॥८७॥
अमौखर्यं निसर्गेण माधुर्यं लोकरञ्जनम् ।
औदासीन्यमनीर्ष्यित्वमल्पसंक्लेशशालिता ॥८८॥
अतिथेः सविभागश्च गुरुदैवतपूजनम् ।
कपोतपीतलेश्याजधर्म्यध्यानसुसंगतम् ॥८९॥
मरणं चेति विज्ञेया मानुषोत्पत्तिहेतवः ।

अर्थ—स्वभावसे भद्रपरिणामी होना, नम्र स्वभावी होना, कोमल परिणामी होना, सुखसे समझाये जानेकी योग्यता, मनका आर्जव, धर्मसे युक्त होना, धूलिरेखाके समान क्रोधका होना, सत्यका अन्वेषी होना, सरल व्यवहार वाला होना, अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहका होना, सतोषमे प्रीति रखना, प्राणिहिंसासे विरत रहना, खोटे कार्योसे दूर रहना, 'स्वागत' आदि शब्दोके द्वारा वार्तालाप करना, कम बोलना, स्वभावसे मधुरता तथा लोकोको अनुरञ्जित करना, उदासीनता, ईर्ष्याका अभाव, अल्प सक्लेशसे युक्त होना, अतिथिको दान देना, गुरु और देवकी पूजा करना, तथा कापोत और पीत लेश्यामे उत्पन्न होनेवाले धर्म्यध्यानके साथ मरण होना, ये मनुष्यायुके आस्रव हैं ॥८५–८९॥

आगे देवायुके आस्रव कहते हैं—

सरागसंयमः किञ्च संयमासंयमोऽपि च ॥९०॥
अकामनिर्जरा बालतपांसि स्वर्गिहेतवः ।
हतशीलव्रतत्व च सम्यक्त्वं चापि नाकिनाम् ॥९१॥
आयुषः कारण प्रोक्त तत्त्वविद्भिर्महर्षिभिः ।

अर्थ—सरागसयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा, और वालतप ये देवायुके कारण हैं। इनके सिवाय नि शीलव्रतत्व और सम्यक्त्व भी देवायु के कारण तत्त्वज्ञ महर्षियोके द्वारा कहे गये है। ९०-९१॥

शंका

नतु सम्यक्त्वमस्तीदमात्मनः प्रमुखो गुणः ॥९२॥
नैष्कर्म्यहेतुतापन्नः शिवप्रासादपद्धतिः ।
कथं संसारहेतुत्वमिह तस्यापि युज्यते ॥९३॥
ध्वान्तारिर्ध्वान्तकर्त्ता स्यादहो तत्त्वविडम्बना ।

प्रश्न—कोई प्रश्न करता है कि यह सम्यक्त्व तो आत्माका प्रमुख गुण है, कर्मरहित अवस्थाकी प्राप्तिका कारण है तथा मोक्षमहलका मार्ग है फिर वह ससारका कारण कैसे हो सकता है ? अन्धकारका शत्रु-सूर्य, अन्धकारका करनेवाला हो, यह तत्त्वकी विडम्बना है ॥९२-९३॥

समाधान

सत्यं, सम्यक्त्वकाले यो रागांशो वर्तते नृणाम् ॥९४॥
स एव देवहेतुः स्यात्सम्यक्त्वं तूपचारतः ।
मुख्याभावे च सत्यर्थे ह्युपचारः प्रवर्तते ॥९५॥
येनांशेनास्य सद्दृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनम् ।
जायते जातुचिन्नैव जगत्यामपि कस्यचित् ॥९६॥
येनांशेनास्य रागांशस्तेनांशेनास्य बन्धनम् ।
जायते सतत पुंसामत्र का नु विडम्बना ॥९७॥

अर्थ—प्रश्न ठीक है, परन्तु सम्यक्त्वके कालमे मनुष्योंके जो रागाश होता है वही देवायुका आस्रव है, सम्यक्त्व तो उपचारसे देवायुका कारण कहा जाता है, क्योंकि मुख्यके अभावमे प्रयोजन रहते हुए उपचार प्रवर्तता है। जिस अशसे इस जीवके सम्पक्त्व है उस अशसे कभी बन्ध नही होता परन्तु जिस अशसे रागाश होता है उस अशसे निरन्तर पुरुषोके बन्ध होता है, इसमे तत्त्वकी क्या विडम्बना है ? अर्थात् कोई नही।

भावार्थ—किन्ही किन्ही आचार्योंने जघन्य रत्नत्रयको बन्धका कारण कहा है परन्तु वैसा कहनेमें उनकी यही विवक्षा है कि जघन्य रत्नत्रयके कालमे जो रागाश होता है वही बन्धका कारण है, रत्नत्रय

नही। जिस प्रकार गर्म घीसे जल जानेके कारण कहा जाता है कि यह घीसे जल गया परन्तु परमार्थसे घी जलनेका कारण नही है घीके साथ सयुक्त अग्नि ही जलनेका कारण है। मात्र साहचर्य सम्बन्धसे घीको जलने का कारण कहा जाता है उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये। बन्धके कारण तो योग और कषाय है। जघन्य रत्नत्रय न योग रूप है और न कषायरूप, फिर इससे बन्ध कैसे हो सकता है? परपदार्थसे भिन्न आत्म-तत्त्वकी श्रद्धा होना सम्यक्त्व है। परपदार्थसे भिन्न ज्ञायकस्वभाव आत्माका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूपमे स्थिर रहना सम्यक्-चारित्र है। इनमे बन्धका कारण है ही क्या? ॥९४-९७॥

आगे अशुभनामकर्मके आस्रव बताते हैं—

विसवादस्तथा योगत्रयाणा कापि वक्रता।
मिथ्यादर्शनपैशुन्यचलचित्तस्वभावताः ॥९८॥
कूटमानतुलादीनां साधनानां विनिर्मितिः।
सुवर्णमणिरत्नानामनुकारो दुराशया ॥९९॥
मिथ्यासाक्ष्यप्रदायित्वं यन्त्रपञ्जरसर्जनम्।
वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावनमेव च ॥१००॥
वस्तुष्वितरवस्तूनां सम्बन्धो बहुमायिता।
अन्यनिन्दा यशोगानमात्मनोऽनृतभाषणम् ॥१०१॥
परवित्तापहारश्च महारम्भपरिग्रहः।
उज्ज्वलवेषरूपाणां मदः कर्कशकीर्तनम् ॥१०२॥
मौखर्याक्रोशसौभाग्योपयोगा भूषणादरः।
वशीकारप्रयोगश्च परकौतुकनिर्मितिः ॥१०३॥
मन्दिरमाल्यधूपादिमोषणं च विडम्बनम्।
उपहासेष्टिकापाकदावपावकयोजनम् ॥१०४॥
प्रतिमायतनादीनां विनाशेष्वभियोगिता।
क्रोधाहंकारमायित्व लोभिता पापकर्मभिः ॥१०५॥
जीविकाया विधानं चेत्यसतो नामकर्मणः।
कारणानि समुक्तानि जिनचन्द्रमसा किल ॥१०६॥

अर्थ—सहधर्मा बन्धुओसे कलह करना, तीनो योगोकी कोई अनिर्वचनीय कुटिलता, मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्तकी चञ्चलताका स्वभाव होना, कमती-बढ़ती मानोन्मान तथा तराजू आदि साधनोका निर्माण करना, ठगनेकी आशासे सुवर्ण, मणि तथा रत्नोका कृत्रिम रूप बनाना, झूठी गवाही देना, यन्त्र तथा पिञ्जरोका बनाना, वर्ण गन्ध रस तथा स्पर्शका परिवर्तन करना, अन्य वस्तुओमे अन्य वस्तुओका मिलाना, अधिक मायाचारी करना, दूसरेकी निन्दा करना, अपना यशोगान करना, मिथ्या भाषण करना, दूसरेके धनका अपहरण करना, अत्यधिक आरभ वाले परिग्रहका रखना, अपने उज्ज्वल वेष तथा रूपका गर्व करना, कठोर वचन बोलना, बकवास करना, गाली आदि कुवचन बोलना, अपने सौभाग्यका प्रकाशन करना, आभूषण धारण करनेमे आदर रखना, वशीकरण मन्त्रका प्रयोग करना, दूसरोको कौतूहल उत्पन्न करना, मदिर की माला तथा धूप आदि सामग्रीका चुराना, किसीकी नकल करना, हँसी उडाना, ईंट पकानेका भट्टा लगवाना, वनमे आग लगाना, प्रतिमाओ के आयतन—मन्दिरोके नष्ट करनेमे तत्पर रहना, क्रोध, अहकार और और मायाचारी करना, तीव्र लोभ करना और पापकार्योंसे आजीविका करना, ये सब अशुभ नामकर्मके आस्रव जिनेन्द्रचन्द्रने कहे हैं ॥९८-१०६॥

आगे शुभनामकर्मके आस्रव कहते हैं—

ऋजुयोगोऽविसवादो धार्मिकाणां विलोकनम् ।
संभ्रमः शुभभावानां धारण भवभीरुता ॥१०७॥
प्रमादवर्जन चेति शुभनामास्रवा मताः ।
भवेद्येषां प्रभावेण गतिजात्यादिसौष्ठवम् ॥१०८॥

अर्थ—योगोकी सरलता, कलहका अभाव, धार्मिक जनोका आदर पूर्वक साक्षात्कार करना, उनके प्रति हर्ष प्रकट करना, अच्छे भावोका धारण करना, ससारसे भयभीत रहना और प्रमादका छोडना ये सब शुभनामकर्मके आस्रव माने गये है। जिनके प्रभावसे उत्तम गति तथा जाति आदिकी प्राप्ति होती है ॥१०७-१०८॥

आगे तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रव कहते हैं—

अथ वच्मि महापुण्यतीर्थकृत्कर्मकारणम् ।
दृष्टिशुद्धिर्विनीतत्व व्रतशीलाव्यतिक्रमः ॥१०९॥

नित्यं ज्ञानोपयोगश्च संवेगः शक्तितस्तपः ।
त्यागः साधुसमाधिश्च वैयावृत्त्यविनिर्मितिः ॥११०॥
अर्हदाचार्यविज्ञेषु भक्तिः प्रवचनेषु च ।
आवश्यकाक्षति सम्यग् जैनधर्मप्रभावनाः ॥१११॥
सधर्मवत्सलत्वं चेत्येताः षोडश भावनाः ।
व्यस्ता वाथ समस्ता वा तीर्थकृन्नामकर्मण. ॥११२॥
छद्मस्थाचिन्त्यमाहात्म्यवरवैभवकारिणः ।
आस्रवा मुनिभिर्गीता लोकाभ्युदयसाधकाः ॥११३॥

अर्थ--दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतानतिचार, नित्य ज्ञानोपयोग, सवेग, शक्तितस्तप, शक्तितस्त्याग, साधुसमाधि, वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, विज्ञ -बहुश्रुतभक्ति, प्रवचन-भक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और सधर्म-वात्सल्य, ये सोलह भावनाएँ पृथक् पृथक् अथवा सब मिलकर छद्मस्थ जीवोके द्वारा अचिन्तनीय माहात्म्यसे युक्त उत्कृष्ट वैभवको करनेवाले तीर्थंकर नामकर्मके आस्रव मुनियोके द्वारा कहे गये हैं। ये भावनाएँ सासारिक अभ्युदयको प्राप्त कराने वाली हैं ॥१०९-११३॥

आगे नीचगोत्रकर्मके आस्रव कहते है—

जातेः कुलस्य रूपस्य बलवित्ततपस्तते : ।
श्रुतप्रभावयोश्चापि मदोऽन्येषामनादरः ॥११४॥
उत्प्रहासोऽयशोगानं धार्मिकजननिन्दनम् ।
परकीर्तेर्विलोपश्च निजासत्कीर्तिकीर्तनम् ॥११५॥
गुरूणां च परीभावो दूषणख्यापनं तथा ।
विहेडनावमाने च भर्त्सनं गुणसादनम् ॥११६॥
अञ्जलिस्तुतिसंत्यागोऽनभिवादनमेव च ।
अन्यदीयगुणद्वेषो निजतुच्छगुणादरः ॥११७॥
निर्हेतुतीर्थनाथाक्षेपश्चेत्यादयः पुनः ।
आस्रवा मुनिभिर्गीता नीचैर्गोत्रस्य कर्मणः ॥११८॥

अर्थ--जाति, कुल, रूप, बल, धन, तप, ज्ञान और प्रभावका मद करना, दूसरोका अनादर, उपहास, अकीर्तिगान, धार्मिकजनोकी निन्दा,

दूसरेकी कीर्तिका लोप, अपनी असत्कीर्तिका कथन, गुरुओका पराभव, दोष-कथन, अनादर, अपमान, भर्त्सन, गुणोका नाश, अञ्जलिबन्धन तथा स्तुतिका त्याग, नमस्कारका अभाव, दूसरोके गुणोसे द्वेष, अपने तुच्छ गुणोका आदर और तीर्थंकर आदिकी अकारण निन्दा, इत्यादि नीचगोत्र कर्मके आस्रव मुनियोके द्वारा कहे गये हैं ॥११४-११८॥

आगे उच्चगोत्रकर्मके आस्रव कहते हैं—

जातिरूपकुलज्ञानतपोवैभवशालिनः ।
आत्मोत्कर्षपरित्याग परनिन्दादिवर्जनम् ॥११९॥
धर्मात्मनां सुसत्कारो वन्दना प्रणतिस्तथा ।
लोकोत्तरगुणैर्युक्तस्याप्यनुत्सिक्तवृत्तिता ॥१२०॥
अहकारात्ययो नीचैर्वृत्तिता सदयात्मता ।
वह्नेर्भस्मावृतस्येव निजमाहात्म्यगोपनम् ॥१२१॥
धर्मसाधनवृन्देषु परमः संभ्रमस्तथा ।
इत्येते ह्यास्रवाः प्रोक्ता उच्चैर्गोत्रस्य कर्मणः ॥१२२॥

अर्थ—जाति रूप कुल ज्ञान तप तथा धन सम्पदासे सुशोभित होनेपर भी अपने आपके उत्कर्षका परित्याग करना, दूसरेकी निन्दा आदिको छोडना, धर्मात्माओका उत्तम सत्कार करना, उन्हे वन्दना तथा प्रणाम करना, लोकोत्तर गुणोसे युक्त होनेपर भी नम्रवृत्ति धारण करना, अहकार नही करना, विनयसे रहना, दयालु होना, भस्मसे छिपी हुए अग्निके समान अपने माहात्म्यको छिपा कर रखना और धर्मात्माओके समूहमे परम हर्षभाव प्रकट करना, ये सब उच्चगोत्रकर्मके आस्रव कहे गये हैं ॥११९-१२२॥

आगे अन्तरायकर्मके आस्रव कहते हैं—

बोधरोधः सुसत्कारोपघातो दानलाभयोः ।
भोगोपभोगवीर्येषु विघ्नौघस्य विनिर्मितिः ॥१२३॥
उत्तमाचारसम्पन्नगुरुचैत्यतपस्विनाम् ।
नमस्योपद्रवो दीनानाथवस्तुविराधनम् ॥१२४॥
परेषां बन्धन रोधो गुह्याङ्गस्य विभेदनम् ।
नासिकाचर्मकर्णौष्ठपिच्छानां कर्तनादिकम् ॥१२५॥

विस्मयो भवसम्पत्तौ याचनात्यागवर्जनम् ।
देवद्रव्यपरिग्राहो धर्मतीर्थविनाशनम् ॥१२६॥
निर्दोषवस्तुसंत्याग परवीर्यापहारणम् ।
निरूपिता जिनैरेते ह्यास्रवा विघ्नकर्मणः ॥१२७॥

अर्थ—दूसरेके ज्ञानमे बाधा करना, सत्कारका विनाश करना, दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यमे विघ्नसमूहका उत्पन्न करना, उत्तम आचारसे सहित गुरु तपस्वी तथा प्रतिमाकी पूजामे विघ्न डालना, दीन तथा अनाथ लोगोकी वस्तुओकी विराधना करना, दूसरोको बन्धनमे डालना, किसी स्थानमे उन्हे रोकना, गुह्य अङ्गोका भेदन करना, नाक, त्वचा, कान, ओठ तथा पूँछका काटना आदि, सासारिक सम्पत्तिमे आश्चर्य करना, याचना त्यागको छोडना अर्थात् याचना करना, देव-द्रव्यको हडपना, धर्मतीर्थका विनाश करना, निर्दोष वस्तुओका त्याग करना और दूसरोके वीर्यका विघात करना, ये सब अन्तरायकर्मके आस्रव जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे है ॥ १२३-१२७॥

आगे सक्षेपसे शुभास्रवका कथन करते है—

जिनपूजाविधानेन विधिवत्पात्रदानतः ।
गुरूणां भक्तितो नित्य शास्त्रस्वाध्यायकर्मणः ॥१२८॥
हिंसादिपञ्चपापानां देशतः सर्वतस्तथा ।
त्यागेन जायते पुंसामास्रवः शुभकर्मणाम् ॥१२९॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे, विधिवत् पात्रदान देनेसे, गुरुओ-की भक्तिसे, नित्य स्वाध्याय करनेसे तथा हिंसादि पाँच पापोका एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग करनेसे पुरुषोके पुण्यकर्मका आस्रव होता है ॥ १२८-१२९॥

आगे भिन्न-भिन्न आस्रव बतलानेकी सार्थकता कहते हैं—

आयुःकर्मान्तरा पुंसां सततं सप्तकर्मणाम् ।
आस्रवो जायते हन्त दुरन्तव्याधिकारणम् ॥१३०॥
कथं तर्हि प्रदोषादेर्ज्ञानरोधादिहेतुता ।
विपाकबन्धवैशिष्ट्यकारणाद्युज्यते हि सा ॥१३१॥

अर्थ—कोई प्रश्न करता है कि जब प्रत्येक समय आयुकर्मको छोड-कर सात कर्मोका अत्यधिक दु खका कारणभूत आस्रव हो रहा है तब प्रदोषादिक ज्ञानावरणादि कर्मोके आस्रव है, यह कैसे बनता है ? इस प्रश्नका उत्तर है कि प्रदोषादिक ज्ञानावरणादि कर्मोके अनुभागबन्ध-मे विशेषताके कारण है, इसलिये सब कर्मोके भिन्न-भिन्न आस्रवोका वर्णन करना सार्थक है।

भावार्थ—जब आयुकर्मका बन्ध होते समय आठो कर्मोका और शेष समय सात कर्मोका बन्ध होता रहता है तब अमुक कार्य अमुक कर्मके बन्धमे कारण है अथवा उसका आस्रव है, यह कथन कैसे सगत होता है, ऐसा प्रश्न उठाकर उसका उत्तर दिया गया है कि जिस समय जिस कर्मके विशेष आस्रव होते हैं उस समय उस कर्मका स्थिति और अनुभाग बन्ध विशेष होता है। शेष कर्मोका साधारण होता है ॥१३०-१३१ ॥

आगे आस्रवकी हेयताका वर्णन करते हैं—

वशस्थ

सरन्ध्रनौकावरपृष्ठशायिनो
जना ब्रुडन्त्येव यथा महाम्बुधौ ।
तथास्रवाऽऽवर्जितचेतसो जना
ध्रुवं ब्रुडन्तीह महाभवाम्बुधौ ॥१३२॥

उपजाति

यथा जनानामशुभास्रवोऽयं
ससारकान्तारनिपातहेतुः ।
निरूपितो वीतमलैर्मुनीन्द्रै-
स्तथास्रवोऽयं गदित शुभोऽपि ॥१३३॥

शुम्भत्कनत्काञ्चननिर्मितोऽपि
विचित्रनानामणिचित्रितोऽपि ।
ब्रूहीह पुंसां निगडो न किं स्याद्
दुःखाय लौहो निगडा यथा वै ॥१३४॥

ततो निरन्तं भवसागरं ये
जनास्तितीर्षन्ति निजोद्यमेन ।
मुञ्चन्तु शीघ्रं द्विविधास्रवं ते
सत्यास्रवे नास्ति हितस्य पन्था ॥१३५॥

अर्थ—जिस प्रकार छिद्र सहित नौकाके उत्तम पृष्ठपर शयन करने वाले मनुष्य नियमसे समुद्रमे डूबते हैं उसी प्रकार आस्रवसे युक्त चित्त-वाले जीव नियमसे इस ससाररूपी महासागरमे डूबते हैं ॥१३२॥ जिस प्रकार यह अशुभास्रव प्राणियोको ससाररूपी अटवीमे पडनेका कारण है उसी प्रकार यह शुभास्रव भी वीतराग मुनियोके द्वारा ससाररूपी अटवी मे पडनेका कारण कहा गया है ॥१३३॥ शोभायमान तथा देदीप्यमान सुवर्णसे निर्मित होकर और नाना प्रकारके मणियोसे चित्रित भी बेड़ी क्या पुरुषोंके लिये लोहकी बेडीके समान निश्चयसे दु खके लिये नही होती ? अर्थात् अवश्य होती है ॥१३४॥ इसलिये जो मनुष्य अपने उद्यम-से अनन्त ससारसागरको पार करना चाहते है वे शीघ्र ही दोनो प्रकार-के आस्रवको छोडे, क्योकि आस्रवके रहते हुए हितका मार्ग प्राप्त नही होता है ॥ भावार्थ—यहाँ मोक्षप्राप्तिमे बाधक होनेसे शुभास्रवको हेय कहा है परन्तु सासारिक सुख-सुविधाकी प्राप्तिमे सहायक होनेसे शुभा-स्रवको कथंचित् उपादेय भी कहा है क्योकि अशुभास्रवके द्वारा नरक और निगोदरूप तिर्यञ्च गतिकी प्राप्ति होती है जहाँ पहुँचनेपर कल्याण-का मार्ग दुर्लभ हो जाता है। शुभास्रवके द्वारा उत्तम मनुष्य तथा देवगति-की प्राप्ति होती है जहाँ पहुँचकर यह जीव सरलतासे सम्यक्त्व आदि गुणोको प्राप्त कर सकता है। पश्चात् कर्मभूमिका मनुष्य हो मोक्षको प्राप्त होता है ॥१३५॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमे आस्रवतत्त्वका वर्णन करनेवाला छठवाँ मयूख समाप्त हुआ।

सप्तमो मयूखः

मङ्गलाचरण

स्रग्धरा छन्द

मोहग्राहावकीर्णं विविधमनसिजव्याधिनागावलीढं
तृष्णाहव्याशराशिक्वथितजनमनोदुःखपानीयपूर्णम् ।
संसाराब्धिं ह्यपारं निजभुजयुगलामन्दवीर्येण तीर्णा
ये तान्नौमि प्रभक्त्या निखिलगुणयुतान् श्रीजिनेन्द्रान-
निन्द्यान् ॥१॥

अर्थ—मोहरूपी मगर-मच्छोसे व्याप्त, नाना प्रकारकी कामबाधा-रूपी सर्पोंसे सहित तथा तृष्णारूपी अग्निके समूहसे खोलते हुए मनुष्योंके मानसिक दुःखरूपी जलसे पूर्ण पाररहित संसार-सागरको जिन्होंने अपने भुजयुगलके बहुत भारी पराक्रमसे पार किया है, मैं समस्त गुणोंसे सहित उन स्तुत्य जिनेन्द्र भगवान्‌की उत्कृष्ट भक्तिसे स्तुति करता हूँ ॥१॥

आगे बन्ध और उसके कारणोका निरूपण करते हैं—

आत्मनः कर्मभिः साकमेकक्षेत्रावगाहनम् ।
नीरक्षीरमिव प्राहुर्बन्धं सत्सूरिसंचयाः ॥२॥
जीवोऽयं सकषायत्वात्कर्मप्रायोग्यपुद्‌गलान् ।
समये समये नूनं निरन्तानाददाति च ॥३॥
पुद्‌गलास्तेऽपि जीवस्य परिणामं निबन्धनम् ।
प्राप्य स्वयं विवर्तन्ते कर्मभावेन सन्ततम् ॥४॥
अर्थोऽयमत्र जीवस्य पुद्‌गलस्यापि विद्यते ।
कापि वैभाविकी शक्तिर्निरन्ता चादिवर्जिता ॥५॥

स्वभावेन विभावेन द्वेधा तस्याः प्रवर्तते ।
जीवपुद्गलयोर्नूनं परिणामश्चिरन्तनः ॥६॥
परिणामो विभावेन तदीयो यस्तु वर्तते ।
जीवपुद्गलयोर्बन्धकारणं स हि गीयते ॥७॥

अर्थ—आत्माका कर्मोंके साथ जो दूध और पानीके समान एकक्षेत्रावगाह है उसे उत्तम आचार्योंके समूह बन्ध कहते हैं ॥२॥ यह जीव कषाय सहित होनेसे कर्मरूप होनेके योग्य अनन्त पुद्गलोको निश्चयसे प्रत्येक समय ग्रहण कर रहा है और वे पुद्गल भी जीवके परिणामरूपी निमित्तकारणको पाकर स्वयं ही सदा कर्मरूप परिणमन करते हैं॥३-४। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गलकी कोई अनादि अनन्त वैभाविकी शक्ति है ॥५॥ जीव और पुद्गलकी उस शक्तिका स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका परिणमन चिरकालसे हो रहा है । जीव और पुद्गलको उस वैभाविकी शक्तिका जो विभाव परिणमन है निश्चयसे वही बन्धका कारण है ।।

भावार्थ—वैभाविकी शक्तिसे जीवमे राग-द्वेषरूप परिणमन करनेकी योग्यता है और कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यमे कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता है। अनादि कालसे जीवका कर्मोके साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे जीवमे रागादिभाव उत्पन्न होते है और रागादि भावोके निमित्तसे कार्मणवर्गणा रूप पुद्गलद्रव्यमे कर्मरूप परिणमन होता है। रागादिक तथा कर्मोंमे यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है। अनादि वस्तुमे कौन पहले और कौन पीछे, इसका निरूपण नही होता है। इसलिये यहाँ यह नही कहा जा सकता है कि पहले रागादिक होते हैं या कर्म पहले होते हैं। उपादान कारणकी अपेक्षा रागादिककी उत्पत्तिका उपादानकारण स्वय आत्मा है और कर्मका उपादानकारण स्वय पुद्गलद्रव्य है क्योकि रागादिरूप परिणमन स्वय आत्माका होता है और कर्मरूप परिणमन स्वय पुद्गलद्रव्यका। परन्तु निमित्तकारणकी अपेक्षा रागादिकका निमित्तकारण चारित्रमोहकी उदयावस्था है और कर्मका निमित्तकारण जीवका रागादिभाव ॥६-७॥

आगे बन्धके भेद कहते है—

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधो गीतः ।
बन्धो बन्धविमुक्तैर्जिनचन्द्रैर्दिव्यबोधधरैः ॥८॥

अर्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धके भेदसे बन्धसे रहित तथा दिव्य ज्ञानके धारक जिनेन्द्र भगवान्‌ने बन्ध चार प्रकारका कहा है ॥८॥

अब प्रकृतिबन्धका लक्षण कहते है—

निसर्गः प्रकृतिः शीलं स्वभावः सहभावता ।
एकार्थका मता ह्येते शब्दाः शब्दसरित्पतौ ॥९॥
यथेक्षोर्मधुरं शील मिचुमर्दस्य तिक्तता ।
आम्लता बीजपूरस्यामलक्याश्च कषायता ॥१०॥
तथा बोधावृतेर्ज्ञेया प्रकृतिर्बोधरोधिता ।
दर्शनावरणस्यापि दर्शनावृतिता मता ॥११॥
सुखासुखप्रदायित्व वेदनीयस्य कर्मणः ।
मत्तता मोहनीयस्य परतन्त्रत्वमायुपः ॥१२॥
नाम्नः शरीरवैचित्र्य गोत्रस्याहीनहीनता ।
विघ्नस्य विघ्नकारित्व शीलं सकीर्तितं बुधैः ॥१३॥

अर्थ—निसर्ग, प्रकृति, शील, स्वभाव और सहभावता ये शब्द, शब्दार्णव—शब्दरूपी सागरमे एकार्थ वाचक माने गये हैं ॥९॥ जिस प्रकार ईखका स्वभाव मधुर, नीमका कडुआपन, बीजपूर-विजौराका खट्टा और आँवलाका कषायला है उसी प्रकार ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आच्छादित करना, दर्शनावरणका स्वभाव दर्शनको रोकना, वेदनीय कर्मका सुख दु ख देना, मोहनीयका मत्त करना, आयुका शरीरमे परतन्त्र करना, नामका शरीरमे विचित्रता-विविधरूपता उत्पन्न करना, गोत्रका उच्च-नीचका व्यवहार उत्पन्न करना और अन्तरायका विघ्न करना स्वभाव, ज्ञानीजनोके द्वारा कहा गया है ॥९-१३॥

आगे प्रकृतिबन्धके भेद और उनके उदाहरण कहते हैं—

आद्योऽष्टधा भवेत्तत्र ज्ञानदर्शनवैरिणोः ।
वेद्यमोहायुषां नाम्नो भेदतो गोत्रविघ्नयोः ॥१४॥

उपजाति

पटप्रतीहारजनासिमद्यकारालयाश्चित्रकराः कुलालः।
कोशाधिपश्चेति भवेद्यथैषां भावस्तथैवाखिलकर्मणाञ्च ॥१५॥

अर्थ—पट (परदा), द्वारपाल, खड्ग, मद्य, कारावास, चित्रकार, कुम्भकार और कोशाध्यक्ष—खजानची, इनका जैसा भाव होता है वैसा ही भाव इन ज्ञानावरणादि कर्मोका होता है ॥१४-१५॥

आगे कर्मोमे घातिया और अघातिया कर्मोंका भेद कहते हैं—

आवरणद्वयं मोहो विघ्नश्चेति चतुष्टयम्।
कर्मणां हि भवेत्तत्र घातिसंज्ञासमन्वितम् ॥१६॥
वेद्यायुर्नामगोत्राणां चतुष्कं कर्मणां तथा।
सिद्धार्थनृपपुत्रेणाघातिनाम्ना प्रकीर्तितम् ॥१७॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिसज्ञासे सहित है ॥१६॥ और वेदनीय आयु नाम तथा गोत्र ये चार कर्म भगवान् महावीर स्वामीके द्वारा अघातिनामसे कहे गये हैं ॥१७॥

आगे घाति और अघाति कर्मोके कार्य कहते है—

दर्शनं केवलज्ञानमनन्त च पराक्रमम्।
सम्यक्त्वं प्रक्षयोद्भूत क्षायोपशमिकांस्तथा ॥१८॥
निघ्नन्ति घातिकर्माणि मत्यादींश्च निरन्तरम्।
घातीन्येव महाशत्रून् ज्ञात्वा शीघ्रं निवर्तय ॥१९॥

अर्थ—घातियाकर्म, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तवीर्य और क्षायिक सम्यक्त्व तथा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक गुणोको निरन्तर घातते है। इसलिये घातियाकर्मोको ही महाशत्रु जानकर शीघ्र ही नष्ट करो ॥१८-१९॥

कर्मोदयसमुद्भूतमोहवर्धितसस्तृतौ ।
आयुः करोति जीवस्यावस्थानं नृहली यथा ॥२०॥

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गगन्धादिसंगतिम् ।
नामानेकविधं कर्म कुरुते निजशक्तितः ॥२१॥
उच्चैर्नीचैर्भवेद् गोत्रं गोत्रकर्मप्रभावतः ।
सन्तानप्रक्रमायातजीवाचारस्तु गोत्रकम् ॥२२॥
ददाचिच्छर्मसभारमसात च कदाचन ।
वेदनीयप्रभावेण नरो वेदयते भवे ॥२३॥

अर्थ—कर्मोदयसे उत्पन्न और मोहसे बढाये हुए संसारमे आयु कर्म जीवके अवस्थानको उस प्रकार करता है जिस प्रकार काठका खोडा मनुष्यका अवस्थान करता है ॥२०॥ अनेक प्रकारका नामकर्म अपनी शक्तिसे जीवका गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग और गन्ध आदिके साथ समागम करता है ॥२१॥ गोत्रकर्मके प्रभावसे इस जीवका उच्च और नीच गोत्र होता है । सन्तानकी परम्परासे आया हुआ जीवका आचरण गोत्र कहलाता है ॥२२॥ वेदनीयकर्मके प्रभावसे यह मनुष्य ससारमे कभी सुख-समूहको और कभी दु ख-समूहका वेदन करता है ॥२३॥

आगे ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्रमका कथन करते है—

अर्थराशिमय दृष्ट्वा पश्चाज्जानाति रोचते ।
ततश्च दर्शनं बोध सम्यक्त्व चात्मनो गुणः ॥२४॥
पूर्वमभ्यर्हितं ज्ञान दर्शन च ततः परम् ।
सम्यक्त्वं च ततो वीर्यं जीवाजीवगत स्मृतम् ॥२५॥
घातित्वे विद्यमानेऽपि घातितुल्य न वर्तते ।
निःशेषशोषणे शक्तिश्चान्तरायस्य कर्मणः ॥२६॥
नामादिमैत्र्यमासाद्य विदधाति निजेप्सितम् ।
विघ्नं ह्यघातिनां मध्ये प्रगीतं तेन सूरिभि ॥२७॥
आयुर्बलेन जीवानां भवस्यावस्थितिर्भवेत् ।
विनिर्दिष्टं ततो नामकर्मायुष्कर्मणः परम् ॥२८॥
भवमाश्रित्य नीचैस्त्वमुच्चैस्त्वं वा प्रजायते ।
नामपूर्वं ततो गोत्र पठित परमागमे ॥२९॥

वेदनीयं समासाद्य मोहभूपालसंगतिम् ।
घातिवद्धन्ति जीवानामनुजीविगुणोच्चयम् ॥३०॥
घातिनां च ततो मध्ये मोहस्यादौ च पठ्यते ।
उक्त एव क्रमो ज्यायानष्टानां कर्मणां ततः ॥३१॥

अर्थ—यह जीव, पदार्थके समूहको पहले सामान्य रूपसे ग्रहण कर पश्चात् विशेष रूपसे जानता है और उसके बाद उसकी श्रद्धा करता है, इसलिये दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व ये आत्माके गुण है ॥२४॥ इनमे ज्ञान पूज्य है अत उसे पहले रखा जाता है। उसके पश्चात् दर्शन और सम्यक्त्वका पाठ किया जाता है। वीर्य, जीव और अजीव दोनोसे सम्बद्ध माना गया है इसलिये उसे सम्यक्त्वके बाद पढा गया है ॥२५॥ अन्तराय कर्ममे यद्यपि घातियापन विद्यमान है तथापि वह घातियाके समान नही है क्योकि उसमे सम्पूर्ण रूपसे गुणोका शोपण करनेकी शक्ति नही है। वह नामादिक कर्मोंकी सहायता प्राप्त कर अपना कार्य करता है इसलिये उसे आचार्योने अघातिया कर्मोके बीचमे पढा है ॥२६-२७॥ आयुके बलसे जीवकी नरकादि पर्यायमे स्थिति होती है इसलिये आयुकर्मके बाद नामकर्मको पढा है ॥२८॥ पर्यायका आश्रय करके ही जीवमें नीच और उच्चपना होता है इसलिये परमागममे नामपूर्वक गोत्रकर्मको पढा गया है अर्थात् पहले नाम और उसके बाद गोत्र ॥२९॥ वेदनीय कर्म यद्यपि अघाति है तथापि वह मोहकर्मरूपी राजाकी सगति प्राप्त कर घातियाके समान जीवके अनुजीवी गुणोके समूहको घातता है इसलिये उसे घातिया कर्मोके बीचमे और मोहनीय कर्मके आदिमे पढा जाता है । इन सब कारणोसे आठ कर्मोका जो क्रम कहा गया है वही श्रेष्ठ है ॥३०-३१॥

आगे ज्ञानावरणादि कर्मोंके उत्तर भेद कहते है—

आर्या

पञ्च नव द्वावष्टाविंशतिपाथोधयो यथाक्रमशः ।
त्र्युत्तरनवतिद्वौं वा पञ्च विभेदा भवन्ति तेषां वै ॥३२॥

अर्थ—उन ज्ञानावरणादि कर्मोके क्रमसे पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानवे, दो और पांच उत्तर भेद निश्चयसे होते है ॥३२॥

आगे ज्ञानावरण कर्मके पाँच भेद कहते हैं—

मतिश्रुतावधिस्वान्तपर्ययकेवलद्रुहः ।
इति पञ्च विभेदाः स्युर्बोधरोधककर्मणः ॥३३॥

अर्थ—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये ज्ञानावरणकर्मके पांच उत्तर भेद हैं। इन सबका अर्थ नामसे ही स्पष्ट है ॥३३॥

आगे दर्शनावरणकर्मके नौ उत्तर भेद कहते हैं—

लोचनालोकनामित्रमनेत्रालोकनाहितम् ।
अवध्यालोकनद्रोही केवलालोकनावृतिः ॥३४॥
स्त्यानगृद्धिस्ततो निद्रा निद्रानिद्रातिगर्हिता ।
प्रचलाप्रचला चापि प्रचला चेति वर्णिताः ॥३५॥
दर्शनावरणस्यैते भेदा नव महागमे ।
स्त्यानगृद्ध्युदये जीवः शेते सूत्थापितोऽपि च ॥३६॥
कुरुतेऽनेककर्माणि जल्पनं विदधाति च ।
निद्रोदयेन जीवोऽय गच्छन् सन् तिष्ठति स्वयम् ॥३७॥
कदाचिद् वसति स्वैरं पतति क्वापि भूतले ।
निद्रानिद्रोदयाधीनो न दृष्टियुगलीं नरः ॥३८॥
समुद्घाटयितुं शक्तो यतमानोऽपि जायते ।
पुमानयं पुनः प्राप्तः प्रचलाप्रचलोदयम् ॥३९॥
लालाया वहनञ्चास्यादङ्गानां च प्रकम्पनम् ।
जल्पन कुरुते रौति स्वैरं हसति जातुचित् ॥४०॥
ईषदुन्मील्य नेत्राणि प्रचलोदयसंगतः ।
नरः स्वपिति सुप्तोऽपि किञ्चित् किञ्चित्प्रबुध्यति ॥४१॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और प्रचला, परमागममे दर्शनावरणके ये नौ भेद कहे गये हैं। इनमे स्त्यानगृद्धिका उदय होनेपर यह जीव उठाये जानेपर भी सोता है, अनेक काम करता

है तथा निरर्थक वचन भी बोलता है। निद्राके उदयसे यह जीव चलता चलता स्वयं खडा हो जाता है, कदाचित् स्वेच्छानुसार बस जाता है और कही पृथिवीपर पड जाता है। निद्रानिद्राके उदयके वशीभूत हुआ मनुष्य प्रयत्न करनेपर भी नेत्रयुगलको खोलनेमे समर्थ नही होता है। प्रचला-प्रचलाके उदयको प्राप्त हुआ यह पुरुष, मुखसे लारका बहना, अङ्गोका प्रकम्पित करना तथा निरर्थक वचन बोलना करता है, कभी रोता है और कभी स्वेच्छासे हँसता है ॥३४-४०॥ प्रचलाकर्मके उदयको प्राप्त हुआ मनुष्य सोता है और सोता हुआ भी कुछ-कुछ जागता रहता है ॥४१॥

आगे वेदनीयकर्मके दो भेद कहते है—

असद्वेद्य च सद्वेद्यमिति वेद्य द्विधा स्मृतम् ।
एक दुःखप्रदं तत्र सुखदं चेतरन्मतम् ॥४२॥

अर्थ—असद्वेद्य और सद्वेद्यके भेदसे वेदनीय कर्म दो प्रकारका माना गया है। उनमेसे एक दु खको देनेवाला है और दूसरा सुखका देनेवाला माना गया है ॥४२॥

अब मोहनीयकर्मके भेद कहते हैं—

कर्मणां जगतीपालो मोहोऽहितविधायकः ।
दृष्टिचारित्रभेदाभ्यां द्वाभ्यां भिन्नोऽभिधीयते ॥४३॥
मिथ्यात्वं चापि सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च ।
इत्थं दर्शनमोहोऽयं त्रिभिर्भेदैर्विभेदितः ॥४४॥
अतत्त्वप्रत्यय पुसामुदये यस्य जायते ।
तन्मिथ्यात्वं भवारण्यवारिदः परिगीयते ॥४५॥
यस्योदयो न सम्यक्त्वं हन्तु शक्नोति सर्वथा ।
सम्यक्त्वं तद्धि विज्ञेय सम्यग्दर्शनदूषकम् ॥४६॥
न मिथ्यात्व न सम्यक्त्वमुदये यस्य सभवेत् ।
सम्यङ्मिथ्यात्वमित्युक्तमुभयाकृतिमत्तु यत् ॥४७॥

अर्थ—अहितकारी मोहकर्म, कर्मोंका राजा कहलाता है। वह दर्शन-मोह और चारित्रमोहके भेदसे दो प्रकारका कहा जाता है ॥४३॥

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व, इस प्रकारके तीन भेदोंसे दर्शनमोह तीन भेदवाला है ॥४४॥ जिसके उदयसे जीवोको अतत्त्व श्रद्धान होता है वह मिथ्यात्व कहलाता है । यह मिथ्यात्व ससाररूपी वनको हराभरा रखनेके लिये मेघ स्वरूप है ॥४५॥ जिसका उदय, सम्यग्दर्शनको घातनेके लिये समर्थ नही होता किन्तु चल, मल, अगाढ आदि दोषोसे उसे दूपित करता है वह सम्यक्त्वप्रकृति है ॥४६॥ जिसके उदयमे न तो मिथ्यात्व ही होता है और न सम्यक्त्व ही होता है किन्तु दोनोकी मिश्रित दशा होती है वह सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति कही गई है ॥४७॥

उपजाति

स वृत्तमोहो द्विविध प्रगीतः
कषायनोपूर्वकषायभेदात् ।
तत्रादिमः षोडशभेदयुक्त-
परो विभिन्नो नवधा समस्ति ॥४८॥
तत्रानन्तानुवन्धी स्यादप्रत्याख्यानरोधकः ।
प्रत्याख्यानसपत्नश्च संज्वलानाभिधानकः ॥४९॥
एकैको भिद्यते तावदत्र भेदचतुष्टये ।
क्रोधो मानो तथा माया लोभश्चेति चतुर्विधम् ॥५०॥
कषायवेदनीयोऽय तेन षोडशभेदवान् ।
त्रयो वेदा रतिर्हास्यजुगुप्साशोकभीतय ॥५१॥
अरतिश्चेति नोपूर्वकषायो नवधा मतः ।
एवं चारित्रमोहोऽय पञ्चविंशतिधा भवेत् ॥५२॥

अर्थ—वह चारित्रमोह, कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीयके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है । उनमे पहला जो कषायवेदनीय है वह सोलह भेदोसे सहित है और दूसरा नोकषायवेदनीय नौ प्रकारका है ॥४८॥ कषायवेदनीय, मुख्यरूपसे अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलनके भेदसे चार प्रकारका है। इन चार भेदोमे प्रत्येक भेद क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे चार प्रकारका है। इस कारण यह कषायवेदनीय सोलह भेदोंसे सहित है। तीन वेद,

रति, हास्य, जुगुप्सा, शोक, भय और अरति, इनके भेदसे नोकषायवेदनीय नौ प्रकारका माना गया है। इस तरह यह चारित्रमोहनीय पच्चीस प्रकारका होता है ॥४९-५२॥

आगे आयुकर्मके चार भेदोका वर्णन करते है—

श्वभ्रतिर्यङ्नरामर्त्यप्रभेदा दायुषो मताः ।
श्वभ्रादिहेतवः पुंसां चतस्रश्चायुषो भिदाः ॥५३॥

अर्थ—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवके भेदसे आयुके चार भेद है। इन आयुओका कारण जो आयुकर्म है उसके नरकायु आदि चार भेद माने गये है ॥५३॥

आगे नामकर्मकी ९३ उत्तरप्रकृतियोका वर्णन करते हैं—

श्वभ्रतिर्यङ्नृदेवेति चतस्रो गतयः स्मृताः ।
देहिदैवानुसारेण श्वभ्रावासादिहेतवः ॥५४॥
एकेन्द्रियादिभेदेन जातय पञ्चधा मताः ।
एकत्वग्राहिका जातिरभेदेन हि देहिनाम् ॥५५॥
शीर्यते तच्छरीर यन्निमिषे निमिषेऽपि च।
औदारिकादिभेदेन पञ्चधा भिद्यते तु तत् ॥५६॥
मानवानां तिरश्चां च गात्रमौदारिक स्मृतम् ।
सुराणां श्वभ्रजानां च वैक्रियिकं प्रचक्ष्यते ॥५७॥
प्रमत्तसयतस्थानवर्तिनां व्रतिनां पुनः ।
आहारक शरीरं हि जायते जातुचित् क्वचित् ॥५८॥
यस्योदयेन तेजः स्याद्देहे किमपि देहिनाम् ।
भवेत्तत्तैजसं नाम सर्वेषां भववर्तिनाम् ॥५९॥
अष्टानां कर्मणां पिण्डः शरीरं कार्मणं मतम् ।
इदमेवास्ति जीवानामाजवजवकारणम् ॥६०॥

अर्थ—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ मानी गई हैं। ये गतियाँ प्राणियोके कर्मानुसार उनके नरकादि निवासके कारण हैं ॥५४॥ एकेन्द्रियादिके भेदसे जातियाँ पाँच प्रकारकी है। प्राणियोमे अभेदसे जो

एकत्वको ग्रहण करनेवाली है उसे जाति कहते हैं ॥५५॥ जो निमेष निमेषमे शीर्ण होता रहता है वह शरीर कहलाता है। वह शरीर औदारिक आदिके भेदसे पाँच प्रकारका है ॥५६॥ मनुष्य और तिर्यञ्चोका औदारिक शरीर माना गया है। देव और नारकियोका वैक्रियिक शरीर कहलाता है ॥५७॥ प्रमत्तसयतगुणस्थानवर्ती मुनियोके क्वचित् कदाचित् आहारक शरीर होता है ॥५८॥ जिसके उदयसे प्राणियोके शरीरपर कोई अनिर्वचनीय तेज होता है वह तैजसशरीर नामकर्म है। यह तैजसशरीर समस्त ससारी जीवोके होता है ॥५९॥ आठो कर्मोंका जो समूह है वह कार्मणशरीर माना गया है। यह कार्मणशरीर ही जीवोके ससारका कारण है ॥६०॥

औदारिकादिकं ज्ञेयमङ्गोपाङ्गस्य कर्मण ।
भेदत्रय शरीराणामङ्गोपाङ्गनिबन्धनम् ॥६१॥
पादद्वन्द्व भुजद्वन्द्व नितम्ब पृष्ठक शिरः ।
उरश्चेति मतान्यष्टावङ्गानीह कलेवरे ॥६२
नासास्यकर्णनेत्रौष्ठरसज्ञाकरभादिकम् ।
विग्रहे भविनां ज्ञेयमुपाङ्गानां कदम्बकम् ॥६३॥
औदारिकादिभेदेन सघातो बन्धन तथा ।
प्रोक्त पञ्चविधं नामकर्म निर्गतकर्मभिः ॥६४॥

अर्थ—अङ्गोपाङ्गनामकर्मके औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गको आदि लेकर तीन भेद है। यह कर्म, शरीरोके अङ्गोपाङ्गका कारण है ॥६१॥ दो पैर, दो भुजा, नितम्ब, पीठ, शिर और वक्षस्थल, ये शरीरमे आठ अङ्ग होते हैं ॥६२॥ नासिका, मुख, कान, नेत्र, ओठ, जीभ और हथेलियोकी दोनो बाहरी कोरको आदि लेकर प्राणियोके शरीरमे उपाङ्गोका समूह जानना चाहिये ॥६३॥ औदारिकबन्धन तथा औदारिकसंघात आदिके भेदसे बन्धन और सघातनामकर्मके पाँच पाँच भेद, कर्मरहित जिनेन्द्र भगवान्ने कहे हैं ॥६४॥

आर्या

समपूर्वं चतुरस्त्र न्यग्रोधः स्वातिकुब्जखर्वाश्च ।
हुण्डाभिसंज्ञितमिति सस्थान षड्विध प्रोक्तम् ॥६५॥

अनुष्टुप्

वज्रर्षभादिनाराचो वज्रनाराच एव च ।
नाराचश्चार्धनाराचः कीलकः पञ्चमस्तथा ॥६६॥
षष्ठ पापात्मभिर्लभ्यो ह्यसंप्राप्तसृपाटिका ।
इत्थं च षड्विधं प्रोक्त सहनन मुनीश्वरै ॥६७॥

अर्थ—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक ये छह प्रकारके सस्थान कहे गये है ॥६५॥ वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसहनन, नाराचसहनन, अर्धनाराचसहनन, कीलकसहनन और असप्राप्तसृपाटिकासहनन, मुनिराजोके द्वारा यह छह प्रकारका सहनन कहा गया है ॥६६-६७॥

कृष्णं नीलं सितं पीतं शोणितं चेति पञ्चधा ।
विभिन्न वर्णनामास्ति वर्णवैचित्र्यकारणम् ॥६८॥
असत्सद्गन्धभेदेन गन्धो द्वेधा विभिद्यते ।
आम्लस्तिक्तः कषायश्च कटुको मधुरस्तथा ॥६९॥
रसो हि पञ्चधा भिन्नो वर्णितो वरसूरिभिः ।
गुरु स्निग्ध तथा रूक्षं कठिन कोमलं लघु ॥७०॥
शीतमुष्णमिति स्पर्शो वर्णितो वसुभेदवान् ।
श्वभ्रतिर्यङ्नरामर्त्यगतीनां किल भेदतः ॥७१॥
गीयतेऽत्र गुणागारैश्चतुर्धा चानुपूर्व्यकम् ।
शस्ताशस्तप्रभेदेन द्विविधा खगतिर्मता ॥७२॥
भेदाश्चतुर्दश ह्येते पिण्डिता जिनभाषिताः ।
अष्टाविंशतिसंख्याकास्तदन्येऽपिण्डसञ्ज्ञिता ॥७३॥
यस्योदयेन निर्माणमङ्गोपाङ्गततेर्भवेत् ।
यथास्थानप्रमाण च तन्निर्माणं प्रकीर्तितम् ॥७४॥

अर्थ—वर्णकी विचित्रताका कारण जो वर्ण नामकर्म है वह कृष्ण, नील, शुक्ल, पीत और रक्तके भेदसे पाँच प्रकारका है ॥६८॥ दुर्गन्ध और सुगन्धके भेदसे गन्ध नामकर्म दो प्रकारका है। खट्टा, चिरपरा, कषायला, कडुआ और मीठाके भेदसे रस नामकर्म, उत्तम आचार्योके द्वारा

पांच प्रकारका कहा गया है। गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, कठिन, कोमल, लघु, शीत और उष्ण इस प्रकार स्पर्शनामकर्म आठ भेदवाला कहा गया है। गुणोंके आगार—महर्षियोंके द्वारा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवके भेदसे आनुपूर्व्य नामकर्म चार प्रकारका कहा जाता है। प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे विहायोगति दो प्रकारकी मानी गई है। गतिको आदि लेकर चौदह पिण्ड प्रकृतियां जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कही गई हैं। इनके अतिरिक्त अट्ठाईस प्रकृतियां अपिण्ड प्रकृतियां हैं। जिनके उदयसे अङ्गोपाङ्ग समूहकी रचना यथास्थान और यथाप्रमाण होती है वह निर्माण नामकर्म कहा गया है ॥६९-७४॥

आर्या

यस्योदयेन देहो न गुरुर्न लघुश्च जायते पुंसाम् ।
सोऽगुरुलघुः प्रगीतः परमागमपाठकैर्मुनिभिः ॥७५॥

ज्ञेयः सतूपघातः पुंसां यस्योदयेन जायन्ते ।
निजगात्रघातनकराण्यङ्गोपाङ्गानि दुष्टानि ॥७६॥

ज्ञेयः स च परघातः पुंसां यस्योदयेन जायन्ते ।
परगात्रबाधनकराण्यङ्गोपाङ्गानि लोकेऽस्मिन् ॥७७॥

यस्योदयेन पुंसामुच्छ्वासो जायते सततम् ।
उच्छ्वासः स हि सूक्तः निखिलागमपारगैर्यतिभिः ॥७८॥

अर्थ—जिसके उदयसे जीवोंका शरीर न गुरु हो और न लघु हो उसे परमागमके पाठी मुनियोंने अगुरुलघु नामकर्म कहा है ॥७५॥ जिसके उदयसे अपने ही शरीरका घात करनेवाले अङ्गोपाङ्ग हों उसे उपघात नामकर्म जानना चाहिये ॥७६॥ जिसके उदयसे दूसरे जीवोंके शरीरका घात करनेवाले अङ्गोपाङ्ग हों उसे इस लोकमें परघात नामकर्म जानना चाहिये ॥७७॥ जिसके उदयसे जीवोंके निरन्तर श्वासोच्छ्वास जारी रहता है उसे समस्त शास्त्रोंके पारगामी मुनियोंने उच्छ्वास नामकर्म कहा है ॥७८॥

आतपात्म भवेद्यस्योदये जीवकलेवरम् ।
आतपः स च विज्ञेय उष्णदीप्त्या समन्वितम् ॥७९॥

इन्द्रवज्रा

उद्योतरूपो ह्युदयेन यस्य
देहो भवेत्प्राणभृतां भवेऽस्मिन् ।
उष्णोनकान्तिर्विनिरूपितोऽसा-
वुद्योतनामा किल कर्मभेदः ॥८०॥
आतपप्रकृतेर्नूनमुदयः संभवेदिह ।
रविबिम्बसमुद्भूतभूमिकायिककायिषु ॥८१॥

आर्या

निजहिमकिरणकलापैरपसारितनिखिललोकसन्तापे ।
कलाधरे खद्योते चोद्योतस्योदयः प्रोक्तः ॥८२॥

अर्थ—जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर आतपस्वरूप होता है तथा उष्ण कान्तिसे सहित होता है उसे आतप नामकर्म जानना चाहिये। **भावार्थ**—आतप नामकर्मके उदयसे इस जीवको ऐसा शरीर प्राप्त होता है जो मूलमे शीतल होता है परन्तु उसकी प्रभा उष्ण होती है ॥७९॥ जिसके उदयसे इस जगत्मे प्राणियोका शरीर उद्योतरूप होता है और उसकी कान्ति उष्णतासे रहित होती है वह उद्योत नामक कर्मका भेद कहा गया है। **भावार्थ**--उद्योत नामकर्मके उदयसे जीवका ऐसा शरीर होता है जिसका मूल और प्रभा—दोनो ही शीतल होते है ॥८०॥ आतप नामकर्मका उदय नियमसे सूर्यबिम्बमे उत्पन्न बादर पृथिवीकायिक जीवोके होता है और उद्योतनामकर्मका उदय, अपनी शीतल किरणोंके समूहसे समस्त लोकके सतापको दूर करनेवाले चन्द्रमाके विमानमे स्थित बादर पृथिवीकायिक जीवो तथा जुगनू आदिके होता है ॥८१-८२॥

उपजाति

जीवस्त्रसस्थावरयोनिषूद्भवेद्
ययोरुदीतेर्वशितां प्रयातवान् ।
जानीहि तन्नामविधेः प्रभेदनं
त्रस तथा स्थावरसंज्ञया युतम् ॥८३॥

आर्या

घातप्रतिघातमय गात्र पुंसां प्रजायते यस्य ।
उदयेन तदभिगदित बादरनामेति भगवद्भिः ॥८४॥

अनुष्टुप्

सूक्ष्म यस्योदये गात्र प्राणिनां किल जायते ।
सूक्ष्मं नाम तदित्याहु सिद्धान्ताम्बुधिपारगाः ॥८५॥
पर्याप्तो हि भवेज्जीव उदये यस्य कर्मणः ।
पर्याप्तनामकर्मेति प्रख्यातं तन्मुनीश्वरैः ॥८६॥
अपर्याप्तो भवेज्जीव उदये यस्य कर्मण ।
भाषित तदपर्याप्तनामकर्म जिनेश्वरैः ॥८७॥
येनैकस्य शरीरस्य ह्येक एव भवेत्प्रभुः ।
प्रत्येक तत्कथयन्ति शरीर नाम सूरय ॥८८॥
साधारणं भवेद् वर्ष्म येन प्राणभृतां भुवि ।
साधारणमिद तत्स्यान्नामकर्मेति भाषितम् ॥८९॥

अर्थ—जिन कर्मोके उदयकी वशीभूतताको प्राप्त हुआ जीव क्रमसे त्रस तथा स्थावर योनिमे उत्पन्न होता है उसे त्रस तथा स्थावर नामकर्मका भेद जानना चाहिये ।

भावार्थ—त्रस नामकर्मके उदयसे जीव, द्वीन्द्रियादिक त्रसोमे उत्पन्न होता है और स्थावर नामकर्मके उदयसे पृथिवीकायिकादिक स्थावर जीवोमे उत्पन्न होता है ॥८३॥ जिस कमके उदयसे इस जीवका शरीर घात-प्रतिघातरूप होता है अर्थात् दूसरेसे रुकनेवाला और दूसरेको रोकने वाला होता है उसे भगवान्‌ने बादर नामकर्म कहा है ॥८४॥ जिस कर्मके उदयसे जीवका शरीर सूक्ष्म होता है अर्थात् न किसीसे रुकता है और न किसीको रोकता है उसे सिद्धान्तरूपी सागरके पारगामी आचार्य सूक्ष्म नामकर्म कहते है ॥८५॥ जिस कर्मके उदयसे जीव पर्याप्त होता है अर्थात् उसकी आहार तथा शरीर आदि सभी पर्याप्तियां पूर्ण होती हैं उसे मुनिराजोने पर्याप्त नामकर्म कहा है ॥८६॥ जिस कर्मके उदयसे जीव अपर्याप्त होता है अर्थात् उसकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नही होती और अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे मरणको प्राप्त होता है उसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने अपर्याप्त नामकर्म कहा है ॥८७॥ जिसके द्वारा एक शरीरका

एक ही जीव स्वामी होता है उसे आचार्य प्रत्येकनामकर्म कहते है ॥८८॥ जिसके द्वारा जगत् मे प्राणियोका शरीर साधारण होता है अर्थात् एक शरीरके अनन्त जीव स्वामी होते है उसे साधारण नामकर्म कहा है ॥८९॥

धातूपधातवो येन भवन्त्यपघने स्थिराः ।
सुस्थिर निगदन्तीह तन्नाम किल कोविदाः ॥९०॥
धातूपधातवो येन भवन्त्यपघनेऽस्थिराः ।
अस्थिरं निगदन्तीह तन्नाम किल कोविदाः ॥९१॥
यस्योदयेन कायस्य कम्रता तच्छुभं मतम् ।
तदन्यदशुभं ज्ञेयमकान्तत्वनिबन्धनम् ॥९२॥

अर्थ—जिसके द्वारा शरीरमे धातु और उपधातु स्थिर होते हैं उसे विद्वज्जन स्थिर नामकर्म कहते है ॥९०॥ जिसके द्वारा शरीरमे धातु और उपधातु अस्थिर रहती है उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं ॥९१॥ जिसके उदयसे शरीरमे सुन्दरता होती है उसे शुभ नाम और उससे भिन्न असुन्दरताका कारण जो कर्म है उसे अशुभ नामकर्म जानना चाहिये ॥९२॥

द्रुतविलम्बित

सुभगनाम जिना निगदन्ति तद्
यदुदयेन जनप्रियता भवेत् ।
असुभगोऽप्यजनप्रियताकरः
प्रगदितो गदितोच्छ्रितशास्त्रकै ॥९३॥

अर्थ—जिसके उदयसे लोकप्रियता हो अर्थात् समस्त जीव अपनेसे प्रीति करते हैं उसे जिनेन्द्र भगवान् सुभगनामकर्म कहते है और जिसके उदयसे लोकप्रियता न हो उसे उत्तम शास्त्रोके व्याख्याता आचार्योंने असुभग--दुर्भग नामकर्म कहा है ॥९३॥

स्वरः संजायते येन वेणुवीणापिकोपमः ।
सुस्वरं तत्तु विज्ञेय तदन्यत् दुःस्वर स्मृतम् ॥९४॥
जायते येन जीवानां प्रभोपेत कलेवरम् ।
आदेय नाम तज्ज्ञेयमनादेयं ततः परम् ॥९५॥

प्रसृता येन कीर्तिः स्याच्चश्चन्ती चन्द्रिका यथा ।
गदन्ति तद्यश कीर्तिनामकर्म गणाधिपाः ॥९६॥
अकीर्तिः प्रसरेद्येन त्रिलोक्यां कज्जलोपमा ।
अयशःकीर्तिनामाहुस्तच्च बोधपयोधयः ॥९७॥
अर्हत्त्वकारणं यत्स्यात्तीर्थकृन्नामकर्म तत् ।
एवञ्च नामभेदाः स्युस्त्र्युत्तरनवतिप्रमाः ॥९८॥

अर्थ—जिसके द्वारा बासुरी, वीणा और कोयलके स्वरके समान मधुर स्वर होता है उसे सुस्वर नामकर्म जानना चाहिये और जिसके द्वारा इससे विपरीत स्वर होता है उसे दु स्वर नामकर्म माना गया है ॥९४॥ जिसके द्वारा जीवका शरीर एक विशिष्ट प्रकारकी प्रभासे सहित होता है उसे आदेय नामकर्म और इससे विपरीतको अनादेय नामकर्म कहते हैं ॥९५॥ जिसके उदयमे इस जीवकी चाँदनीके समान शोभायमान कीर्ति होती है उसे गणधरदेव यशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं ॥९६॥ जिसके उदयसे कज्जलके समान काली अपकीर्ति फैलती है उसे ज्ञानके सागर आचार्य अयश कीर्ति नामकर्म कहते हैं ॥९७॥ और अर्हन्तपदका जो कारण है उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते हैं । इस प्रकार नामकर्मके तेरानवे भेद होते हैं ॥९८॥

आगे गोत्रकर्मके दो भेदोका वर्णन करते हैं—

उच्चैर्गोत्रं तथा नीचैर्गोत्रमित्येव भेदतः ।
द्विविध गोत्रकर्म स्यादुच्चैर्नीचैस्त्वकारणम् ॥९९॥

अर्थ—उच्चगोत्र और नीचगोत्रके भेदसे गोत्रकर्म दो प्रकारका है । यह गोत्रकर्म, जीवके उच्च और नीच व्यवहारका कारण है । तात्पर्य यह है कि उच्चगोत्रके उदयसे यह जीव ऐसे कुलमे उत्पन्न होता है जिसमे मोक्षमार्गका प्रचलन हो और नीचगोत्रके उदयसे ऐसे कुलमे उत्पन्न होता है जिसमे मोक्षमार्गका प्रचलन नही होता है ॥९९॥

अब अन्तरायकर्मके पाँच भेदोका निरूपण करते हैं—

दान लाभश्च भोगश्चोपभोगश्च पराक्रमः ।
एतेषां विघ्नकारित्वादन्तरायोऽस्ति पञ्चधा ॥१००॥

आर्या

सकृदेव भुज्यमाना भोजनताम्बूलपूगदुग्धाद्याः ।
अर्था भोगा उक्ता दधिसर्पिःशर्कराद्याश्च ॥१०१॥
भुक्त्वा ये पुनरर्था भूयोभूयो जनैः प्रभुज्यन्ते ।
उपभोगास्ते गदिता घटपटमुकुटादयो लोके ॥१०२॥

अर्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इनमे विघ्न करनेसे अन्तरायकर्म पाँच प्रकारका है ॥१००॥ एक ही बार भोगमे आनेवाले भोजन, पान, दाल, दूध, दही, घी तथा शक्कर आदि पदार्थ भोग कहे गये हैं और जो एक बार भोगकर बार-बार भोगनेमे आते है, जैसे घट पट तथा मुकुट आदि पदार्थ, वे उपभोग कहे गये हैं ॥१०१-१०२॥

आगे कर्मप्रकृतियोके भेदोका उपसहार करते हुए भेदाभेद विवक्षामे उनके भेदोका निर्धार करते है—

तदेवं चाष्टचत्वारिंशत्सहितं शतं ध्रुवम् ।
सर्वकर्मप्रभेदानां भाषितं जिनशासने ॥१०३॥
नाम्नि वर्णचतुष्के तु गृहीतेऽभेदवार्तया ।
बन्धे तथोदये भेदचतुष्कञ्चैव गृह्यते ॥१०४॥
अविनाभाविनौ देहे संघातो बन्धनं तथा ।
नास्ति तेन तयोर्बन्ध उदयश्चापि वर्ण्यते ॥१०५॥
दृष्टिमोहेऽपि सम्यक्त्वं सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च ।
वर्णिते यतिभूपालैर्बन्धवार्ताबहिःस्थिते ॥१०६॥
एव पञ्च नव द्वन्द्वं षड्विंशतिरपि क्रमात् ।
चत्वारः सप्तषष्टिश्च द्वौ च पञ्च च वर्णिताः ॥१०७॥
प्रभेदास्तत्र बन्धार्हाः प्रभेदाना कदम्बके ।
भेदे द्व्यूनाष्टपञ्चाशच्छतसंख्यासमन्विताः ॥१०८॥
विंशतिश्च शतं चाप्यभेदे वै बन्धसन्मुखाः ।
निगद्यते श्रुतज्ञानपारावारीयपारगैः ॥१०९॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त कर्मप्रकृतियोके उत्तरभेद जिनागममे एक सौ अड़तालीस कहे गये हैं ॥१०३॥ नामकर्ममे वर्णादिके चार भेद, अभेद

विवक्षासे लिए गये हैं इसलिए बन्ध और उदयके प्रकरणमे उनके बीस भेद न लेकर चार ही भेद ग्रहण किये जाते है ॥१०४॥ पाँच वन्धन और पाँच सघात शरीर नामकर्मके अविनाभावी हैं, इसलिए वन्ध और उदयके प्रकरणमे उनका वर्णन नही होता है ॥१०५॥ दर्शनमोहनीयमे भी सम्यक्त्व और सम्यड्मिथ्यात्वप्रकृतिको मुनिराजोने बन्धसे बाह्य वर्णन किया है अर्थात् इन दो प्रकृतियोका बन्ध नही होता है ॥१०६॥ इस प्रकार अभेदविवक्षाको लेकर ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोके समूहमे बन्धयोग्य प्रकृतियाँ क्रमसे पाँच, नौ, दो, छब्बीस, चार, सड़सठ, दो और पाँच कही गई है। श्रुतज्ञानरूपी सागरके पारगामी आचार्योंके द्वारा भेदविवक्षामे एक सौ अडतालीस और अभेदविवक्षामे एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धके योग्य कही जाती हैं ॥१०७-१०९॥

आगे गुणस्थानोमे बन्धकी चर्चा करते हुए कुछ प्रकृतियोके बन्धकी विशेषता बताते हैं—

यस्मिन् कस्मिंश्च सम्यक्त्वे केवलिनोरुपाश्रये ।
भावनाविषयीभूतदृष्टिशुद्धयादिभावनाः ॥११०॥
असयतादिचत्वारो नराः कर्ममहीभवाः ।
तीर्थकृत्प्रकृतेर्बन्धमारभन्ते शुभोदयात् ॥१११॥
आहारकस्य बन्धोः नु प्रमादातीतधामसु ।
मिश्रोनेष्वायुषो बन्धः सप्तमान्तेषु वर्णितः ॥११२॥
प्रकृतीनां तदन्यासां मिथ्यादृष्टयादिभूमिषु ।
बन्धनं च यथायोग्य भणित यतिभूमिपैः ॥११३॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन सम्यक्त्वोमे से जिस किसी सम्यक्त्वके रहते हुए केवली और श्रुतकेवलीके सन्निधानमे जिन्होने दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओका चिन्तवन किया है ऐसे असयत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानवर्ती कर्मभूमिज मनुष्य पुण्योदयसे तीर्थकरप्रकृतिके बन्धका प्रारम्भ करते है ॥११०-१११॥ आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गका बन्ध प्रमादातीत सप्तम और अष्टम-गुणस्थानमे होता है। आयुकर्मका बन्ध मिश्र गुणस्थानको छोडकर पहलेसे सातवें गुणस्थान तक होता है और शेषप्रकृतियोंका बन्ध मिथ्या-

दृष्टि आदि गुणस्थानोमे यथायोग्य होता है, ऐसा मुनिराजोने कहा है ॥११२-११३॥

आगे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोमे बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियोकी सख्या कहते है—

उपजाति

अथो जिनेन्द्रैर्विदिताखिलार्थै-
रनन्तसद्दृष्टियुतैः समुक्ताः ।
कर्मप्रभेदाः किल बन्धहीना
मिथ्यात्वभूम्यादिषु बोधनीयाः ॥११४॥
अष्टद्विक, पञ्च च विंशतिश्च,
नभो दशाम्भोनिधयः षडेकः ।
षडाहताः षडपि च पञ्च षोड-
श योगिनस्त्वेकमितः क्रमेण ॥११५॥

अर्थ—अब इसके बाद समन्त पदार्थोंको जाननेवाले तथा अनन्तदर्शन—केवलदर्शनसे सहित जिनेन्द्र भगवान्‌ने मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोमे क्रमसे सोलह, पच्चीस, शून्य, दश, चार, छह, एक, छत्तीस, पाँच, सोलह और सयोगकेवली गुणस्थानमे एक इस प्रकार बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ कही है ॥११४-११५॥

आगे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे जिन सोलह प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति कही है उनके नाम कहते है—

मिथ्यात्वहुण्डकक्लीबासप्राप्तैकाक्षसञ्ज्ञका ।
सूक्ष्मोऽपर्याप्तकातापौ विकलत्रितय तथा ॥११६॥
श्वभ्रायुः स्थावरः श्वभ्रगतियुग्मं भयप्रदम् ।
साधारण इति प्रोक्ता अबन्ध्याः प्रथमात्परम् ॥११७॥

अर्थ—मिथ्यात्व, हुण्डकसस्थान, नपुसकवेद, असप्राप्तसृपाटिकासहनन, एकेन्द्रियजाति, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, आतप, विकलत्रय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, नरकायु, स्थावर, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और साधारण ये सोलह प्रकृतियाँ प्रथमगुणस्थानके आगे नही

बँधती हैं अर्थात् इनकी प्रथम गुणस्थानमे बन्धव्युच्छित्ति होती है ॥११६-११७॥

अब द्वितीय गुणस्थानमे जिनकी बन्धव्युच्छित्ति होती है उन पच्चीस प्रकृतियोके नाम कहते हैं—

> निद्रानिद्रा तथा स्त्यानं प्रचलाप्रचला पुनः ।
> दुर्भगो दुःस्वरश्चानचतुष्कं मृगजीवितम् ॥११८॥
> नीचैर्गोत्रं तथोद्योतस्तिरश्चां गमनद्विकम ।
> अप्रशस्तं नभोयान चतुष्कं चान्तसंहतेः ॥११९॥
> न्यग्रोधादिकसंस्थानचतुष्कं ललनास्मरः ।
> अनादेयो द्वितीयाया अबन्ध्याः परतो भुवः ॥१२०॥

अर्थ—निद्रानिद्रा, स्त्यानगृद्धि, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तिर्यगायु, नीचगोत्र, उद्योत, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य, अप्रशस्तविहायोगति, अन्तके चार सहनन, न्यग्रोध-परिमण्डल आदि चार सस्थान, स्त्रीवेद और अनादेय ये २५ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थानके आगे अबन्धनीय हैं अर्थात् इनका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है ॥ १८-१२०॥

आगे चतुर्थगुणस्थानमे बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियोके नाम कहते हैं—

> वज्रर्षभश्च नाराचो द्वितीयश्च कषायकः ।
> औदारिक शरीरञ्च तदङ्गोपाङ्गनाम च ॥१२१॥
> मनुष्यायुर्मनुष्याणां गमनद्वितय तथा ।
> एषां तुर्यगुणस्थाने बन्धविच्छेदन भवेत् ॥१२२॥

अर्थ—वज्रर्षभनाराचसहनन, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, औदारिकशरीर, औदारिकशरीराङ्गोपाग, मनुष्यायु, मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्व्य इन दश प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति चतुर्थगुण-स्थानमे होती ॥१२१-१२२॥

आगे पञ्चमगुणस्थानमे बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियाँ कही जाती हैं—

> पञ्चमे च गुणस्थाने प्रत्याख्यानचतुष्टयम् ।
> बन्धाद् व्युच्छिद्यते नूनमित्थमुक्तं मनीषिभिः ॥१२३॥

अथ—पञ्चम गुणस्थानमे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति ज्ञानीजनोने कही है ॥१२३॥

अब षष्ठ गुणस्थानमे बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियाँ कही जाती है—

षष्ठेऽस्थिराशुभासातवेदनीयायशांसि च ।
व्युच्छिद्यन्तेऽरति शोकश्चापि बन्धनदुर्ग्रहात् ॥१२४॥

अर्थ—छठवें गुणस्थानमे अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति, अरति और शोक ये छह प्रकृतियाँ बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती है ॥१२४॥

आगे सप्तम और अष्टम गुणस्थानमे बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियाँ कहते हैं—

अप्रमत्ते गुणस्थाने सुरायुश्छिद्यते पुनः ।
निवृत्तेः प्रथमेऽमृत्यौ निद्रा च प्रचला तथा ॥१२५॥
षष्ठे भागे पुनस्तीर्थनिर्माणे खगतिः शुभा ।
पञ्चेन्द्रियं तथाहारद्वितयं तेजसो द्विकम् ॥१२६॥
समादिचतुरस्रं च सुराणां गमनद्विकम् ।
विक्रियाञ्चशरीरस्य द्वयं वर्णचतुष्टयम् ॥१२७॥
त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरसुस्वराः ।
शुभश्च सुभगश्चापि ह्यादेयोच्छ्वासनामनी ॥१२८॥
परघातोपघातौ च ह्यगुरुलघुकं तथा ।
अन्तिमे च रतिर्भीतिर्जुगुप्सा हसन पुनः ॥१२९॥
व्युच्छिद्यन्ते पुनर्बन्धात् षट्त्रिंशत् कर्मणां भिदा ।
प्रोक्तमित्थं गणाधीशसेवितैर्जिनभूमिपैः ॥१३०॥

अर्थ—अप्रमत्त गुणस्थानमे एक देवायुकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। अपूर्वकरण गुणस्थानके मृत्यु रहित प्रथम भागमे निद्रा और प्रचलाकी, छठवें भागमे तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पञ्चेन्द्रियजाति, आहारकशरीर, आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग, तैजस, कार्मण, समचतुरस्रसस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, वर्णादिचतुष्टय, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक, स्थिर, सुस्वर, शुभ, सुभग, आदेय, श्वासोच्छ्वास, परघात, उपघात और अगुरुलघु इन

तीसकी तथा अन्तिम भागमे रति, भय, जुगुप्सा और हास्य इन चारकी इस प्रकार सब मिलाकर छत्तीस प्रकृतियोकी बन्धव्युच्छित्ति गणधरोंके द्वारा सेवित जिनेन्द्रभगवान्‌ने कही है ॥१२५-१३०॥

आगे नवम गुणस्थानमे बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियाँ कही जाती हैं—

अनिवृत्तौ गुणस्थाने संज्वलनचतुष्टयम् ।
बन्धाद् व्युच्छिद्यते नून मानुजो मीनकेतनः ॥१३१॥

अ ं—अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमे सज्वलनकी चार तथा पुरुषवेद ये पाँच प्रकृतियाँ नियमसे बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती हैं ॥१३१॥

अब दशम गुणस्थानमे बन्धव्युच्छित्तिके योग्य प्रकृतियाँ कहते हैं—

सूक्ष्मान्ते प्रथमं विघ्न उच्चैर्गोत्रं तथा यशः ।
व्युच्छिद्यते तथा बन्धाद् दर्शनस्य चतुष्टयम् ॥१३२॥

अर्थ—ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, उच्चगोत्र और यशस्कीर्ति ये सोलह प्रकृतियाँ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमे बन्धव्युच्छित्तिको प्राप्त होती हैं ॥१३२॥

आगे सयोगकेवलीजिनके बन्धव्युच्छित्तिका वर्णन करते हैं—

सयोगकेवलिजिने सातवेद्यं विभिद्यते ।
बन्धनादन्यतोऽभावो व्युच्छित्तेः संप्रचक्ष्यते ॥१३३॥

अर्थ—सयोगकेवलीजिनके एक सातावेदनीयकी बन्धव्युच्छित्ति होती है। अन्यत्र अर्थात् तृतीय, एकादश, द्वादश और चतुर्दश गुणस्थानोमे बन्धव्युच्छित्तिका अभाव कहा जाता है ॥१३३॥

अब मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोमे बन्धयोग्य प्रकृतियोकी सख्या कहते हैं—

मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने शत सप्तदशोत्तरम् ।
द्वितीये चैकसयुक्तं चत्वारः सप्ततिस्तथा ॥१३४॥
तृतीये हि गुणस्थाने, चतुर्थे सप्तसप्ततिः ।
पञ्चमे सप्तषष्टिश्च त्रिषष्टिः षष्ठधामनि ॥१३५॥
सप्तमे तूनषष्टिश्च द्व्यूनषष्टिस्तथाष्टमे ।
नवमे विंशतिर्द्वे च सूक्ष्मे सप्तदशैव च ॥१३६॥

एकैका च तथैका च शान्तमोहादिधामसु ।
बन्धार्हाः प्रभिदा ज्ञेयाः कर्मणां च त्वयोगिनि ॥१३७॥
अबन्ध एव बोद्धव्यो बन्धकारणसक्षयात् ।
अथो वक्ष्ये ह्यबन्धार्हगणनां गुणधामसु ॥१३८॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ११७, द्वितीय गुणस्थानमे १०१, तृतीय गुणस्थानमे ७४, चतुर्थ गुणस्थानमे ७७, पञ्चम गुणस्थानमे ६७, षष्ठ गुणस्थानमे ६३, सप्तम गुणस्थानमे ५९, अष्टम गुणस्थानमे ५८, नवम गुणस्थानमे २२, दशमगुणस्थानमे १७, एकादश गुणस्थानमे १, द्वादश गुणस्थानमे १ और त्रयोदश गुणस्थानमे १ प्रकृति बन्धके योग्य है। अयोग-केवलीजिनगुणस्थानमे बन्धके कारणोका अभाव होनेसे पूर्ण अबन्ध जानना चाहिये। अर्थात् उनके एक भी प्रकृतिका बन्ध नही होता है। आगे गुणस्थानोमे अबन्धके योग्य प्रकृतियोकी सख्या कहेगे ॥१३४–१३८॥

आद्ये तथा द्वितीये च तिस्रश्चैकोनविंशतिः ।
तृतीयेऽब्ध्यूनपञ्चाशच्छतार्धं सप्तवर्जितम् ॥१३९॥
चतुर्थे, त्र्युत्तरं किञ्च पञ्चमे सप्तसगतम् ।
षष्ठे च सप्तमे सैका षष्टिर्युग्मयुताष्टमे ॥१४०॥
युग्महीन त्रिभिः पूर्णं नवमे दशमे शतम् ।
शतमेकोनविंशत्यधिक शान्तादिषु त्रिषु ॥१४१॥
अन्ते किन्तु गुणस्थाने शत विंशतिसंयुतम् ।
अबन्ध्याः प्रभिदा ह्येताः कीर्तिताः क्रमतो जिनैः ॥१४२॥

अर्थ—प्रथम गुणस्थानमे ३ द्वितीय गुणस्थानमे १९ तृतीय गुणस्थानमे ४६, चतुर्थ गुणस्थानमे ४३, पञ्चममे ५३, षष्ठमे ५७, सप्तममे ६१, अष्टममे ६२, नवममे ९८, दशममे १०३, उपशान्तमोह आदि तीन गुण स्थानोमे ११९ और अन्तिम अर्थात् चतुर्दश गुणस्थानमे १२० प्रकृतियाँ अबन्ध योग्य जिनेन्द्र भगवान्‌ने कही है।

विशेषार्थ—अभेदविवक्षामे बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ कही गई हैं। उनमेसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारकयुगलका बन्ध न होनेसे एक सौ सत्तरह प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। सासादनगुण-स्थानमे, मिथ्यात्वगुणस्थानकी बन्धव्युच्छित्तिकी सोलह प्रकृतियाँ घट

अर्थ—मोहनीयकर्मकी सत्तर कोडाकोडी सागर, नाम और गोत्रकी बीस कोडाकोडी सागर, ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों तथा वेदनीयकर्मकी तीस कोडाकोडी सागर और आयु कर्मकी मात्र तेतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है ॥१४३-१४४॥

आगे उत्तरप्रकृतियोकी उत्कृष्ट स्थिति कहते है—

असद्वेद्यत्रिघातीनां त्रिंशत्सरिद्धीश्वराः ।
कोटीकोटयस्तदर्धं तु सातस्त्रीनरयुग्मयोः ॥१४५॥
सप्ततिर्दृष्टिमोहस्य चत्वारिंशद्यमावृतेः ।
संस्थानसंहतीनां तु विंशतिश्चान्तजातयोः ॥१४६॥
पुनश्च प्रथमं यावद् द्वाभ्यामपगतास्तथा ।
सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणहीनेन्द्रियदेहिनाम् ॥१४७॥
अष्टादशारतेः शोकषण्ढवेदाभिधानयो ।
तिर्यक्तेजोभयश्वभ्रौदारिकगात्रयुग्मयोः ॥१४८॥
वैगूर्विकातपद्वन्द्वनीचैर्गोत्राख्यकर्मणाम् ।
त्रसवर्णागुरूणां च चतुष्कस्यापि कर्मणाम् ॥१४९॥
एकपञ्चेन्द्रियस्थावरनिर्माणाभिसञ्ज्ञिनाम् ।
अस्थिरषट्कदुर्गत्योर्विंशती रतिहासयोः ॥१५०॥
प्रशस्ताकाशयानस्य चोच्चैर्गोत्रनृवेदयोः ।
स्थिरप्रभृतिषट्कस्य वृन्दारकयुगस्य च । १५१॥
कोटीकोटयो दश प्रोक्ताः सागराः स्थितिरुत्तमा ।
सज्ज्ञानचन्द्रिकाचारुपूरचर्चितदिग्भुवा ॥१५२॥

आर्या

आहारकद्विकस्य तीर्थकृतो नामकर्मणश्चापि ।
अन्तःकोटीकोटीसागरसुमिता स्थितिर्ज्ञेया ॥१५३॥

अनुष्टुप्

सुरश्वभ्रायुषोर्ज्ञेया त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः ।
त्रीणि पल्यानि च ज्ञेया मानवतिर्यगायुषोः ॥१५४॥

अर्थ—असातावेदनीय और तीन घातिया कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है। सातावेदनीय, स्त्रीवेद तथा मनुष्यगति, मनुष्य-गत्यानुपूर्व्य इनकी पन्द्रह कोडाकोडी सागर है ॥१४५॥ दर्शनमोहकी सत्तर कोड़ाकोडी सागर और चारित्रमोहकी चालीस कोडाकोडी सागर है। छह सस्थान और छह सहननोमे अन्तके सस्थान और सहननोकी बीस कोडाकोडी सागर है। पश्चात् प्रथम सस्थान और सहनन तक दो दो कोडाकोडी सागर कम होती जाती है। सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, और विकलत्रय जातिकी अठारह कोडाकोडी सागर है। अरति, शोक, नपुसक वेद, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, तैजस शरीर, भय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग, आतप, उद्योत, नीचगोत्र, त्रसादि चार, वर्णादि चार, और अगुरुलघु आदि चार, एकेन्द्रिय जाति, पञ्चेन्द्रिय जाति, स्थावर, निर्माण, अस्थिर आदि छह और अप्रशस्तविहायोगति, इनकी बीस कोडाकोडी सागरकी है। रति, हास, प्रशस्तविहायोगति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिर आदि छह, देवगति और देवगत्यानुपूर्व्य, इनकी दश कोड़ा-कोडी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति, सम्यग्ज्ञानरूपी चाँदनीके सुन्दर पूरसे दिग्दिगन्तको व्याप्त करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌ने कही है ॥१४६–१५२॥ आहारकशरीर, आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग, और तीर्थंकर प्रकृति इनकी अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति जानना चाहिये ॥१५३॥ देवायु और नरकायुकी तेतीस सागर तथा मनुष्यायु और तिर्यञ्च आयुकी तीन पल्य उत्कृष्ट स्थिति जाननेके योग्य है ॥१५४॥

आगे उत्कृष्ट स्थितिवन्धका कारण कहते हैं—

इन्द्रवज्रा

आयुस्त्रयीवर्जितसर्वकर्म-
जालस्थितीनां परमो हि बन्धः ।
उत्कृष्टसंक्लेशयुतैर्भवेद् वै
भावैस्तदन्यैश्च भवेज्जघन्यः ॥१५५॥

अर्थ—तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन तीन शुभ आयु कर्मोंको छोडकर समस्त कर्मसमूहका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्टसक्लेशयुक्त भावोसे और जघन्य स्थितिबन्ध उनसे विपरीत भावोंके द्वारा होता है ॥१५५॥

अब उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामी कहते हैं—

इन्द्रवज्रा

आहारयुग्मं किल तीर्थनाम
देवस्थितिं वा परिमुच्य लोकः ।
सर्वस्थितीनां वरबन्धकर्ता
मिथ्यादृगेवायमहो समुक्तः ॥१५६॥

अर्थ—आहारकशरीर, आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग, तीर्थंकर प्रकृति और देवायुको छोड़कर शेष समस्त कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करनेवाला आश्चर्य है कि मिथ्यादृष्टि जीव ही कहा गया है ॥१५६॥

आगे इसी उत्कृष्ट स्थितिबन्धकी विशेषता बतलाते हैं—

उपजाति

यतिः प्रमत्तस्त्रिदशस्थितिं स
आहारयुग्मं च हतप्रमादः ।
तीर्थं मनुष्योऽविरतः सुदृष्टि-
र्बध्नाति तीव्रस्थितिसगतं तम् ॥१५७॥

अर्थ—देवायुका उत्कृष्टस्थितिबन्ध प्रमत्तसयत—छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि और आहारकयुगलका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अप्रमत्तसयत अर्थात् सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि करते हैं। तीर्थंकर प्रकृतिका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य करता है ॥१५७॥

आगे शेष कर्मप्रकृतियोंका बन्ध करनेवाले मिथ्यादृष्टिकी विशेषता बताते हैं—

इन्द्रवज्रा

देवेतरायुर्विकलत्रय वा
सूक्ष्मत्रय वैक्रियिकाख्यषट्कम् ।
मर्त्या मृगा वा बध्नन्ति नूनं
नान्ये सुराः श्वभ्रभवाश्च तीव्रम् ॥१५८॥
तिर्यगौदारिकद्वन्द्वमुद्योतान्तिमसहती ।
निर्जरा नारकाश्चैव बन्धन्तीह परस्थिती ॥१५९॥

उपजाति

एकेन्द्रियस्थावरकातपानां
परां स्थितिं व्याकुलभावपूर्णा ।
मिथ्यादृशो निर्जरयोनिजाता
बध्नन्त्यहो कर्मविचित्रपाकात् ॥१६०॥

आर्या

उत्कृष्टेषन्मध्यमसंक्लिष्टा अखिलगतिषु संजाताः ।
शेषाणां प्रकृतीनां स्थितिं परामत्र चिन्वन्ति ॥१६१॥

अर्थ—देवायुके सिवाय तीन आयु, विकलत्रय, सूक्ष्मत्रय—सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण तथा वैक्रियिकषट्क—वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, देवगति और देवगत्यानुपूर्व्य इन पन्द्रह प्रकृतियोका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च ही करते हैं, देव और नारकी नही ॥१५८॥ तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य, औदारिकशरीर, औदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग, उद्योत और असप्राप्तसृपाटिकासंहनन, इन प्रकृतियोका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देव और नारकी ही करते है ॥१५९॥ एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियोका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध व्याकुल परिणामोसे युक्त मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। आश्चर्य है कि कहाँ देवपर्याय और कहाँ एकेन्द्रियादिकका बन्ध। कर्मोदयकी विचित्रतासे ही ऐसा होता है ॥१६०॥ शेष ९२ प्रकृतियोका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट अथवा ईषन्मध्यम संक्लेश परिणामवाले चारो गतियोके जीव करते हैं ॥१६१॥

आगे मूल प्रकृतियोका जघन्य स्थितिबन्ध कहते हैं—

मुहूर्ता द्वादश क्षुद्रा वेदनीयस्य कर्मणः ।
मुहूर्ताश्चाष्ट गोत्रस्य नाम्नश्चापि निगद्यते ॥१६२॥
स्थितिर्भिन्नमुहूर्तस्तु पञ्चानां शेषकर्मणाम् ।
अथोत्तरप्रभेदानां वच्मि हीनतरां स्थितिम् ॥१६३॥

अर्थ—वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त तथा शेष पाँच कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त है। अब उत्तर प्रकृतियोकी जघन्य स्थिति कहते है ॥१६२-१६३॥

उच्चैर्गोत्रयशस्कीर्त्योर्मुहूर्ताष्टकसंमिता ।
मुहूर्तद्वादशी सातवेदनीयस्य कर्मणः ॥१६४॥
ज्ञानारिविघ्नलोभानां चतुर्दर्शनरोधिनाम् ।
मुहूर्तो, मर्त्यवेदस्य त्वष्टौ वर्षाणि भाषिता ॥१६५॥
क्रोधाहङ्कारमायानां द्विकैकदलभासकाः ।
मृगमर्त्यायुषोर्भिन्नमुहूर्तः, श्वभ्रनाकिनाम् ॥१६६॥
दशवर्षसहस्राण्याहारतीर्थकृतां तथा ।
कोटीकोटी च भिन्ना स्याज्जघन्या कर्मणां स्थितिः ॥१६७॥

अर्थ—उच्चगोत्र और यशस्कीर्तिकी जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त, साता वेदनीयकी बारह मुहूर्त, ज्ञानावरण, अन्तराय, लोभ और चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार दर्शनावरणोकी अन्तर्मुहूर्त, पुरुषवेदकी आठ वर्ष, क्रोध मान और मायाकी क्रमसे दो माह, एक माह और अर्ध माह, तिर्यञ्च और मनुष्यायुकी अन्तर्मुहूर्त, देवायु और नरकायुकी दश हजार वर्ष तथा आहारकशरीर, आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग और तीर्थंकर प्रकृतिकी अन्त-कोडा-कोडी सागर प्रमाण है ॥१६४-१६७॥

आगे इस जघन्य स्थितिबन्धको करनेवाले जीवोका वर्णन करते हैं—

मिथ्यात्वं विक्रियाषट्कं मुक्त्वा निःशेषकर्मणाम् ।
बध्नाति सर्वतो हीनां स्थितिं स्वप्रतिभागतः ॥१६८॥
एकेन्द्रियो विशुद्धो हि पर्याप्तो बादरस्तथा ।
उच्चैर्गोत्रयशस्कीर्तिसद्वेद्यज्ञानवैरिणाम् ॥१६९॥
अन्तरायचतुर्दृष्टिरोधिनोर्दशमस्थितः ।
सज्वलनचतुष्कस्य पुवेदस्यापि बादरः ॥१७०॥
तीर्थाहारद्विकानां च ह्यपूर्वकरणस्थितः ।
देवगत्यादिषट्कस्यामनस्कस्त्वायुषां तथा ॥१७१॥
असंज्ञी वापि सज्ञी वा जघन्यां लभते स्थितिम् ।
मृगमर्त्यसुरायुष्कं मुक्त्वा निःशेषकर्मणाम् ॥१७२॥

शुभानामशुभानां वा सर्वास्तु स्थितयोऽशुभाः ।
मतस्तीव्रकषाय्येव तासामुत्कृष्टबन्धकः ॥१७३॥

अर्थ—[बन्ध योग्य १२० प्रकृतियोमे से २९ प्रकृतियोका जघन्यस्थिति-बन्ध ऊपर कहा जा चुका है। शेष रही ९१ प्रकृतिया] उनमे भी वैक्रियिक षट्क और मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोको छोडकर शेष समस्त कर्मों—८४ प्रकृतियोकी सर्वजघन्य स्थितिको अपने योग्य विशुद्ध परिणामोको धारण करने वाला बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ही बाधता है। उच्च गोत्र, यशस्कीर्ति, सातावेदनीय, पाच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार दर्शनावरण इन सत्तरह प्रकृतियोकी जघन्यस्थितिको दशम गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है। सज्वलनकी चौकडी और पुरुषवेदकी जघन्य स्थितिको बादरसाम्पराय–नवम गुणस्थानवर्ती बाँधता है ॥१६८-१७०॥

तीर्थंकर, आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग इन तीनकी जघन्यस्थितिको अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव बाँधता है। वैक्रियिक षट्ककी जघन्यस्थितिको असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव बाधता है किन्तु आयु-कर्मकी जघन्यस्थितिको सज्ञी तथा असज्ञी दोनो जीव बाधते है। तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायुको छोडकर सभी कर्मोके समस्त स्थिति विकल्प अशुभ ही हैं। अत उनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करने वाला तीव्र-कषायवान् जीव ही माना गया है ॥१७१–१७३॥

आगे आबाधाका लक्षण तथा उसकी व्यवस्थाका वर्णन करते है—

यावत्कर्ममय द्रव्यमुदय चाप्युदीरणाम् ।
नैव गच्छति सा तावदाबाधा संप्रचक्ष्यते ॥१७४॥
यदि स्थितिर्भवेत्कोटीकोट्येका हि सरस्वताम् ।
तदा वर्षशत तस्या आबाधा भवति ध्रुवम् ॥१७५॥
एव तत्प्रतिभागेनेतरेषामपि कर्मणाम् ।
आबाधा सम्प्रबोद्धव्या स्थितीनां तद्बुभूत्सुभिः ॥१७६॥
कोटीकोटीस्थितिर्भिन्ना कर्मणो यस्य वध्यते ।
अन्तर्मुहूर्तक तस्याबाधा सूरिनिरूपिता ॥१७७॥
सख्यातगुणहीना तु भवेद्धीनतरस्थिते ।
आबाधा चायुष प्रोक्ता सक्षेपाद्धावलीप्रमा ॥१७८॥

त्रिभागात्पूर्वकोटीनां प्रतिभागविवर्जिता ।
उदीरणां समाश्रित्य ह्याबाधा सप्तकर्मणाम् ॥१७९॥
आवलीप्रमिता प्रोक्ता सूरिभिर्बहुबुद्धिभिः ।
बध्यमानायुषः किन्तूदीरणा नैव जायते ॥१८०॥
इति संक्षेपतः पूर्वग्रन्थादाकृष्य गुम्फितः ।
स्थितिबन्धोऽथ वक्ष्याम्यनुभागं कर्मणामिह ॥१८१॥

अर्थ—कर्मरूप द्रव्य जब तक उदय या उदीरणाको प्राप्त नही होता है तब तकका काल आबाधा कहा जाता है ॥१७४॥ जिस कर्मकी स्थिति एक कोडाकोडी सागरकी बँधती है उदयकी अपेक्षा उसकी आबाधा सौ वर्षकी होती है ॥१७५॥ इसी प्रतिभागके अनुसार अन्यकर्मोकी स्थितिकी आबाधा भी उसे जाननेके इच्छुक पुरुषोको जान लेना चाहिये ॥१७६॥ जिस कर्मकी स्थिति अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण है उसकी आबाधा आचार्योंने अन्तर्मुहूर्तकी कही है ॥१७७॥ जघन्य स्थितिकी आबाधा, स्थितिसे सख्यातगुणी कम होती है अर्थात् स्थितिके सख्यातवें भाग होती है। आयुकर्मकी आबाधा एक कोटी वर्षपूर्वके त्रिभागसे लेकर असक्षेपाद्धा आवली प्रमाण होती है। आयुकर्मकी आबाधा स्थितिके प्रतिभागके अनुसार नही होती है।

भावार्थ—कर्मभूमिज मनुष्यकी उत्कृष्ट स्थिति एक कोटी वर्षपूर्वकी है। इसके आयुका बन्ध, वर्तमान आयुके दो भाग निकल जानेपर तृतीय भागके प्रारम्भमे होता है। यदि आयुबन्धके योग्य लेश्याके अशोकी अनुकूलता न होनेसे इस समय बन्ध नही होता है तो जितनी आयु शेष रहती है उसके दो भाग निकल जाने पर तीसरे भागके प्रारम्भमे होती है। इस प्रकारके आठ अपकर्ष काल होते है। यदि किसी जीवके आठो अपकर्ष काल आयुबन्धके विना निकल जाते है तो वर्तमान आयुमे जब असक्षेपाद्धा आवली प्रमाण-काल बाकी रह जाता है तब नियममे आयुका बन्ध हो जाता है। आयुका बन्ध हो जाने पर वर्तमान आयुका जितना काल शेष रहता है उतनी ही आयु कर्मकी आबाधा होती है। देव और नारकियोकी स्थिति यद्यपि अधिक होती है तथापि उनके आयुबन्धका प्रथम अपकर्षकाल वर्तमान आयुमे छह माह शेष रहनेपर ही आता है पहले नही। इसी प्रकार भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चोके वर्तमान आयु के नौ माह शेष रहनेपर ही प्रथम अपकर्ष काल आता है पहले नही। इसीलिये आयुकर्मकी आबाधा एक कोटि वर्षपूर्वके त्रिभागसे लेकर असक्षेपाद्धा आवली प्रमाण तक ही कही है।

उदीरणाकी अपेक्षा समस्त कर्मोंकी आबाधा विशाल बुद्धिके धारक आचार्योंने अचलावली प्रमाण कही है अर्थात् इसके पहले किसी कर्मकी उदीरणा नही हो सकती। बध्यमान अर्थात् परभव सम्बन्धी आयुकी उदीरणा नियमसे नही होती है। इस प्रकार पूर्वग्रन्थोंसे लेकर सक्षेपसे स्थितिबन्धका वर्णन किया है। अब आगे यहाँ कर्मोके अनुभाग बन्धका कथन करूँगा ॥१७८–१८१॥

विशेषार्थ—जिस कर्मकी जितनी स्थिति बँधी है उसमेसे आबाधा कालको घटानेपर जो शेष रहती है उतने काल तक वे कर्म निषेक रचनाके अनुसार फल देते हुए निर्जीर्ण होते रहते हैं। आबाधा पूर्ण होनेपर पहले समयमे सबसे अधिक कर्मपरमाणु फल देकर निर्जीर्ण होते है। पश्चात् क्रमसे कम होते जाते हैं। यह क्रम, स्थितिके अन्त तक चलता रहता है। यह सविपाक निर्जराका क्रम है यदि किसी जीवके तपश्चरण आदिसे अविपाक निर्जराका योग मिलता है तो उसके शेष कर्मपरमाणुओकी निर्जरा युगपत् हो जाती है। आयुकर्मके निषेक अपनी स्थिति प्रमाण हैं।

इस प्रकार स्थितिबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ।

अजागोमहिषीक्षीरे गुडखण्डसितासु च।
यथा माधुर्यसभारस्तारतम्येन वर्तते ॥१८२॥
कर्मणां च तथा पिण्डे विविधा फलदायिता।
वर्तते या विपाक से बन्धः सकीर्त्यते बुधैः ॥१८३॥
स्वनामसदृशी तेषामखिलानाञ्च कर्मणाम्।
बोधरोधादिका शक्तिर्वर्तते फलदायिनी ॥१८४॥

अर्थ—जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंसके दूधमे तथा गुड खाड और मिश्रीमे माधुर्य गुणका समूह हीनाधिकरूपसे रहता है उसी प्रकार कर्मोंके समूहमे जो विविध प्रकारकी फल देनेकी शक्ति है वह अनुभाग-बन्ध विद्वज्जनोंके द्वारा कहा जाता है। सब कर्मोंकी ज्ञान आदि गुणोको आवृत करने वाली जो शक्ति है वह अपने नामके सदृश है। अर्थात् जिस कर्मका जैसा नाम है वैसी ही उनकी अनुभाग शक्ति है ॥१८२–१८४॥

आगे चतुर्विध बन्धका कारण कहते हैं—

आर्या

प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगात्पुसां प्रजायेते।
भवतः स्थितिरनुभागः कषायहेतोः सदा बन्धौ ॥१८५॥

उपजाति

यथानुभागो भविनां स्थितिश्च
बन्धो ह्यनर्थस्य निदानमस्ति ।
तथा प्रदेशः प्रकृतिश्च बन्धो
नानर्थतामूलमिहास्ति पुंसाम् ॥१८६॥

अर्थ—जीवोके जो प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते है वे सदा योगोके निमित्तसे होते हैं और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषायके निमित्तसे होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रारम्भसे लेकर दशम गुणस्थान तक चारो प्रकारके बन्ध होते है परन्तु ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक कषायके अभावमे योगके निमित्तसे मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं, स्थिति और अनुभाग बन्ध नही। चौदहवें गुणस्थानमे योगका भी अभाव हो जाता है अत वहा बन्धका सर्वथा अभाव होता है ॥१८५॥ जिस प्रकार स्थिति और अनुभागबन्ध जीवोके अनर्थके कारण है उस प्रकार प्रकृति और प्रदेश बन्ध अनर्थके कारण नही है ॥१८६॥

आगे अनुभाग बन्ध की सामग्री और उत्कृष्ट अनुभाग बन्धके स्वामी कहते हैं—

अनुभागो भवेत्तीव्रो विशुद्धया शुभकर्मणाम् ।
अतिसंक्लेशभावे न तदन्येषां च कर्मणाम् ॥१८७॥

आर्या

संक्लेशेन शुभानाशुभानां चाप्यसंक्लेशात् ।
भवत्यनुभागबन्धो हीनतरः सर्वभेदानाम् ॥१८८॥
द्व्युत्तरचत्वारिंशत्सख्यानां पुण्यकर्मभेदानाम् ।
उत्कटविशुद्धियुक्तोऽनुभागबन्ध करोति वै तीव्रम् ॥१८९॥
द्व्यग्राशीतिमितानामशुभानां कर्मभेदानाम् ।
मिथ्यादृक् संक्लिष्टोऽनुभागबन्धं वरं कुरुते ॥१९०॥

अर्थ—शुभ कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोसे होता है और पाप कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अत्यन्त सक्लेशभावसे होता है ॥१८७॥ समस्त शुभप्रकृतियोका जघन्य अनुभागबन्ध सक्लेश परिणामोसे होता है और समस्त पापप्रकृतियोका जघन्य अनुभागबन्ध

असवलेश—संक्लेश रहित परिणामोसे होता है ॥१८८॥ व्यालीस पुण्य प्रकृतियोका उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध, उत्कट—अत्यधिक विशुद्धिसे युक्त जीव करता है और व्यासी पापप्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध सक्लेश परिणामोका धारक मिथ्यादृष्टि जीव करता है ॥१८९-१९०॥

आतपश्च तथोद्योतो मानवतिर्यगायुषी ।
एषां विपाकवन्ध स्याद्वरो मिथ्यादृशां नृणाम् ॥१९१॥
इतरेषां च भेदाना शुद्धदर्शनशालिनाम् ।
प्रकृतिषु प्रशस्तासु भवतीति निरूपितम् ॥१९२॥

सम्यग्दृष्टिप्रवन्ध्याष्टत्रिंशत्कर्मजातिषु ।
मनुष्यौदारिकद्वन्द्वं प्रथमां चापि संहतिम् ॥१९३॥
विशुद्धोऽसयतः सम्यग्दृष्टिः श्वाभ्रस्तथा सुरः ।
देवायुश्च प्रमत्तस्थस्तदन्यान् क्षपणोद्यतः ॥१९४॥
परमेण विपाकेन वन्धेनाभिचिनोति च ।
सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणहीनेन्द्रियसज्ञितम् ॥१९५॥
श्वभ्रायुः श्वभ्रगत्यानुपूर्व्यं श्वभ्रगतिं तथा ।
मिथ्यादृशो मृगा मर्त्यास्तीव्रसक्लिष्टचेतस ॥१९६॥
मृगमर्त्यायुषी मर्त्या मृगा वा शुद्धमानसाः ।
अतिसंक्लिष्टभावेनैकेन्द्रियं स्थावरं तथा ॥१९७॥
आतप तु विशुद्धया च देवो मिथ्यात्वदूषितः ।
सर्वोत्कृष्टानुभागेन प्रवध्नाति भवार्णवे ॥१९८॥

महातमःप्रभाजातो विशुद्धो नरकोद्भवः ।
उद्योत, नारका देवा मिथ्यात्वविषमूर्च्छिताः ॥१९९॥

असप्राप्तं तथा तिर्यग्गतिद्वन्द्वमिति त्रयम् ।
अष्टाग्रषष्टिसंख्यानास्तदन्याः प्रकृतीः पुन ॥२००॥
गतिचतुष्कसंजाता अतिसक्लिष्टमानसाः ।
मिथ्यादृशो विपाकेन बध्नन्तीह परेण तु ॥२०१॥

अर्थ—ब्यालीस पुण्यप्रकृतियोमेसे आतप, उद्योत, मनुष्यायु और तिर्यगायु इन चार प्रकृतियोका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्यो-के होता है और शेष अडतीस प्रकृतियोका सम्यग्दृष्टि जीवोके होता है, ऐसा कहा गया है ॥१९१-१९२॥ सम्यग्दृष्टिके द्वारा बाँधने योग्य अडतीस प्रकृतियोमेसे मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, औदारिकशरीर, औदारिक-शरीराङ्गोपाङ्ग और वज्रवृषभनाराचसहनन, इन पाच प्रकृतियोका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामोका धारक अविरतसम्यग्दृष्टि देव या नारकी करता है। (इसमे भी विशेषता यह है कि जो विशुद्ध-परिणाम वाला अविरतसम्यग्दृष्टि देव या नारकी, अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करनेके लिये तीन करण करता हुआ अनिवृत्तिकरणके अन्त समयमे स्थित होगा वही इनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है अन्य देव या नारकी नही) देवायुको अप्रमत्तगुणस्थानवाला तीव्र अनुभाग सहित बांधता है। शेष [1]बत्तीस प्रकृतियोको क्षपकश्रेणीवाला मनुष्य, उत्कृष्ट अनु-भागके साथ बाँधता है। सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतु-रिन्द्रिय जाति, नरकायु, नरकगति और नरकगत्यानुपूर्व इन नौ प्रकृतियो-का प्रकृष्ट अनुभागबन्ध, उत्कृष्ट सक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च करते है ॥१९३-१९६॥ मनुष्यायु और तिर्यगायु का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध, विशुद्ध—मन्द कषायरूप परिणामोके धारक मनुष्य अथवा तिर्यञ्च करते है। एकेन्द्रिय तथा स्थावरका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध, मिथ्यादृष्टि देव, तीव्र सक्लेशभावसे करता है और आतपप्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध कुछ विशुद्ध परिणामोका धारक मिथ्यादृष्टि देव इस ससारसागरमे करता है ॥१९७-१९८॥ महातम प्रभा नामक सातवें नरकमे उत्पन्न हुआ विशुद्ध परिणामोका धारक मिथ्यादृष्टि नारकी उद्योतप्रकृतिका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। असप्राप्तसृपाटिकासह-नन, तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य इन तीन प्रकृतियोका उत्कृष्ट

---

१ अपूर्वकरण गुणस्थानके छठवें भागमें बन्धव्युच्छिन्न होनेवाली ३० प्रकृतियो मे उपघातको छोडने तथा उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति और सातवेदनीयके मिलानेसे ३२ प्रकृतिया होती हैं। तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, तैजस, कार्मण, आहारक और आहारक अङ्गोपाङ्ग, सम-चतुरस्रसस्थान, वर्णादिककी चार, अगुरुलघु आदि चार और त्रसादिक नौ, ये अपूर्वकरणके छठवें भागमें बन्धव्युच्छिन्न होने वाली ३० प्रकृतियाँ हैं।

अनुभागबन्ध मिथ्यात्वमें स्थित देव और नारकी करते हैं । और शेष रही अट्ठाइस प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध, चारों गतियोंमें उत्पन्न हुए, तीव्र संक्लेश परिणामोंके धारक मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं ॥१९९-२०१॥

आगे जघन्य अनुभागबन्धके स्वामी कहते हैं—

ज्ञानावृतिस्तथा विघ्न चतुष्कं दर्शनावृतेः ।
जुगुप्सा प्रचला हास्यं निद्रा भीती रतिस्तथा ॥२०२॥
सञ्ज्वलन नृवेदश्चोपघातः स्पर्शनादयः ।
एतासामवरो बन्धः प्रकृतीनां प्रकीर्तित ॥२०३॥
स्वस्वव्युच्छेदनस्थाने विपाको जिनभूमिपैः ।
अनस्त्यानत्रय मिथ्यात्व मिथ्यात्वमहीतले ॥२०४॥
अप्रत्याख्यानकोपाद्यास्तुरीये गुणधामनि ।
प्रत्याख्यानकषायाश्च संयमगुणसन्मुखे ॥२०५॥
संयतासंयते, ह्याहारद्विकं किल सप्तमे ।
शोकारत्यौस्तथा शुद्धे प्रमत्ते गुणधामनि ॥२०६॥
सूक्ष्मादित्रितय हीनहृषीकत्रितयं तथा ।
देवगत्यादिक षट्कमायुषां च चतुष्टयी ॥२०७॥
मृगे वापि मनुष्ये वाप्युद्योतौदारिकद्वयम् ।
निर्जरे नारके वापि नीचैर्गोत्र मृगद्विकम् ॥२०८॥
महातमःप्रभाभूमावेकाक्षः स्थावरस्तथा ।
सुरे मृगे नरे वापि मध्यमभावसंश्रिते ॥२०९॥
सौधर्मस्वर्गपर्यन्तमातपस्तीर्थकृत्तथा ।
असंयते नरे श्वभ्रगतिसगतिसम्मुखे ॥२१०॥
उच्छ्वासः परघातश्च तैजसद्वितय तथा ।
पञ्चेन्द्रिय च निर्माणं त्रसवर्णचतुष्टयम् ॥२११॥
अगुरुलघुकं देवे नारके मानुषे मृगे ।
उभयप्रकृतिर्वेदो वेदः सीमन्तिनी तथा ॥२१२॥

विशुद्धपरिणामेषु येषु केष्वपि देहिषु ।
स्थिरं यशः शुभं सातं स्वप्रतिपक्षसंयुतम् ॥२१३॥
अघोटमानमध्यस्थपरिणामवशं गते ।
मिथ्यात्वेनापि सम्यक्त्वेनापि शालिनि देहिनि ॥२१४॥
उच्चैर्गोत्रं नभोयानयुगलं सुभगद्वयम् ।
नरदेवगतिद्वन्द्वमादेयस्य युग तथा ॥२१५॥
षट्कं सस्थानसहत्योर्मिथ्यादृश्येव देहिनि ।
सुघोटमानमध्यस्थपरिणामविशोभिते ॥२१६॥
हीनानुभागसंयुक्तं बध्यते जगतीतले ।
इत्यनुभागबन्धोऽयं सक्षेपेण प्रदर्शितः ॥२१७॥

अर्थ—ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, जुगुप्सा, प्रचला, निद्रा, हास्य, भय, रति, सज्वलनकी चौकडी, पुरुपवेद, उपघात और अशुभ स्पर्शादिकी चार, इन तीस प्रकृतियोका जघन्य अनुभागबन्ध, अपनी-अपनी बन्धव्युच्छित्तिके स्थानमे होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। अनन्तानुबन्धीकी चार, स्त्यानगृद्धि आदि तीन तथा मिथ्यात्व इन आठका मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानमे, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका सयमगुणके सन्मुख सयतासयत नामक पञ्चम गुणस्थानमे, आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गका सप्तम गुणस्थानमे तथा शोक और अरतिका विशुद्धपरिणामोके धारक प्रमत्तसयतगुणस्थानमे जघन्य अनुभागबन्ध बँधता है ॥२०२-२०६॥ सूक्ष्मादि तीन, विकलत्रयकी तीन, देवगति आदि छह और आयुकी चार, इन सोलह प्रकृतियोका जघन्य अनुभागबन्ध तिर्यञ्च तथा मनुष्यके होता है। उद्योत, औदारिक शरीर तथा औदारिकशरीरागोपाग इन तीनका देव और नारकीके, नीचगोत्र, तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य इन तीनका महातम प्रभा नामक सातवी पृथिवीमे जघन्य अनुभागबन्ध बँधता है। एकेन्द्रिय और स्थावर इन दोका मध्यमपरिणामोको प्राप्त देव, तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमे होता है। आतपका भवनत्रिकसे लेकर सौधर्म-ऐशान स्वर्ग तक तथा तीर्थङ्कर प्रकृतिका जघन्य अनुभागबन्ध नरकगतिके सन्मुख अविरतसम्यग्दृष्टि

मनुष्यके होता है ॥२०७ २१०॥ उच्छ्वास, परघात, तैजस, कार्मण, पञ्चेन्द्रियजाति, निर्माण, त्रसादि चार, वर्णादि चार और अगुरुलघु इन पन्द्रह प्रकृतियोका जघन्य अनुभागवन्ध सक्लेशपरिणामोके धारक देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च—चारो गतिसम्बन्धी मिथ्यादृष्टिके होता है। नपुसकवेद और स्त्रीवेद इन दो प्रकृतियोका जघन्य अनुभागवन्ध विशुद्धपरिणामवाले चातुर्गतिक मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। स्थिर, अस्थिर, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, शुभ, अशुभ, साता वेदनीय और असातावेदनीय इन आठ प्रकृतियोका अपरिवर्तमान मध्यम परिणामके वशीभूत सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीवके जघन्य अनुभाग बँधता है ॥२११-२१४॥ उच्चगोत्र, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, सुभग, दुर्भग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, आदेय, अनादेय, छह सस्थान और छह सहनन ये तेईस प्रकृतियाँ परिवर्तमान मध्यम परिणामोसे सुशोभित मिथ्यादृष्टि जीवके ही जगत्मे जघन्य अनुभागके साथ बँधती हैं। इस प्रकार सक्षेपसे यह अनुभागवन्धका निरूपण किया है ॥२१५-२१७॥

आगे दृष्टान्त द्वारा घातियाकर्मोंकी शक्ति दिखाते हैं—

'अनुभागमथो वक्ष्ये कर्मणां घातिसञ्ज्ञिनाम् ।
वल्लीदार्वस्थिशैलाभा शक्तिर्वै घातिकर्मणाम् ॥२१८॥
दार्वनन्तिमभागान्त स्पर्द्धका देशघातिनाम् ।
ततो भूधरभागान्त स्पर्द्धकाः सर्वघातिनाम् ॥२१९॥

मिथ्यात्वप्रकृतेर्वल्लीविभागादार्वनन्तिमम् ।
सम्यक्त्वप्रकृतेर्यावत्स्पर्द्धका देशघातिनः ॥२२०॥

दार्वनन्तविभागानामनन्त्योद्भागसमिता ।
विचित्राः स्पर्द्धका मिश्रप्रकृतेः सभवन्ति हि ॥२२१॥

शेषा अनन्तभागाश्च कीकशशैलसन्निभाः ।
मिथ्यात्वप्रकृतेर्गीताः स्पर्द्धका परमागमे ॥२२२॥

मतिश्रुतावधिस्वान्तपर्ययारिचतुष्टयम् ।
अन्तरायो नृवेदश्च दर्शनावरणत्रयम् ॥२२३॥

संज्वलनचतुष्कं चेत्येतेषां किल कर्मणाम् ।
चतुर्विधश्च संचारः शेषाणां त्रिविधस्तु स. ॥२२४॥

अर्थ—अब आगे घातियाकर्मोंकी अनुभागशक्तिका निरूपण करते है। निश्चयसे घातियाकर्मोकी अनुभागशक्ति लता, काष्ठ, हड्डी और शैल (पाषाणसमूह) के समान है। अर्थात् जिस प्रकार लता आदिमे उत्तरोत्तर कठोरता है उसी प्रकार घातियाकर्मोंके स्पर्द्धकोमे भी उत्तरोत्तर फल देनेकी कठोरता—अधिकता है। इनमे दारु-लकडीके अनन्तवें भाग तक देशघातिके स्पर्द्धक है और उसके आगे शैलके अन्ततक सर्वघातिके स्पर्द्धक है ॥२१८-२१९॥ मिथ्यात्वप्रकृतिके लताभागसे लेकर दारुके अनन्तवें भागतक सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाति स्पर्द्धक है तथा दारुके अनन्त बहुभागोके अनन्तवें भाग प्रमाण मिश्रप्रकृतिके विचित्र स्पर्द्धक है ॥२२०-२२१॥ शेष अनन्त बहुभाग भाग, हड्डी तथा शैलभागरूप स्पर्द्धक परमागममे मिथ्यात्वप्रकृतिके कहे गये है ॥२२२॥ मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण इस प्रकार ज्ञानावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच, पुरुषवेद, दर्शनावरणकी तीन और सज्वलनकी चार इन सत्तरह कर्मप्रकृतियोका लता, दारु, हड्डी और शैलके भेदसे चारो प्रकारका अनुभागसम्बन्धी परिणमन होता है और शेष कर्मप्रकृतियोमे लतारूप परिणमन न होनेसे तीन प्रकारका ही होता है ॥२२३-२२४॥

आगे अघातियाकर्मोमे अनुभागकी विचित्रता कही जाती है—

अघातिस्पर्द्धका ज्ञेया घातिस्पर्द्धकसन्निभाः ।
घातिकाः पापरूपा हि शेषाः स्युरुभयात्मकाः ॥२२५॥

वशस्थ

अघातिका ऐक्षवखण्डशर्करा-
सुधासमानाः शुभरूपविग्रहा ।
हृषीकसंघोद्भवसौख्यहेतवः
प्रिया भवावर्तविवर्तिदेहिनाम् ॥२२६॥

निम्बकाञ्जीरसंतुल्या विषहालाहलोपमाः ।
मुनिभिर्निन्दनीयाः स्युः पापरूपा अघातिकाः ॥२२७॥

अर्थ—अघातियाकर्मोंके स्पर्द्धक भी घातियाकर्मोंके स्पर्धकके समान जानना चाहिये। परन्तु विशेषता यह है कि घातियाकर्म पापरूप ही होते हैं और अघातियाकर्म पाप-पुण्य दोनो रूप होते हैं ॥२२५॥ जो इन्द्रियसमूहसे उत्पन्न होनेवाले सुखके हेतु है तथा ससाररूप भँवरमे रहनेवाले जीवोको प्रिय है ऐसे पुण्यरूप अघातियाकर्म गुड, खांड, शर्करा और अमृतके समान हैं। तात्पर्य यह है कि अघातियाकर्मोमे जो पुण्य प्रकृतियां हैं वे गुड, खांड, शक्कर और अमृतके समान अनुभाग शक्ति वाली है ॥२२६॥ और मुनियोके द्वारा निन्दनीय जो पापरूप अघाति कर्म हैं वे नीम, काञ्जीर, विष तथा हालाहलके समान है अर्थात् इनका अनुभाग नीम आदिके समान उत्तरोत्तर कटुक होता है ॥२२७॥

आगे अघातियाकर्मोंमे जो पुण्यप्रकृतियां हैं उन्हे गिनाते हैं—

सात तिर्यङ्नृदेवायुरुच्चैर्गोत्रं नरद्विकम्।
सुरद्विकं शरीराणि वन्धसघातपञ्चकम् ॥२२८॥
अङ्गोपाङ्गत्रय शस्तवर्णादीनां चतुष्टयम्।
पञ्चेन्द्रियं तथा जातिराद्यसंस्थानसंहती ॥२२९॥
उच्छ्वासः परघातश्च ह्यगुरुलघुकातपौ।
उद्योतः सुनभोयानं द्वादश जङ्गमादयः ॥२३०॥
अष्टषष्टिमिता ह्येताः प्रशस्ता भेदतो मताः।
अभेदे द्व्यग्रचत्वारिंशत्संख्यासहिताश्च ता ॥२३१॥

अर्थ—सातावेदनीय, तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच सघात, तीन अगोपाग, शुभवर्णादि चार, पञ्चेन्द्रिय जाति, वज्रवृषभनाराचसहनन, समचतुरस्रसस्थान, उच्छ्वास, परघात, अगुरुलघु, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति और त्रसको आदि लेकर बारह, ये सब मिलाकर भेदविवक्षासे अडसठ और अभेदविवक्षासे ब्यालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं ॥२२८-२३१॥

आगे पापप्रकृतियोका नामोल्लेख करते हैं—

नीचैर्गोत्रमसात च श्वभ्रायुर्नरकद्विकम्।
तिर्यग्द्विक च सस्थानसहत्योः पञ्चपञ्चकम् ॥२३२॥

जातिवर्णचतुष्कं चोपघातो घातिसंचयः ।
असद्गतिर्दश स्थावराद्यः पापविग्रहाः ॥२३३॥

अर्थ—नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, अन्तके पाँच सस्थान, पाँच सहनन, प्रारम्भकी चार जातियाँ, उपघात, घातियाकर्मोंकी सैंतालीस प्रकृतियाँ, अप्रशस्तविहायोगति और स्थावरको आदि लेकर दश ये पापप्रकृतियाँ है। भेदविवक्षासे इनमे ९८ का बन्ध होता है और १०० का उदय होता है तथा अभेद विवक्षासे ८२ का बन्ध होता है और ८४ का उदय होता है ॥२३२-२३३॥

आगे सर्वघातिप्रकृतियोका नामोल्लेख करते हैं—

केवलबोधविद्वेषी केवलदर्शनावृतिः ।
पञ्चक चापि निद्राणां कषायद्वादशी तथा ॥२३४॥
मिथ्यात्वं चेति कर्माणि सर्वघातीनि बुध्यताम् ।
अबन्धे मिश्रमोहोऽपि सर्वघाती प्रचक्ष्यते ॥२३५॥

अर्थ—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पाँच निद्राएँ, सज्वलनको छोड कर बारह कषाय और मिथ्यात्व ये बीस सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं। इनके सिवाय सम्यड्मिथ्यात्वप्रकृति भी सर्वघाती प्रकृति कहलाती है परन्तु उसका बन्ध नही होता है। २३४-२३५॥

आगे देशघाती प्रकृतियाँ कही जाती हैं—

चतुष्कं ज्ञानशत्रूणां दर्शनत्रितयं तथा ।
नवकं नोकषायाणां सम्यक्त्व विघ्नपञ्चकम् ॥२३६॥
सज्वलनं च विज्ञेय देशघातिकदम्बकम् ।

अर्थ—ज्ञानावरणकी चार, दर्शनावरणकी तीन, नौ नोकषाय, सम्यक्त्वप्रकृति, अन्तरायकी पांच और सज्वलनकी चौकडी, यह देशघाति प्रकृतियोका समूह है। भावार्थ—छब्बीस देशघातिप्रकृतियाँ हैं ॥२३६॥

आगे पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ कहते हैं—

देहाद्याः स्पर्शनामान्ताः पञ्चाशद् ह्यगुरुत्रयम् ॥२३७॥
आतपश्च तथोद्योतो निर्माण सेतर शुभम् ।
प्रत्येकस्थिरयोर्युग्ममित्यासां फलसंचरः ॥२३८॥

द्व्यग्रषष्टिमितानां हि पुद्गले किल जायते।

अर्थ—शरीरको आदि लेकर स्पर्शनाम तककी पचास (पांच शरीर, पांच बन्धन, पांच संघात, तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन और वर्णादिककी बीस), अगुरुलघु आदि तीन, आतप, उद्योत, निर्माण, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, स्थिर और अस्थिर इन बासठ प्रकृतियोंका विपाक पुद्गलपर होता है अर्थात् ये ६२ पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ है ॥२३७-२३८॥

आगे क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियोका उल्लेख करते है—

चतुष्कमानुपूर्वीणां ज्ञेयं क्षेत्रविपाककम् ॥२३९॥
भवे विपच्यते नूनमायुषां च चतुष्टयम्।
जीवेष्वेव विपच्यन्तेऽवशेषा अष्टसप्ततिः ॥२४०॥
वेदनीयस्य गोत्रस्य घातिनामपि कर्मणाम्।
एकोत्तरं च पञ्चाशन्नाम्नो वै सप्तविंशतिः ॥२४१॥
ज्ञेया जीवविपाकिन्यस्ता एता अष्टसप्ततिः।
सुस्वरादेयपर्याप्तबादरत्रसयुग्मकम् ॥२४२॥
यशो विहायसो द्वन्द्वं सुभगद्वितयं तथा।
उच्छ्वासस्तीर्थकृज्जातिगतिपञ्चचतुष्टयम् ॥२४३॥
प्रोक्ताः प्रकृतयो नाम्नस्ता एताः सप्तविंशतिः।
एवं विपाकबन्धोऽयं वर्णितो वरसूरिभिः ॥२४४॥

अर्थ—आनुपूर्वियोकी चार प्रकृतियोको क्षेत्रविपाकी जानना चाहिए। तथा चार आयुकर्म, भवविपाकी कहलाते हैं। शेष बची अडसठ प्रकृतियाँ जीवविपाकी है ॥२३९-२४०॥ वेदनीय २, गोत्र २ और घातिया ४७ इन सबकी इक्यावन और नामकर्मकी सत्ताईस, दोनो मिलकर अठहत्तर जीवविपाकी प्रकृतियाँ हैं। सुस्वर, आदेय, पर्याप्तक, बादर और त्रसका युगल, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, सुभग, दुर्भग, उच्छ्वास, तीर्थंकर, पांच जाति और चार गति ये नामकर्मकी सत्ताईस प्रकृतियाँ उत्तम आचार्योंने कही हैं ॥२४१-२४४॥

इस प्रकार अनुभागबन्धका वर्णन पूर्ण हुआ।

आगे प्रदेशबन्धका निरूपण करनेके लिए सबसे पहले प्रदेशबन्धका स्वरूप बताते है—

इन्द्रवज्रा

आत्मा प्रदेशैर्निखिलैः समन्ताद्
योगादिभिः कर्मसुयोग्यद्रव्यम् ।
बध्नाति यन्नाम मिथः प्रविष्टं
बन्धं प्रदेशं तु तमावदन्ति ॥२४५॥

अर्थ—आत्मा, योगादिके कारण सब ओरसे समस्त प्रदेशोंके द्वारा आत्मप्रदेशोमे परस्पर प्रविष्ट, कर्मरूप होनेके योग्य कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यको जो बाँधता है उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥२४५॥

मालिनी छन्द

सकलसुरभिरूपस्वादयुक्तं चतुर्भि-
र्ललितमथ समन्तादन्तिमैः स्पर्शसङ्घैः ।
गतभवमनुजेभ्योऽनन्तभागं त्वभव्या-
दपि गुणितमनन्तैर्द्रव्यमाबध्यते तत् ॥२४६॥

अर्थ—समस्त गन्ध, वर्ण और रसोंसे युक्त तथा अन्तिम चार स्पर्शोंसे सहित, सिद्धोके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणित द्रव्य प्रत्येक समय बँधता है यही समयप्रबद्ध कहलाता है ॥२४६॥

आगे इस समय प्रबद्धका मूल प्रकृतियोमे किस प्रकार विभाग होता है, यह कहते है—

आयुषः सर्वतः स्तोकस्ततो वै नामगोत्रयोः ।
समोऽधिकस्ततो विघ्नबोधदृष्टिविरोधिनाम् ॥२४७॥
ततोऽधिकश्च विज्ञेयो मोहनीयस्य कर्मणः ।
सर्वस्मादधिको ज्ञेयो वेदनीयस्य कर्मणः ॥२४८॥
प्रदेशानां विभागोऽयं सञ्चिते कर्मसञ्चये ।
अथ प्रदेशबन्धः स्याज्जीवानां योगहेतुकः ॥२४९॥

अर्थ—सञ्चित कर्मराशिरूप समयप्रबद्धमे प्रदेशोका यह विभाग सबसे कम आयुकर्मका होता है। उससे अधिक नाम और गोत्रका होता

है जो परस्पर समान होता है। उससे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका होता है जो परस्पर समान होता है। उससे अधिक मोहनीयकर्मका होता है और सबसे अधिक वेदनीयकर्मका होता है। जीवोका यह प्रदेशबन्ध योगनिमित्तक होता है ॥२४७-२४९॥

आगे कर्मप्रदेशोमे हीनाधिकताका कारण बताते हैं—

सुखदु खनिमित्तत्वाद्वेदनीयस्य भूयसी ।
निर्जरा जायते तस्माद्द्रव्य तस्याधिक भवेत् ॥२५०॥
प्रकृतीनां च शेषाणां स्वस्थितिप्रतिभागतः ।
कर्मद्रव्यविभाग स्यादित्याहुः समयस्थिताः ॥२५१॥
आवल्यसख्यभागस्तु प्रतिभागो हि सम्मतः ।
बहुभागे समो भागो ह्यष्टानामपि कर्मणाम् ॥२५२॥
एकभागे तु कर्त्तव्यो भूयोऽपि कथितः क्रमः ।
तत्रापि बहुको भागी दातव्यो बहुकस्य वै ॥२५३॥

अर्थ—सुख-दु खका कारण होनेसे वेदनीयकर्मकी निर्जरा अधिक होती है इसलिए उसका द्रव्य सबसे अधिक होता है और शेष कर्म प्रकृतियोके द्रव्यका विभाग अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार होता है। अर्थात् जिस कर्मकी स्थिति अधिक है, उसे अधिक भाग मिलता है और जिन कर्मोंकी स्थिति अल्प होती है उन्हे अल्प मिलता है। साथ ही जिनकी स्थिति तुल्य होती है उन्हे तुल्य भाग प्राप्त होता है। सबसे अल्प भाग आयुकर्मको मिलता है ऐसा आगमके ज्ञाता कहते हैं ॥२५०-२५१॥ समयप्रबद्धका विभाग करनेके लिए आवलीके असख्यातवें भागको प्रतिभाग माना गया है। समयप्रबद्धमे आवलीके असख्यातवें भागका भाग देनेपर जो लब्ध आता है वह एक भाग कहलाता है उस एक भागको समयप्रबद्धके प्रमाणमेसे घटा देनेपर शेष बचा हुआ समयप्रबद्धका द्रव्य बहुभाग कहलाता है। इस बहुभागमे आठो कर्मोंका बराबर बराबर भाग होता है और जो एक भाग था उसमे पुन वही क्रम करना चाहिये अर्थात् उसमे आवलीके असख्यातवें भागका भाग देना चाहिये। भाग देनेपर जो लब्ध आता है उसे एक भाग कहते है। उस एक भागको भाज्यराशिमेसे घटानेपर जो द्रव्य रहता है। वह बहुत भागवाले कर्मको देना चाहिये। शेष भागमे यही क्रम पुन करना चाहिये ॥२५२-२५३॥

विशेषार्थ—प्रदेशबन्धमे समयप्रवद्धका यह विभाग निम्नलिखित दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जाता है। मान लो, समयप्रबद्धका प्रमाण ६५५३६ है और आवलीके असख्यातवें भागका प्रमाण ४ है। ६५५३६ मे ४ का भाग देनेपर १६३८४ आते है, यह एक भाग है। इसे ६५५३६ मेसे घटानेपर ४९१५२ रहे, यह बहुभाग हुआ। इसमे ८ का भाग देकर आठो कर्मोंको बराबर-बराबर ६१४४, ६१४४ दे दिया। पश्चात् एक भाग १६३८४ मे पुन ४ का भाग दिया ४०९६ आये, यह एक भाग हुआ। इसे १६३८४ मेसे घटानेपर १२२८८ बहुभाग आया, इसे वेदनीयकर्मको दे दिया। पुन ४०९६ मे ४ का भाग देनेपर १०२४ एक भाग आया, इसे ४०९६ मेसे घटानेपर ३०७२ बहुभाग रहा, इसे मोहनीयकर्मके लिए दे दिया। पश्चात् एक भाग १०२४ मे पुन ४ का भाग दिया, एक भाग २५६ आया। इसे १०२४ मेसे घटानेपर ७६८ बहुभाग आया, इसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको बराबर-बराबर २५६, २५६ के रूपमे दे दिया। पश्चात् एक भाग २५६ मे पुन ४ का भाग दिया एक भाग ६४ आया इसे २५६ मेसे घटानेपर १९२ बहुभाग आया। इसे नाम और गोत्रके लिए ९६, ९६ के रूपमे दे दिया। शेष रहा एक भाग ६४ आयु कर्मको दिया गया। इस प्रकारका विभाग करनेसे आठ कर्मोंको निम्नलिखित द्रव्य प्राप्त हुआ—

वेदनीय	६१४४ + १२२८८ =	१८४३२
मोहनीय	६१४४ + ३०७२ =	९२१६
ज्ञानावरण	६१४४ + २५६ =	६४००
दर्शनावरण	६१४४ + २५६ =	६४००
अन्तराय	६१४४ + २५६ =	६४००
नाम	६१४४ + ९६ =	६२४०
गोत्र	६१४४ + ९६ =	६२४०
आयु	६१४४ + ६४ =	६२०८
		६५५३६

आगे उत्तरप्रकृतियोमे समयप्रबद्धके विभागका क्रम कहते है—

आद्ययोर्मोहनीयस्योत्तरभेदाः पुनर्मताः।
हीनक्रमा नामविघ्नास्त्वधिकक्रमसयुताः ॥२५४॥
भज्जनं न च शेषे स्याद् भाषित चेति सूरिभिः।
मूलप्रकृतिसभागेऽनन्तेनोद्वर्तिते सति ॥२५५॥

एकभागो भवेत्तत्र सर्वावरणकर्मणाम् ।
शेषा अनन्तभागास्तु भवेयुर्देशघातिनाम् ॥२५६॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ हीनक्रमको और नाम तथा अन्तराय कर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अधिक क्रमको लिये हुए हैं। शेष वेदनीय और गोत्र कर्मकी प्रकृतियोंमे विभाग नही होता, क्योंकि परस्पर विरोधी दो प्रकृतियोंमेसे एक कालमे एक ही प्रकृतिका बन्ध होता है। अत जिसका बन्ध होता है सपूर्ण द्रव्य उसीको मिलता है, ऐसा आचार्योंने कहा है। मूलप्रकृतिके द्रव्यमे अनन्तका भाग देनेपर जो एक भाग आता है वह सर्वघातिका द्रव्य है और जो शेष बहुभाग है वह देशघातिका द्रव्य होता है ॥२५४-२५६॥

देशावरणभेदानामन्योन्याभ्यस्तसञ्चयः ।
अनन्तगणनामानो भण्यते यो महागमे ॥२५७॥

सर्वावरणसम्पत्त्यै प्रतिघातः स घातिनाम् ।
सर्वावरणसम्पत्तिरुभयत्र विभज्यताम् ॥२५८॥

देशावरणद्रव्य तु न देय सर्वघातिषु ।
सविभागविधिश्चात्र यथापूर्वं हि वर्तते ॥२५९॥

आर्या

मोहे मिथ्यात्वादिसप्तदशाना प्रदीयते हीनम् ।
सञ्ज्वलनभागसदृश पञ्चानां नोकषायाणाम् ॥२६०॥

अर्थ—देशावरणप्रकृतियोंकी जो अन्योन्याभ्यस्त राशि परमागममे अनन्तभाग प्रमाण कही जाती है वही घातियाकर्मोंमे सर्वघातिका द्रव्य निकालनेके लिए प्रतिभाग होता है। सर्वघातिका द्रव्य सर्वघाति और देशघाति दोनोंमे विभक्त करना चाहिए। परन्तु देशघातिका द्रव्य देशघातिके लिए ही दिया जाता है सर्वघातिके लिए नही। इनके विभागका क्रम जैसा पूर्वमे कहा गया है वैसा ही है। मोहनीयकर्ममे सत्तरह अर्थात् मिथ्यात्व और चारो प्रकारका लोभ, माया, क्रोध, मानका द्रव्य क्रमसे हीन हीन दिया जाता है और पांच नोकषायोंका भाग सज्वलनके भागके समान जानना चाहिए ॥२५७-२६०॥

आगे उसीके विभागका क्रम स्पष्ट करते है—

मोहे कर्ममहीपाले द्रव्यं यद्देशघातिनाम् ।
आवल्यसंख्यभागेन तस्मिन् संभाजिते सति ॥२६१॥
एकभागं पृथक्कृत्य बहुभागं द्विधा कुरु ।
तत्रार्धं नोकषायाणामेकभागयुतं पुनः ॥२६२॥
भवेदर्धं चतुर्णां च संज्वलनाभिधायिनाम् ।
तन्नोकषायभागश्च युगपद्बन्धसंगते ॥२६३॥
पञ्चके नोकषायाणां हीनहीनक्रमाद्भवेत् ।
देशघातिप्रभेदेषु देशावरणकस्वरम् ॥२६४॥
देयमुक्तक्रमादेव भाषितं चेति सूरिभिः ।
मर्त्यवेदे हि बन्धस्य कालो भिन्नमुहूर्तकः ॥२६५॥
योषायां हसनद्वन्द्वेऽरतिद्वन्द्वे तथा ततः ।
सख्यातगुणित क्लीबे वेदे वै साधिकश्च सः ॥२६६॥
दानादिष्वन्तरायेषु साधं बन्धयुतेषु च ।
गतीन्द्रियादिपिण्डेषु नामभेदेषु वै तथा ॥२६७॥
निर्माणादिष्वपिण्डेषु क्रमः स्याद्विपरीतकः ।
एवं प्रदेशबन्धस्य सकलितः क्रमो मया ॥२६८॥

अर्थ—कर्मोंका राजा कहे जाने वाले मोहनीय कर्ममे देशघातिका जो द्रव्य है उसे आवलीके असंख्यातवें भागसे भाजित करे। एक भागको पृथक् कर बहुभागके दो भाग करो। उनमेसे आधा तथा एकभाग दोनो मिलकर नोकषायोका द्रव्य है और आधा चार सज्वलनकी प्रकृतियोका भाग है। वह नोकषायोका भाग एक साथ बँधने वाली पाँच नोकषायोको हीन क्रमसे दिया जाता है। इसी प्रकार देशघाति सज्वलन कषायका जो देशघातिसम्बन्धी द्रव्य है वह एक कालमे बँधनेवाली प्रकृतियोमे उपर्युक्त क्रमसे देने योग्य है ऐसा आचार्योंने कहा है। पुरुषवेदका निरन्तर बन्ध होनेका काल अन्तर्मुहूर्त है। उससे सख्यातगुणा स्त्रीवेदका, उससे भी सख्यातगुणा हास्य और रतिका, उससे भी सख्यातगुणा अरति और शोकका और उससे भी कुछ अधिक नपुसक-

वेदका है। दानान्तराय आदि पाँच प्रकृतियोमे, तथा एक साथ बँधने वाली नामकर्मकी गति आदि पिण्ड प्रकृतियो और निर्माण आदि अपिण्ड प्रकृतियोमे विपरीत क्रम जानना चाहिए अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक क्रम जानना चाहिए। इस प्रकार प्रदेशबन्धका क्रम संकलित किया गया है ॥२६१-२६८॥

अब उत्कृष्ट प्रदेशबन्धकी सामग्री और उसके स्वामी कहते हैं—

उत्कृष्टयोगसयुक्त संज्ञी पर्याप्तकस्तथा।
अल्पप्रकृतिबन्धाढ्यः कुरुते कोऽपि मानवः ॥२६९॥
प्रदेशबन्धमुत्कृष्ट तद्भिन्नस्तु जघन्यकम्।
उत्कृष्टमायुषो बन्धं प्रदेशं सप्तमस्थितः ॥२७०॥
कुरुते मोहनीयस्य मानवो नवमस्थितः।
शेषाणां सूक्ष्मलोभस्थः करोत्युत्कृष्टयोगतः ॥२७१॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट योगसे सहित है, सज्ञी है, पर्याप्तक है तथा अल्पप्रकृतिबन्धसे युक्त है ऐसा कोई मनुष्य उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है और उससे भिन्न मनुष्य जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सप्तम गुणस्थानवर्ती करता है। मोहनीयका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध नवम गुणस्थानवर्ती करता है और शेष ज्ञानावरणादि कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे रहनेवाला जीव उत्कृष्ट योगसे करता है ॥२६९-२७१॥

आगे उत्तरप्रकृतियोके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धके स्वामी कहते हैं—

उच्चैर्गोत्रयशस्कीर्तिज्ञानदर्शनवैरिणाम्।
विघ्नसद्वेद्ययोर्द्रव्यमुत्कृष्ट दशमस्थितः ॥२७२॥
नरवेदादिपञ्चानां नवमस्थानसुस्थितः।
प्रत्याख्यानचतुष्कस्य सयतासयतस्थितः ॥२७३॥
अप्रत्याख्यानपिण्ड तु तुरीयस्थानसगतः।
षण्णोकषायनिद्राणां प्रचलातीर्थयोस्तथा ॥२७४॥
सम्यग्दृष्टिर्नरामर्त्यायुषोः शस्तनभोगतेः।
समादिचतुरस्रस्य सुभगादित्रिकस्य च ॥२७५॥

देवगतिचतुष्कस्यासद्वेद्यस्याद्यसंहते ।
सम्यग्दृष्टिः कुदृष्टिर्वाहारकयुगलस्य तु ॥२७६॥
अप्रमत्तगुणस्थानसंगतः परमो यतिः ।
प्रदेशबन्धमुत्कृष्टं कुरुते जगतीतले ॥२७७॥

आर्या

षट्षष्टिप्रमितानामवशिष्टानां पुनः प्रभेदानाम् ।
मिथ्यात्वगरलदूषितचेताः कुरुते परं बन्धम् ॥२७८॥

अर्थ—उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति, ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार, अन्तरायकी पाँच और सातावेदनीय इन सत्तरह प्रकृतियोका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध दशमगुणस्थानवर्ती जीव करता है। पुरुषवेदादि पाँचका नवमगुणस्थानवर्ती, प्रत्याख्यानावरणकी चौकडीका सयतासयत गुणस्थानवर्ती, अप्रत्याख्यानावरणकी चार प्रकृतियोका चतुर्थ गुणस्थान-वर्ती, छह नोकषाय, निद्रा, प्रचला और तीर्थंकरप्रकृतिका सम्यग्दृष्टि, मनुष्यायु, देवायु, प्रशस्त विहायोगति, समचतुरस्रसस्थान, सुभगादि तीन, देवगतिचतुष्क, असाता वेदनीय और वज्रवृषभनाराचसहनन इन तेरह प्रकृतियोका सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि—दोनो ही और आहारक युगलका अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती उत्तम मुनि पृथिवीतलपर उत्कृष्ट बन्ध करते हैं ॥२७२-२७७॥ उपर्युक्त चौंवन प्रकृतियोके सिवाय शेष छयासठ प्रकृतियोका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध, मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित चित्तवाला अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव करता है ॥२७८॥

आगे जघन्य प्रदेशबन्धके स्वामी कहते हैं—

अपर्याप्तस्तथा सूक्ष्मो निगोदः सप्तकर्मणाम् ।
आद्ये जघन्यके योगे कुरुतेऽवरबन्धनम् ॥२७९॥
भवत्यायुष्कबन्धेऽपि स एव क्षुद्रजन्तुकः ।
जघन्यमायुषश्चापि द्रव्यं संचिनुतेतराम् ॥२८०॥

अर्थ—अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव पर्यायके प्रथम समयमे जघन्य योगके रहते हुए आयुको छोडकर शेष सात कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है और जब आयुका बन्ध होता है तब वही क्षुद्रजीव आयुकर्म-का भी जघन्य द्रव्य सचित करता है ॥२७९-२८०॥

आगे उत्तरप्रकृतियोके जघन्य बन्धके स्वामी कहते हैं—

असञ्ज्ञी चलयोगश्च श्वभ्रदेवायुषोस्तथा ।
श्वभ्रद्विकस्य वै तुच्छ बन्ध बध्नातिभूतले ॥२८१॥
आहारकयुगस्याथ षष्ठस्थोऽसयतस्थितः ।
कुरुते बन्धन हीनं तीर्थदेवचतुष्कयो ॥२८२॥

चरमापूर्णजन्मस्थश्चाद्यविग्रहसुस्थितः ।
सूक्ष्मसाधारणो जीवो ह्यधमो जीवराशिषु ॥२८३॥
नवोत्तरशताङ्कानां भवकक्षपयोमुचाम् ।
शेषाणां प्रकृतीनाञ्चाऽवरं बध्नाति बन्धनम् ॥२८४॥

समासतः समासाद्य ग्रन्थान्तरसहायताम् ।
इत्थं प्रदेशबन्धोऽयं भाषितः सुरभाषया ॥२८५॥

अर्थ—परिणामयोगस्थानका धारक असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव नरकायु, देवायु, नरकगति और नरकगत्यानुपूर्व्य इन चारका जघन्य प्रदेशबन्ध पृथिवीतलपर करता है ॥२८१॥ आहारकयुगलका षष्ठ गुणस्थानवर्ती और तीर्थंकर तथा देवगतिचतुष्क इन छहका असयतगुण-स्थानवर्ती जघन्य प्रदेशबन्ध करता है ॥२८२॥ अपर्याप्तक एकेन्द्रियके छह हजार बारह क्षुद्रभवोमेसे जो अन्तिम भवमे स्थित है तथा तीन मोडावाली विग्रह गतिके प्रथम मोडामे स्थित है ऐसा सूक्ष्म अपर्याप्तक साधारण सबसे अधम जीव, उपर्युक्त ग्यारह प्रकृतियोमेसे शेष बची उन एकसौ नौ प्रकृतियोका, जोकि ससाररूपी वनको पल्लवित करनेके लिये मेघके समान हैं, जघन्य प्रदेशबन्ध करता है । इस प्रकार अन्य ग्रन्थोकी सहायतासे यह प्रदेशबन्ध सक्षेपसे सस्कृत-भाषामे कहा गया है ॥२८३-२८५॥

इस प्रकार प्रदेशबन्ध पूर्ण हुआ ।

आगे बन्धके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार भेदोका वर्णन करनेके बाद अन्य प्रकारसे उसके भेद कहते हैं—

अनादिसादिभेदेन पुण्यपापविभेदतः ।
द्रव्यभावविभेदाद्वा बन्धोऽय भिद्यते द्विधा ॥२८६॥

यह बन्ध अनादि और सादि, पुण्य और पाप तथा द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार का है। अनादि कालसे जो बन्ध चला आ रहा है वह अनादि बन्ध कहलाता है। जो बन्ध कुछ समयके लिये उपरितन गुण-स्थानोमे जानेके कारण रुक जाता है तथा पश्चात् पुन प्रतिपात होनेसे नीचे आनेपर होने लगता है वह सादि बन्ध कहलाता है। सासारिक सुख देनेवाली सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोका बन्ध होना पुण्यबन्ध तथा नरकादि गतियोका दु ख देनेवाला असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियोका बन्ध होना पापबन्ध कहलाता है। ज्ञानावरणादि पौद्गलिक पिण्डका बन्ध होना द्रव्यबन्ध है तथा उसके कारणभूत आत्माके रागादि परिणाम भावबन्ध है ॥२८६॥

आगे बन्ध ही दु खका कारण है यह कहते है—

शिखरिणी छन्द

यथा सिंहो नानाकठिननिगडैर्बद्धचरणः
प्रचण्डायोदण्डाऽरचितसदनावासनमित ।
चिरं दुःखं भुङ्क्ते विविधविधिसंबद्धहृदय-
स्तथा काये काराभुवि बत वसन् देहिनिचयः ॥२८७॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी कठिन बेडियोसे जिसके चरण बँधे हुए है, जो प्रचण्ड लोहदण्डोसे निर्मित घरमे निवासको प्राप्त है तथा विविध कर्मबन्धोसे जिसका हृदय सबद्ध है ऐसा सिंह जिस प्रकार चिरकालसे दु ख भोगता है उसी प्रकार शरीररूपी कारागारमे निवास करता हुआ यह जीव खेद है कि चिरकालसे दु ख भोग रहा है ॥२८७॥

वशस्थ

यथा पयोदालितिरोहितो रवि-
श्चकास्ति नो जातु निरुद्धदीधितिः ।
तथायमात्मापि निरुद्धचेतनो
न शोभते कर्मकलापसंगतः ॥२८८॥

अर्थ—जिसप्रकार मेघमालाके द्वारा आच्छादित सूर्यकिरणोके रुक जानेसे कभी शोभायमान नही होता उसी प्रकार कर्मसमूहसे युक्त यह जीव चेतना—ज्ञानादि शक्तिके निरुद्ध हो जानेसे कभी—ससार दशामे शोभाय-मान नही होता है ॥२८८॥

आगे सिंहकीअन्योक्तिके द्वारा आत्माके कर्तव्य का निर्देश करते हैं—

मालिनी

प्रखरनखरशस्त्रोद्भिन्नवेतण्डगण्डो-
दुगलितरुचिरमुक्तामण्डलाकीर्णभूमे ।
अयि नृप हरिणानां किं किमेवंविधस्त्व
ह्यनुभवसि निरन्तं दुःखसभारमुग्रम् ॥२८९॥
कुरु कुरु पुरुषार्थं मुञ्च मुञ्चाद्य तन्द्रां
झटिति विकटरावैः पूरयारण्यमेतत् ।
अचिरमिह भवेस्त्वं बन्धनाद् विप्रमुक्तो-
ह्यतुलबलनिधानस्याद्य किं दुष्कर ते ॥२९०॥

अर्थ—अत्यन्त तीक्ष्ण नखरूपी शस्त्रोके द्वारा विदीर्ण हाथियोके गण्डस्थलसे निकले हुए सुन्दर मोतियोके समूहसे जिसने पृथिवीको व्याप्त कर दिया है ऐसा हे मृगराज ! तू इस प्रकारका होता हुआ बहुत भारी अनन्त दु खसमूहको क्यों भोग रहा है ? पुरुषार्थ कर, आज अपनी तन्द्रा को छोड, शीघ्र ही विशाल गर्जनासे इस वनको भर दे, तू शीघ्र ही बन्धनसे मुक्त हो सकता है, निश्चयसे अतुल्य बलके स्थानस्वरूप तेरे लिये आज कठिन क्या है ? यहाँ सिंहके माध्यमसे अनन्त बलके धारक आत्मा को सबोधित किया गया है ॥२८९-२९०॥

आगे प्रश्नोत्तर की रीतिसे बन्धके कारणका कथन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित

भो स्वामिन् किमय जनो भववने दुःख भरन् भ्राम्यति
सद्यः प्राह स कर्मबन्धनिरतः कस्मात् स सजायते ।
रागद्वेषवशादहो प्रभवतः कस्माद् गुरो तावपि
त्विष्टानिष्टविकल्पनात्तत इदं ससारमूल परम् ॥२९१॥

अर्थ—शिष्य गुरुसे पूछता है—हे स्वामिन् ! यह जीव दु खको उठाता हुआ भववन—ससाररूपी अटवीमे क्यो घूम रहा है ? शीघ्र ही गुरुने कहा—कर्मबन्धमे अत्यन्त लीन होनेसे । शिष्यने पूछा कि वह कर्मबन्ध किस कारणसे होता है ? गुरुने उत्तर दिया—रागद्वेषके वशसे । शिष्यने पुन पूछा कि हे गुरुदेव ! वे रागद्वेष क्यो होते हैं ? गुरुने कहा—

इष्ट और अनिष्टकी कल्पनासे। इस प्रकार यह इष्ट-अनिष्टकी कल्पना ही ससारका मूल कारण है।

भावार्थ—यह जीव मिथ्यात्वके उदयमे आत्माके सुखस्वभावको भूलकर पर-पदार्थोसे सुख-दु खकी प्राप्ति मानता है। जिससे वह सुख-की प्राप्ति समझता है उसे इष्ट मानने लगता है और जिससे दु.खकी प्राप्ति मानता है उसे अनिष्ट मानने लगता है। इस इष्ट-अनिष्टकी विपरीत कल्पनासे राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है और उन्ही राग-द्वेषके वशीभूत होनेके कारण उस कर्मबन्धको प्राप्त होता है जिससे ससाररूपी अटवीमे भ्रमण करना पड रहा है। तात्पर्य यह है कि यदि इस भवभ्रमणसे बचनेकी इच्छा है तो सर्वप्रथम आत्मस्वभावकी श्रद्धा करनी चाहिये और पश्चात् उस आत्मस्वभावको प्राप्त करनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। जीवका यह पुरुषार्थ ही सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥२९१॥

इस प्रकार साम्यक्त्वचिन्तामणिमे बन्धतत्त्वका निरूपण करनेवाला सप्तम मयूख पूर्ण हुआ।

अष्टमो मयूखः

अब अष्टम मयूखके प्रारम्भमे मङ्गलाचरण करते हुए तीर्थनायक श्री महावीर स्वामीका स्तवन करते है—

शार्दूलविक्रिडित

वीरः सोऽत्र तनोतु मोदममितं भव्यात्मनां सन्ततं
यस्य ज्ञानदिवेन्द्रदिव्यविपुलालोकेऽखिलालोकने ।
नानाशैलशिखामणि सुरमणिक्रीडाकदम्बोच्छ्रितोऽ-
प्याक्रान्तत्रिजगत्तलोऽचलपतिर्मेरुः स कीटायते ॥१॥

अर्थ—इस जगत्मे वे महावीर भगवान् निरन्तर भव्य जीवोके अपरिमित आनन्दको विस्तृत करें जिनके कि सबको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानरूपी सूर्यके दिव्य तथा विशाल प्रकाशके बीचमे इन्द्रकी क्रीडाओसे समुन्नत, तीनो लोकोमे व्याप्त, नाना पर्वतोका शिरमौर वह पर्वतराज सुमेरु पर्वत भी कीडाके समान जान पडता है।

भावार्थ—जिनके विशाल-अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंसे युक्त केवलज्ञानमे एक लाख योजन ऊँचाई वाला सुमेरु पर्वत भी तुच्छ जान। पडता है वे महावीर भगवान् भव्यात्माओको आत्मिक सुख प्रदान करें॥१।

आगे सवरतत्त्वका वर्णन किया जाता है । अत सर्वप्रथम सवरका लक्षण लिखते है—

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः सोऽभिधीयते ।
द्रव्यभावविभेदेन स तु द्वेधा विभिद्यते ॥२॥
पुद्गलकर्मणां तत्रानास्रवणं द्रव्यसवरः ।
तद्धेतुभावनाभावोऽभिहितो भावसंवरः ॥३॥

अर्थ—जो नवीन कर्मोके आस्रवका रुक जाना है वह सवर कहलाता है। वह सवर, द्रव्यसवर और भावसवरके भेदसे दो प्रकारका है। उनमे पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंका आगमन रुक जाना द्रव्यसवर है और उसके कारणभूत भावनाओका जो सद्भाव है वह भावसवर है ॥२-३॥

आगे सवरका माहात्म्य कहते हैं—

संवरो हि परो बन्धुः संवर परमं हितम् ।
नान्तरा संवरं लोके निर्जरा कार्यकारिणी ॥४॥

अर्थ—लोकमे सवर ही उत्कृष्ट बन्धु है और सवर ही उत्कृष्ट हितकारी है क्योकि सवरके विना निर्जरा कार्यकारी नही है ॥४॥

अब सवरके कारण कहते है—

आर्या

गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयैश्च चारित्रैः ।
तपसाऽपि संवरोऽसौ भवतीति निरूपितं सद्भिः ॥५॥

अर्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र और तपके द्वारा वह सवर होता है ऐसा सत्पुरुषोने कहा है। यहाँ तपसे सवर और निर्जरा दोनोकी सिद्धि समझना चाहिये ॥५॥

आगे गुप्तिका लक्षण और भेद कहते है—

मनसां वचसां किञ्च कायानां च विनिग्रहः ।
तिस्रस्तु गुप्तयस्तत्र प्रोक्ता प्रज्ञायुतैर्जिनैः ॥६॥

अर्थ—मन, वचन और काय योगोका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करना गुप्ति है। केवलज्ञानरूप प्रज्ञासे युक्त जिनेन्द्र भगवान्ने इसके तीन भेद कहे हैं—१ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति और ३ कायगुप्ति। इन सबका अर्थ स्पष्ट है ॥६॥

आगे समितिका व्याख्यान करते हैं—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञिताः ।
एताः समितयः पञ्च जिनचन्द्रनिरूपिता ॥७॥

अर्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ जिनेन्द्र भगवान्की कही है।

भावार्थ—**सम्**–प्रमादरहित **इति**–प्रवृत्तिको समिति कहते है। ससारी प्राणीकी प्रवृत्ति पाँच प्रकारकी ही होती है—१ चलना, २ बोलना, ३ खाना, ४ रखना-उठाना और ५ मलसूत्र छोडना। ससारके समस्त कार्य इन्ही पाँचमे गर्भित हो जाते है। इन पाचोंके विषयमे प्रमादरहित होकर कार्य किया जाय तो ये ही पाँच समितियाँ हो जाती है। १ ईर्या—प्रमादरहित होकर चलना, २ भाषा—प्रमादरहित होकर हित-मित-प्रिय वचन बोलना, ३ एषणा—प्रमादरहित होकर दिनमे एकवार शुद्ध—निर्दोष आहार करना, ४ आदाननिक्षेपण—प्रमादरहित होकर–देखभालकर किसी वस्तुको रखना-उठाना और ५ उत्सर्ग—प्रमादरहित होकर जीवरहित स्थानपर मलमूत्रादि छोड़ना ॥७॥

आगे ईर्यासमितिका विस्तारसे वर्णन करते हैं—

रश्मिमालिकरस्पृष्टे जनसंचारमर्दिते ।
शष्पादिरहिते सूक्ष्म-जन्तुजातविवर्जिते ॥८॥
मार्गे युगमितां दृष्ट्वा पृथ्वीं सावहितो भवन् ।
सद्दयाविमलस्रोतःपवित्रीकृतविष्टप ॥९॥
व्रजन् प्रव्रजितस्वामी शान्तिपीयूषसागरः ।
भण्यते मुनिभिर्जैनैरीर्यासमितिधारकः ॥१०॥
प्रमादयोगमुज्झित्वा गच्छतीह महामुनौ ।
प्राणिनि म्रियमाणेऽपि न मुनिस्तस्य घातकः ॥११॥
न वापि म्रियतां जीवो म्रियतां वा निजेच्छया ।
सप्रमादो यतिस्तत्र पापात्मा भवति ध्रुवम् ॥१२॥
गतः प्रमत्तयोगेन प्राणानां व्यपरोपणम् ।
हिंसनं भवतीत्येवं भाषित पूर्वसूरिभिः ॥१३॥

उक्तञ्च—

'उच्चालिदम्हि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आवाधेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥१॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए ।
मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पमाणदो भणिदो ॥२॥
मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पमदस्स णत्थि बधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥३॥

अर्थ—सूर्यकी किरणोसे स्पृष्ट, मनुष्योके गमनसे मर्दित, घास आदिसे रहित और सूक्ष्मजीवोके समूहसे वर्जित मार्गमे युगप्रमाण भूमिको देखकर जो सावधान होते हुए चल रहे हैं, समीचीन दयारूपी निर्मल निर्झरसे जिन्होने जगत्को पवित्र कर दिया है तथा जो शान्तिरूपी अमृतके सागर हैं ऐसे मुनिराज, जैन मुनियोके द्वारा ईर्यासमितिके धारक कहे जाते हैं। जब महामुनि प्रमादयोग छोडकर चल रहे हैं तब जीवका घात हो जानेपर भी वे उस जीवका घात करनेवाले नही होते हैं। इसके विपरीत मुनि यदि प्रमादसहित होकर चल रहे हैं तो जीव मरे अथवा निजेच्छासे न

मरे, मुनि निश्चित ही पापके भागी होते हैं, क्योकि प्रमत्तयोगसे प्राणोका विघात होना हिंसा है, ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है ॥८-१३॥

जैसा कि कहा गया है—

अर्थ—ईर्यासमितिसे चलनेवाले मुनिने चलते समय मार्गमे अपना पैर ऊपर उठाया और इसी समय कोई क्षुद्रजीव उनके पैरका सयोग पाकर यदि मर जाता है तो उनके उस निमित्तसे होनेवाला सूक्ष्म बन्ध भी आगममे नही कहा गया है क्योकि जिस प्रकार अध्यात्मदृष्टिसे मूर्च्छा—ममता-भावको ही परिग्रह कहा है उसी प्रकार यहाँ रागादिकी उत्पत्तिको ही हिंसा कहा है। जीव मरे अथवा न मरे, अयत्नाचारपूर्वक चलनेवाले मुनिके हिंसा निश्चित रूपसे होती है और जो यत्नाचारपूर्वक ईर्यासमितिसे चल रहा है उसके हिंसामात्रसे बन्ध नही होता है ॥१-३॥

आगे भाषासमितिका वर्णन करते हैं—

हितं मितं प्रियं तथ्यं सर्वसंशयनाशनम् ।
वचनं यस्य साधुः स भाषासमितिधारकः ॥१४॥

वशस्थवृत्त

अये रसज्ञे कविसङ्घसंस्तुते कथं परेषामहिते प्रवर्तसे ।
हिते न ते स्याद्यदि वा प्रवर्तनं प्रमुञ्च दूरादहिते तथापि तत् ॥१५॥

यावता कार्यसिद्धिः स्यात्तावदेव निगद्यताम् ।
शतेन कार्यनिष्पत्तौ सहस्रं कः सुधीस्त्यजेत् ॥१६॥

मालिनी

वदतु वदतु रम्यं सर्वलोकश्रुतीनां
न खलु मधुरवादे दृश्यते कापि हानिः ।
अपि जगति नराणां माधुरी भारतीनां
नृपतिशतकमैत्रीं हेलया सददाति ॥१७॥

अनुष्टुप्

सत्यमेव सदा ब्रूहि प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
न सत्यमन्तरा लोके प्रतिष्ठा प्राप्यते क्वचित् ॥१८॥

आर्या

वनितामृदुभुजयुगलीवेल्लितदोलेव भारती यस्य ।
कुरुते गतागत वै कथं स रसनाफल लभते ॥१९॥

अनुष्टुप्

समितौ प्रवर्तमानोऽयं मुनिः साधुष्वसाधुषु ।
भाषाव्यवहृतिं कुर्यात् हितं चापि मितं वदेत् ॥२०॥
सत्यधर्मधरः किन्तु दीक्षितेष्वेव भिक्षुषु ।
तद्भक्तेषु च धर्मस्य वृद्ध्यर्थं बहुकं वदेत् ॥२१॥

अर्थ—जिसके वचन हित, मित, प्रिय, सत्य और समस्त सशयको नष्ट करनेवाले होते है वह साधु भाषासमितिका धारक कहा जाता है ॥१४॥ रसना इन्द्रियको लक्ष्य कर ग्रन्थकार कहते हैं कि हे कविसमूहके द्वारा प्रशसित रसना इन्द्रिय ! तू दूसरोके अहितमे क्यो प्रवृत्ति करती है ? यदि तेरी हितमे प्रवृत्ति नही होती है तो अहितमे प्रवृत्तिको तो छोड ।

भावार्थ—यदि किसीका हित नहीं कर सकती है तो मत कर किन्तु अहित तो न कर ॥१५॥ जितने वचनसे कार्यकी सिद्धि हो सकती है उतना ही बोलना चाहिये । जो कार्य सौ रुपयेमे सिद्ध हो सकता है उस कार्यके लिये हजार रुपये कौन बुद्धिमान् खर्च करता है ? ॥१६॥ समस्त मनुष्योके कानोके लिये रमणीय-आनन्ददायक वचन बोलना चाहिये क्योकि रमणीय वचन बोलनेमे कोई हानि नही दिखाई देती । ससारमे वचनोकी मधुरता अनायास ही सैकडो राजाओकी मित्रता प्रदान करती है ॥१७॥ कण्ठगत प्राण होनेपर भी सदा सत्य ही बोलना चाहिये, क्योकि सत्यके विना लोकमे कही भी प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती है ॥१८॥ स्त्रियोके कोमल बाहुयुगलसे प्रेरित झूलाके समान जिसकी वाणी गतागत करती रहती है अर्थात् स्थिर नही है वह रसना इन्द्रियके फलको कैसे प्राप्त कर सकता है ॥१९॥ भाषासमितिमे प्रवृत्ति करनेवाला मुनि, साधु तथा साधुसे भिन्न अन्य लोगोके साथ वार्तालाप कर सकता है परन्तु वार्तालापके समय उसे हित मित ही बोलना चाहिये ॥२०॥ परन्तु सत्यधर्मका धारक मुनि, दीक्षित साधुओ और उनके भक्तोसे ही वार्तालाप करता है तथा धर्मकी वृद्धिके लिये अधिक भी बोल सकता है ॥२१॥

आगे एषणासमितिका निरूपण किया जाता है—

इदमौदारिकं देहं न विना भोजनात्स्थिरम् ।
भवेदृते न देहान्मे मोक्षयात्राप्रवर्तनम् ॥२२॥
एवं विचार्य सशुद्धः कृतस्वाध्यायसविधिः ।
प्रतिज्ञानैक्यसंपूर्णः कृतमौनावलम्बनः ॥२३॥

मध्याह्नकालतः पूर्वं नेत्रालोकितभूतलः ।
कलेवरं निजं निन्दन् कर्मपाक विचिन्तयन् ॥२४॥
अन्तरायांस्तथा दोषवृन्द दूरात्परित्यजन् ।
विमलाचारसम्पन्नश्रावकव्रतशालिनाम् ॥२५॥
एकं द्वौ चतुरस्त्रीन् वा पञ्च षट् सप्त वा गृहान् ।
गत्वा विद्युच्चमत्कारं दर्शयन् निजविग्रहम् ॥२६॥
अव्यक्तसूचनां मुञ्चन् याञ्चासकेतदूरगः ।
नवधाविधिसंलाभसम्मानिततपस्तति ॥२७॥
सरसं नीरसं वापि स्निग्ध वापि च कर्कशम् ।
क्षारं वा मधुरं वाप्याहारं स्थित्वैव भूतले ॥२८॥
पाणिभ्यामेव पात्राभ्यामेकवारं दिवैव च ।
गृह्णान सर्वसंतोषी सर्वमान्यो जगद्धितः ॥२९॥
प्रशान्तविग्रहेणैव मोक्षमार्गं निरूपयन् ।
एपणासमितेर्भिक्षुर्धारकः संप्रचक्ष्यते ॥३०॥

अर्थ—'यह औदारिक शरीर भोजनके विना स्थिर नही रह सकता और शरीरके विना मेरी मोक्षयात्राकी प्रवृत्ति नही हो सकती' ऐसा विचार कर जिसने शुद्धि ली है, जो स्वाध्यायकी विधिको पूर्ण कर चुका है, वृत्तिपरिसख्यान तपके लिए जो अनेक प्रकारकी प्रतिज्ञाओसे परिपूर्ण है, जो मौन धारण किये हुए हैं, मध्याह्नकालसे पूर्व जो नेत्रोसे पृथिवीतलको अच्छी तरह देख रहा है, अपने शरीरकी निन्दा करता हुआ जो कर्मोदयका विचार कर रहा है, बत्तीस अन्तराय तथा छयालीस दोषोका जो दूरसे ही त्याग कर रहा है, निर्मल आचारसे युक्त तथा श्रावकके व्रतोसे सुशोभित गृहस्थोके एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह अथवा सात घरो तक जाकर जो विजलीकी कौधके समान अपने शरीरको दिखाता है, जो अव्यक्त सूचनासे रहित है अर्थात् खाँस या खकार कर अपने आनेकी कोई सूचना नही देता है, याचनासम्बन्धी सकेतोसे दूर है, नवधाभक्तिकी प्राप्तिसे जिसने तप समूहका गौरव बढाया है, जो सरस, नीरस, स्निग्ध, रूक्ष, खारे अथवा मीठे आहारको पृथिवीतलपर खड़े होकर ही हस्तयुगलरूप पात्रके द्वारा दिनमे ही एक वार ग्रहण करता है,

सब प्रकारसे जो सतुष्ट है अर्थात् आहारके मिलने, न मिलने अथवा अन्तरायके आ जानेपर भी जिसे असतोष नही होता है, जो सर्वमान्य है, जगत्का हितकारी है और प्रशान्त शरीरके द्वारा ही मोक्षमार्गका निरूपण कर रहा है ऐसा साधु एषणासमितिका धारक कहा जाता है। ॥२२-३०॥

आगे मुनिको परगृह भोजन करनेमे दोष नही है, यह कहते हैं—

वशस्थ

अलिर्यथा पुष्पसमूहशोभिषु
निकुञ्जरङ्गेषु परागपद्धतिम् ।
समाददानः किल पुष्पसंहते-
र्न दृश्यते पुष्पसमूहपीडकः ॥३१॥

तथा मुनिः श्रावकमानुषादय
तदीयगेहेषु सुयोग्यभोजनम् ।
समाददानो न परस्य पीडको
न हानिरत्रास्ति ततोऽन्यभोजने ॥३२॥

स्वभोजनग्रासनिषक्तमानसो
यथा प्रकृत्या सरलो गवां गणः ।
न वीक्षते सुन्दरमन्दिरावलीं
न नेकभूषाचयभूषितां स्त्रियम् ॥३३॥

तथा मुनिस्तेन गृहस्थमन्दिरे
विचित्ररामारमणीयभूतले ।
व्रजन्न दोषोच्चयदूषितः क्वचित्
प्रवर्णितो जैनयतीन्द्रचन्द्रैः ॥३४॥

अर्थ—जिस प्रकार भ्रमर, पुष्पोके समूहसे सुशोभित लतागृहोमें पुष्पसमूहसे परागसमूहको ग्रहण करता हुआ पुष्पसमूहको पीडा पहुँचानेवाला नही देखा जाता है उसी प्रकार यह मुनि श्रावकमनुष्योसे उनके घरोमे योग्य भोजनको ग्रहण करता हुआ दूसरेको पीडा पहुँचानेवाला नही देखा जाता है अत मुनिको दूसरेके घर भोजन करनेमे दोष नही

है। जिस प्रकार स्वभावसे सरल गायोका समूह अपने भोजनके ग्रासमे ही मन लगाता है। वह न सुन्दर भवनोका समूह देखता है और न अनेक आभूषणोसे सुशोभित स्त्रीको देखता है। उसी प्रकार मुनि नाना प्रकारकी सुन्दर स्त्रियोसे सुशोभित गृहस्थके घरमे मात्र अपने पाणिपुटमे स्थित आहारपर मन लगाता है वह वहाँकी न तो साज-सजावटको देखता है और न आहार देनेवाली स्त्रीको देखता है। अत आहारके लिए परगृहमे जानेवाला मुनि दोषोसे दूषित नही होता ऐसे जैन मुनिराजोने कहा है।

भावार्थ—एपणासमितिसे परगृहमे भोजन करनेवाला मुनि, मधुकरी, गोचरी, गर्तपूरण, अक्षम्रक्षण और उदराग्निप्रशमन इन पाँच वृत्तियोका पालन करता है। अत उसके परगृहभोजन करनेमे आचार्योंने कोई दोष नही कहा है। वृत्तियोका अर्थ उनके नामसे स्पष्ट है। ॥३१-३४॥

अब आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप कहते हैं—

ज्ञानसंयमशौचानां साधनानि निरन्तरम् ।
नेत्रयुग्मेन संवीक्ष्य केकिपिच्छेन मार्जयन् ॥३५॥
निक्षिपन्नाददानश्च साधु सद्भावशोभितः ।
उच्यते धारकस्तुर्यसमितेर्मुनिमण्डलैः ॥३६॥

अर्थ—ज्ञान, सयम और शौचके उपकरणो शास्त्र, पीछी और कमण्डलुको दोनो नेत्रोसे अच्छी तरह देखकर तथा मयूरपिच्छसे मार्जन कर जो रखता तथा उठाता है और समीचीन भाव—दयापरिणामसे सुशोभित है ऐसा साधु मुनिसमूहके द्वारा चतुर्थ समितिका धारक कहा जाता है ॥३५-३६॥

आगे व्युत्सर्गसमितिका स्वरूप कहते है—

निर्जन्तु स्थानमालोक्य मृगस्त्रीषण्डवर्जितम् ।
सिङ्घाणमलमूत्रश्लेष्मादिकं सत्यजन् यतिः ॥३७॥
अयुक्तोऽनवधानेन सद्दयाभावमण्डितः ।
व्युत्सर्गसमितेः प्रोक्तो धारको मुनिसत्तमैः ॥३८॥

अर्थ—जीवरहित तथा पशु, स्त्री और नपुसकोसे वर्जित स्थानको देखकर जो नाक, मल, मूत्र तथा खकार आदिको छोड़ता है, असाव-

धानीसे रहित है और उत्तम दयाभावसे सुशोभित है ऐसा साधु श्रेष्ठ-मुनिवरोके द्वारा व्युत्सर्गसमितिका धारक कहा गया है ॥३७-३८॥

आगे दश धर्मोका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम उत्तम क्षमाका वर्णन करते हैं—

कालुष्यस्य ह्यनुत्पत्तिः सत्यपि क्रोधकारणे ।
क्षमा जिनैर्जितक्रोध-दानवैर्गदितागमे ॥३९॥
क्षमते सर्वशत्रूणामपराधशतानि यः ।
सर्वत्र श व्रजत्येव स नरः शत्रुभञ्जनः ॥४०॥
क्षमाचिन्तामणिर्नित्यं वर्तते यस्य सन्निधौ ।
त्रिलोक्यामपि किं तस्य दुर्लभ ब्रूहि वर्तते ॥४१॥
यस्य पाणौ क्षमाखड्गस्तीक्ष्णधारो हि विद्यते ।
किं कुर्युस्तस्य सैन्यानि शत्रूणां समराङ्गणे ॥४२॥
पुरुषः शर्मशैत्य यो निजचेतसि लिप्सति ।
कोपवैश्वानरज्वालां क्षमातोयैः स वारयेत् ॥४३॥
क्षमावर्मपरीतोऽस्ति विग्रहो यस्य देहिनः ।
किं कुर्वन्ति शरास्तस्य शत्रुसंघातमोचिताः ॥४४॥

आर्या

अवगाहनमात्रेण परमानन्दप्रद शिव ददती ।
भागीरथीव विमला कलिमलसहारिणी क्षमा जयति ॥४५॥
अविरलजनसताप दूरादेव क्षणेन वै जगताम् ।
ज्योत्स्नेव सहरन्ती क्षमा विजयते पर लोके ॥४६॥
उच्चलच्चपलतुरङ्गैर्मत्तगजेन्द्रैर्भटैर्युता सेना ।
नाल य च विजेतु क्षमा क्षणार्धेन त जयति ॥४७॥

इन्द्रवज्रा

या भव्यजीवान् भुवि भावुकानां
सङ्घ सवित्रीव सदा ब्रवीति ।
दुर्जेयजन्तून् क्षणतो विजेतु-
मर्हां क्षमां तामहमर्चयामि ॥४८॥

अर्थ--क्रोधका कारण रहते हुए भी कलुषता—क्रोधकी उत्पत्ति नही होना, इसे क्रोधरूपी दानवको जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान्ने आगममे क्षमा कहा है ॥३९॥ जो समस्त शत्रुओके सैकडो अपराधोको क्षमा करता है वह शत्रुओको नष्ट करनेवाला मनुष्य सर्वत्र सुखको ही प्राप्त होता है ॥४०॥ जिस मनुष्यके पास निरन्तर क्षमारूपी चिन्तामणिरत्न रहता है तीनो लोकोमे उसके लिए क्या दुर्लभ है ? कहो, अर्थात् कुछ भी दुर्लभ नही है ॥४१॥ जिसके हाथमे पैनी धारवाला क्षमारूपी कृपाण विद्यमान है, शत्रुओकी सेनाएँ रणङ्गणमे उसका क्या कर सकती है ? ॥४२॥ जो मनुष्य अपने मनमे शीतलतारूपी सुखको प्राप्त करना चाहता है उसे क्षमा-रूपी जलके द्वारा क्रोधरूपी अग्निकी ज्वालाओको शान्त करना चाहिये ॥४३॥ जिसका शरीर क्षमारूपी कवचसे वेष्टित है, शत्रुसमूहके द्वारा छोड़े हुए बाण उसका क्या कर सकते है ॥४४॥ जो अवगाहनमात्रसे परमानन्ददायक मोक्षको प्रदान करती है, गङ्गाके समान निर्मल है और पापरूपी मैलका सहार करनेवाली है वह क्षमा जयवन्त है—सबसे उत्कृष्ट है ॥४५॥ जो जगत्के अविरल–व्यवधानरहित सतापको परमार्थसे क्षणभरमे चाँदनीके समान नष्ट कर देती है ऐसी क्षमा लोकमे अतिशय श्रेष्ठ है ॥४६॥ उछलते हुए चञ्चल घोडो मदोन्मत्त हाथियो और योद्धाओसे सहित सेना जिसे जीतनेके लिए समर्थ नही है, उस शत्रुको क्षमा आधे क्षणमें जीत लेती है ॥४७॥ जो भव्य जीवोको पृथिवीतलपर माताके समान सदा सुखका उपदेश देनेवाली है, तथा जो कठिनाईसे जीतने योग्य जन्तुओको आधे क्षणमे जीत लेनेमे समर्थ है, तथा दुर्जेय शत्रुओको जो क्षणभरमे जीत लेती है उस क्षमाकी मैं अर्चा करता हूँ ॥४८॥

आगे मार्दवधर्मका वर्णन करते हैं—

मृदोर्मर्त्यस्य यो भावो मार्दवः सोऽभिधीयते ।
मार्दवमन्तरा मर्त्यो लभते नैव मङ्गलम ॥४९॥

मार्दवोऽयमलंकारो वर्तते यस्य मन्निधौ ।
तस्य पूरुषरत्नस्य प्रवश्या मुक्तिमानिनी ॥५०॥

मार्दवमण्डिते मर्त्ये प्रसीदन्ति जगज्जनाः ।
विपुला कमला तेन जायते तस्य भूतले ॥५१॥

आर्या

खरतरखरकरबिम्बोत्तुलितसहस्रारचक्रचारेण ।
आयत्तीकृतसागरवासोवसुधस्य चक्रिरत्नस्य ।।५२।।
यत्राखर्वो गर्वो जातः खर्वः कनिष्ठसोदर्यात् ।
तत्रान्येषां गर्वो न भवेत् खर्वः किमत्र सन्ब्रूहि ।।५३।।

अनुष्टुप्

विद्याविभवयुक्तोऽप्यहङ्कारी जनतेश्वरः ।
दूरादेव जनैस्त्याज्यो मणियुक्तफणीन्द्रवत् ।।५४।।

आर्या

मृदुतानौकानिचयो नून यस्येह विद्यते पुसः ।
तस्य भवः पाथोधिर्विस्तीर्णोऽपि च कियानस्ति ।।५५।।
मृदुतागुणपरिशोभितचित्ते प्रतिफलति भारती जैनी ।
दर्पणतल इव विमले मरीचिमाला दिनेशस्य ।।५६।।
मार्दवघनाघनोऽय मानदवाग्निप्रदीप्तभवकक्षम् ।
सत्प्रीतिवारिधारां मुञ्चन्निमिषेण सान्त्वयति ।।५७।।

इन्द्रवज्रा

सर्वज्ञ सद्भावविशोभमानं
मानच्युतौ जातमिहातिमानम् ।
त मार्दव मानवधर्ममार्य-
प्रार्थ्यं प्रवन्दे शतधा प्रभक्त्या ।।५८।।

अर्थ—मृदु—कोमल—विनीत मनुष्यका जो भाव है वह मार्दव धर्म कहलाता है। मार्दव धर्मके बिना मनुष्य मङ्गलको प्राप्त नही होता है ।।४९।। वह मार्दवधर्मरूपी आभूषण जिस मनुष्यके पास होता है मुक्ति-रूपी स्त्री उस श्रेष्ठ मनुष्यके वशीभूत होती है ।।५०।। मार्दवधर्मसे सुशो-भित मनुष्यपर जगत्के जीव प्रसन्न रहते हैं और उससे पृथ्वीतलपर उस मनुष्यको भारी लक्ष्मी प्राप्त होती है ।।५१।।

अत्यन्त तीक्ष्ण सूर्यबिम्बके समान हजार अरवाले चक्ररत्नके सचारसे जिसने समुद्रान्त पृथिवीको वश कर लिया था ऐसे चक्रवर्ती—भरतका

महान् गर्व जहाँ छोटे भाईसे नष्ट हो गया वहाँ दूसरोका गर्व नष्ट क्यो नही होगा ? कहो ॥५२-५३॥ जो राजा विद्याविभवसे युक्त होकर भी अहंकारी है वह मणियारे सर्पके समान दूरसे छोड देनेके योग्य है ॥५४॥ इस जगत्मे जिस पुरुषके समीप निश्चयसे मार्दवधर्मरूपी नौकाओका समूह विद्यमान है उसके लिए संसाररूपी सागर विस्तीर्ण होनेपर भी कितना है ? अर्थात् बहुत छोटा है ॥५५॥ मार्दवधर्मरूपी गुणसे सुशोभित चित्तमे जिनवाणी उस प्रकार प्रतिफलित होती है जिस प्रकार कि निर्मल दर्पणतलमे सूर्यकी किरणावली प्रतिफलित होती है ॥५६॥ यह मार्दव धर्मरूपी मेघ, उत्तम प्रीतिरूपी जलधाराको छोडता हुआ मानरूपी दावानलसे जलते हुए ससाररूपी वनको निमेषमात्रमे शान्त कर देता है ॥५७॥

जो सर्वत्र—इष्ट-अनिष्ट वस्तुओमे समीचीन भावसे शोभमान है, मान कषायका अभाव होनेपर जो उत्पन्न होता है, बहुत भारी सन्मानसे सहित है और आर्य मनुष्य जिसकी प्रार्थना करते है—जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं उस मार्दवधर्मको हम सैकडो प्रकारकी बहुत भारी भक्तिसे नमस्कार करते हैं ॥५८॥

आगे आर्जव धर्मका वर्णन करते हैं—

ऋजोर्नरस्य यो भाव आर्जवः सोऽभिधीयते ।
आर्जवमन्तरा पुंसां न श्रेयःसन्निधिर्भवेत् ॥५९॥
कर्मबन्धाद् विभीतोऽस्ति यदि तन्मुञ्च वक्रताम् ।
मनसो वक्रतैवेयं कर्मबन्धनकारणम् ॥६०॥
मायाविषधरीदष्टमूर्च्छिताखिलसंसृतौ ।
समुक्तं वीरवैद्येन ह्यार्जवोऽयं महौषधम् ॥६१॥

आर्या

भवपाथोधिभ्रमरीं मायां मोक्तु समस्ति यदि ते धीः ।
आर्जवधर्मसुपोतं तर्ह्यविलम्बं समालम्बय ॥६२॥
मायाशङ्कुप्रपूरितचेतसि पुसः सरस्वती जैनी ।
पादक्षतेर्भियेवादधाति पादं न कुत्रचिल्लोके ॥६३॥
पन्नगवेष्टितवित्तं यथा न लाभाय कल्पते पुंसाम् ।
मायाचारयुतस्य तथा न विद्या धनं चापि ॥६४॥

मायापरिषत्पूरितचेतःसङ्गं ह्यवाप्य धीः शुभ्रा ।
कालिन्दीजलतुलिता मलिना निमिषेण संभवति ॥६५॥
अयमार्जवः सुधर्मः कुरुते चेतःप्रसादमतिविमलम् ।
तेन च कर्माभावः क्षणेन संजायते लोके ॥६६॥
अयमाश्रितस्तु तेन ह्यार्जवधर्मो जिनेन्द्रचन्द्रोक्तः ।
तस्य न निविडे कुटिले भवकान्तारे परिभ्रमणम् ॥६७॥

उपेन्द्रवज्रा

मनोवचःकायकदम्बकानां
समानता यस्य समस्ति लक्ष्म ।
तमार्जवं सन्ततमर्जनीय
यतीन्द्रपूज्यं परिपूजयाम ॥६८॥

अर्थ—ऋजु-सरल मनुष्यका जो भाव है वह आर्जव कहलाता है। आर्जवके विना पुरुषोको कल्याणकी प्राप्ति नही होती ॥५९॥ हे प्राणिन्! यदि तू कर्मबन्धसे भयभीत है तो कुटिलताको छोड, क्योकि यह मनकी कुटिलता ही कर्मबन्धका कारण है ॥६०॥ यह समस्त ससार मायारूपी सर्पिणीके द्वारा डशा जाकर मूर्च्छित हो रहा है, इसलिये भगवान् महावीर रूपी वैद्यने यह आर्जवधर्मरूपी उत्कृष्ट औषधि कही है ॥६१॥ हे जीव! यदि तेरी बुद्धि ससाररूपी समुद्रकी भँवरको छोडनेके लिये उत्सुक है तो शीघ्र ही आर्जवधर्मरूपी उत्तम जहाजका आलम्बन ग्रहण कर ॥६२॥ पुरुषके मायारूपी कीलोसे भरे हुए चित्तमे जिनवाणी लोकमे कही भी चरणके घायल होनेके भयसे ही मानो चरण नही रखती है। भावार्थ—मायावी मनुष्यके हृदयमे जिनवाणीका प्रवेश नही होता है ॥६३॥ जिस प्रकार सर्पसे वेष्टित धन पुरुषोके लाभके लिये नही होता है उसी प्रकार मायाचारी मनुष्यकी विद्या और धन भी पुरुषोके लाभके लिये नही होता ॥६४॥ मायारूपी कीचडसे भरे हुए चित्तका सम्बन्ध पाकर निर्मल बुद्धि निमेषमात्रमे यमुनाके जलके समान मलिन हो जाती है ॥६५॥ यह आर्जव धर्म चित्तकी बहुत भारी निर्मलतासे युक्त प्रसन्नता करता है उस प्रसन्नताके द्वारा जगत्मे शीघ्र ही कर्मोका अभाव हो जाता है ॥६६॥ जिसने जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए इस आर्जव धर्मका

१. 'परिषत्कर्दम पङ्क' इति धनंजय ।

आश्रय लिया है उसका सघन तथा कुटिल ससाररूपी अटवीमे परिभ्रमण नही होता है ॥६७॥ मन, वचन, काय इन तीनोके समूहकी समानता ही जिसका लक्षण है, जो निरन्तर अर्जन करनेके योग्य है और बडे बड़े मुनिराज जिसकी पूजा करते है उस आर्जव धर्मकी हम पूजा करते है ॥६८॥

आगे शौचधर्मका व्याख्यान करते है—

शिखरिणी

शुचेर्भावं शौचं निगदतितरां सूरिनिचयो
भवेल्लोभाभावे स च किल निजाधीनमनसाम्।
ऋते शौचात्पुंसां न हि न हि भवेन्मुक्तिवसति-
र्ह्यजस्रं तत्तुष्ट्या कलयतु जगच्छौचसुगुणम् ॥६९॥

अनुष्टुप्

दुराशाशाकिनीग्रस्ते लोके दुर्ललिते सति।
सन्तोष परमो मन्त्रः शासितो जिनसूरिभिः ॥७०॥
तृष्णा हि वल्लरी सैषा त्रिलोक्यां ततपल्लवा।
सन्तोषेण कुठारेण हन्यतां सुखलिप्सुभिः ॥७१॥

इन्द्रवज्रा

सन्तोषमेकं परिहाय लोकाः
शैले वने व्योमनि भूमिमध्ये।
अब्धौ रणे वह्निचयेऽपि वाप्यां
प्राणाभिलाषाद् विरता भ्रमन्ति ॥७२॥

आर्या

सन्तोषामृततुष्टास्त्रिलोकराज्यं तृणाय मन्यन्ते।
अपि भो कष्टसहस्रयां पतिता दुःखं लभन्ते न ॥७३॥
एकस्येह करस्थ त्यक्तुं वस्तु प्रवर्तते वाञ्छा।
इतरो गगननिषण्ण वाञ्छति चन्द्रं स्वसात्कर्तुम् ॥७४॥
अयमेव शौचधर्मो ह्यात्मबलं संददाति लोकानाम्।
यदखिलकार्यकलापे निमित्तमाद्यं प्रभण्यते सद्भिः ॥७५॥

चित्ते यस्य न वासः शौचगुणस्यास्ति भूलोके।
सकलमुखानुप्रेक्षी दीनतरोऽसावितस्ततो भ्रमति ॥७६॥
चित्त परमपवित्र सकलकलानां कुलालयो भवति।
दूषितहृदयावसथात् कला विलीना भवन्ति ता एव ॥७७॥

इन्द्रवज्रा

कस्यापि यत्रास्ति न काचिदिच्छा
पाविध्यसमन्दिरमिन्द्रवन्द्यम्।
तं लोभलोपे किल जातमात्म्यं
धर्मं सदा शौचमहं नमामि ॥७८॥

अर्थ—शुचि मनुष्यका जो भाव है उसे आचार्योंका समूह शौच कहता है। वह शौचधर्म लोभकषायके अभावमे प्रकट होता है। शौचधर्मके विना पुरुषोका मुक्तिमे निवास नही हो सकता है, इसलिये जगत् निश्चयसे सतोषपूर्वक उत्तम शौच गुणको धारण करे ॥६९॥ जब यह लोक दुष्ट तृष्णारूपी पिशाचीके द्वारा ग्रस्त होकर दुखी हो गया तब जैनाचार्योंने सतोषरूपी उत्तम मन्त्रका उपदेश दिया। भावार्थ—सतोषके द्वारा ही तृष्णाको जीतनेका मार्ग बताया ॥७०॥ तीन लोकमे जिसके पल्लव फैले हुए हैं ऐसी इस तृष्णारूपी लताको सुखके इच्छुक मनुष्य सतोषरूपी कुल्हाडेके द्वारा नष्ट करें ॥७१॥ एक सतोषको छोडकर मनुष्य, प्राणोकी इच्छासे विरत होते हुए पहाडमे, वनमे, आकाशमे, भूमितलमे, समुद्रमें, रणमे, अग्निसमूहमे और वापिकामे भ्रमण करते हैं ॥७२॥ सतोषरूपी अमृतसे संतुष्ट मनुष्य तीन लोकके राज्यको भी तृणके समान तुच्छ मानते हैं और हजारो कष्टोमे पडकर भी दु खको नही प्राप्त होते हैं—दु खोके बीच रहते हुए भी दु खका अनुभव नही करते हैं ॥७३॥ इस जगत्मे किसी एक मनुष्यकी इच्छा हाथमे स्थित वस्तुको छोडनेके लिये प्रवृत्त होती है और कोई दूसरा मनुष्य आकाशमे स्थित चन्द्रमाको भी अपने अधीन करनेकी इच्छा करता है। भावार्थ—सतोषी मनुष्य समीपकी वस्तुको छोडना चाहता है और असतोषी मनुष्य, जिसके प्राप्त होनेकी सभावना नही है उस वस्तुको भी प्राप्त कर लेना चाहता है ॥७४॥ यह शौचधर्म ही मनुष्योके लिये वह आत्मबल देता है जो सत्पुरुषोके द्वारा समस्त कार्योंके कलापमे प्रथम निमित्त कहा जाता है। भावार्थ—प्रत्येक कार्यकी सिद्धिका मूल कारण आत्मबल है और उसकी प्राप्ति सतोषके

द्वारा होती है ।।७५।। इस पृथिवीलोकपर जिस मनुष्यके चित्तमे शौचगुण-का निवास नही है वह अत्यन्त दीन हो समस्त मनुष्योकी ओर देखता हुआ इधर-उधर भ्रमण करता है ।।७६।। परम पवित्र चित्त ही समस्त कलाओका कुलभवन होता है और दूषितहृदयरूपी घरसे वे ही कलाए विलीन हो जाती है—नष्ट हो जाती है। भावार्थ—सतोषी मनुष्यमे समस्त कालओका निवास स्वयं होता है और असतोषी मनुष्यकी समस्त कलाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं ।।७७।। जिसमे किसी वस्तुकी कोई इच्छा नही है, जो पवित्रताका मन्दिर है, इन्द्रोके द्वारा वन्दनीय है, लोभ कषायका अभाव हो जानेपर जो प्रकट होता है तथा आत्माके लिये अत्यन्त हित-कारी है उस शौचधर्मको मै सदा नमस्कार करता हूँ ।।७८।।

आगे सत्यधर्मका वर्णन करते हैं—

आर्या

असदभिधानत्यागः सत्य संचक्ष्यते सुधीसङ्घैः ।
अयमेव सत्यवादो निःशङ्कं प्राणिनं कुरुते ।।७९।।

सत्येन नरो लोके धवलां विमलामुपैति सत्कीर्तिम् ।
कीर्त्या च मुदितचेता भवतीह निरन्तर नूनम् ।।८०।।

सत्यादृते स कश्चिज्जगत्प्रसिद्धो वसुः क्षमापालः ।
अगमन्नरकागारं ह्यहो दुरन्तो मृषावादः ।।८१।।

यश्चैकं किल सत्यं पूर्णं संभाषते सदा लोकः ।
तेन हिंसादिपापात् कृता निवृत्तिर्ह्यनायासात् ।।८२।।

संसारसिन्धुतरणे सत्यं पोतायते चिर पुंसाम् ।
सत्येन विना लोका ध्रुवं ब्रुडन्तीह भवसिन्धौ ।।८३।।

उपेन्द्रवज्रा

कथञ्चिदेतद्यदि सत्यतत्त्व
भवेद् विलुप्त जगतीतलाद् भोः ।
तदा व्यवस्थाव्यवहारहीनं
क्षणेन शीर्येत जगत् समस्तम् ।।८४।।

अनुष्टुप्

कायक्लेशकरैः किम्वा तपोभिर्बहुभिः कृतैः ।
यदि सत्यस्य वासेन न स्वान्त सुरभीकृतम् ॥८५॥
असत्याहिगरावेग-मूर्च्छाले जनचेतसि ।
नालं सुखेन सद्भावाः क्षणं स्थातुं भवन्ति हि ॥८६॥

आर्या

सत्यहिमानीमण्डितनिखिलशरीरोऽपवाददावाग्नौ ।
लभते परमानन्दं तदितरजनदुर्लभं लोके ॥८७॥

इन्द्रवज्रा

सत्येन मुक्तिः सत्येन भुक्तिः
स्वर्गेऽपि सत्येन पदप्रसक्तिः ।
सत्यात्परं नास्ति यतः सुतत्त्वं
सत्यं ततो नौमि सदा समर्चितः ॥८८॥

अर्थ—असदभिधान—असत्यकथनका त्याग करना विद्वज्जनोंके द्वारा सत्य कहा जाता है। यह सत्यधर्म ही प्राणीको निर्भय करता है। भावार्थ—असदभिधानके चार अर्थ है—(१) न सत् असत् तस्याभिधान अर्थात् अविद्यमान वस्तुका कथन करना यह अविद्यमान वस्तुको विद्यमान कहनेवाला असदुद्भावी नामका पहला असत्य है। (२) सत अभिधानम् सदभिधानं, न सदभिधानम् असदभिधानम् अर्थात् विद्यमान वस्तुका कथन नही करना यह सदपलाप नामका दूसरा असत्य है। (३) ईषत् सत् असत् तस्याभिधानम् असदभिधानम् अर्थात् जो वस्तु तद्रूप तो नही है किन्तु तत्सदृश है उसे असत् कहते हैं। जैसे भार वहनकी समानताके कारण अश्वको वृषभ कहना। यह अन्यरूपाभिधान नामका तीसरा असत्य है और (४) सत् प्रशस्त, न सत् असत् अप्रशस्तमिति यावत् तस्याभिधानम् असदभिधानम् अर्थात् अप्रिय आदि अप्रशस्त वचन। यह अप्रियवचनादि चतुर्थ असत्य है। इन चारो प्रकारके असत्यका त्याग करना ही सत्यवचन कहलाता है। सत्यकथनसे मनुष्य सदा निर्भय रहता है ॥७९॥ सत्यवचनसे ही मनुष्य लोकमे उज्ज्वल तथा निर्मल सुयशको प्राप्त होता है और सुयशके द्वारा निश्चित ही निरन्तर प्रसन्नचित्त रहता है ॥८०॥ सत्यवचनके विना वह जगत्प्रसिद्ध वसु राजा नरकको

प्राप्त हुआ। अहो! असत्य वचनका फल बडा दु खदायक होता है ॥८१॥ जो मनुष्य सदा एक सत्य वचनको ही पूर्णरूपसे बोलता है उसके द्वारा हिंसादि पापोका त्याग अनायास हो जाता है ॥८२॥ सत्यधर्म, ससाररूपी समुद्रसे तैरनेके लिए पुरुषोको चिरस्थायी जहाजके समान है। सत्यवचनके बिना मनुष्य निश्चित ही इस ससार-सागरमे डूब जाते हैं ॥८३॥

यदि यह सत्यधर्म पृथिवीतलसे किसी प्रकार लुप्त हो जावे तो यह समस्त जगत् व्यवस्था और व्यवहारसे रहित होकर क्षणभरमे नष्ट-भ्रष्ट हो जावेगा ॥८४॥ यदि हृदय सत्यधर्मके निवाससे सुवासित नही है तो कायक्लेशको करनेवाले बहुत भारी तपोके करनेसे क्या होनेवाला है? अर्थात् कुछ भी नही ॥८५॥ असत्यरूपी सर्पविषके वेगसे मूर्च्छित मनुष्यके हृदयमे उत्तमभाव क्षणभरके लिए भी सुखसे निवास करनेमे समर्थ नही है ॥८६॥ जिसका समस्त शरीर सत्यधर्मरूपी बहुत भारी हिमसे सुशोभित है वह जगत्मे अपवादरूपी दावानलके बीच भी अन्यजन दुर्लभ परमानन्दको प्राप्त होता है ॥८७॥

सत्यसे ही मुक्ति होती है, सत्यसे ही भोगसम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, सत्यसे ही स्वर्गकी प्राप्ति होती है और जिस कारण सत्यसे बढकर दूसरा तत्त्व नही है इस कारण मै भक्तिसहित सत्यधर्मको सदा नमस्कार करता हूँ ॥८८॥

आगे सयमधर्मका कथन करते हैं—

सयमो मनसोऽक्षाणां वृत्तेः संयमनः मतः।
प्राणीन्द्रियविभेदेन स तु द्वेधा विभिद्यते ॥८९॥
भूजलानलवायूनां तरूणां चरतां तथा।
हिंसनाद् विरतिः प्राणिसयमः षड्विधो मतः ॥९०॥
इन्द्रियाणां सचित्तानां विषयेष्वप्रवर्तनम्।
इन्द्रियसयमः प्रोक्तः षोढा कोविदसम्मत ॥९१॥

आर्या

द्वादशविध स एवं मुक्त्यै भणितः सुसंयम सद्भिः।
गतसंयमो जनोऽयं चिरं हिण्डते भवाटवीमध्ये ॥९२॥

द्रुतविलम्बित

विषयदानवमण्डलमण्डिते
विविधदुःखचयं समुपाश्रिते ।
जगति दुर्ललिते सति सयमो
ह्युदभवत्किल राममहीपतिः ॥९३॥

रथोद्धता

संयमो मुनिजनानुरञ्जनः संयमो भवरज प्रभञ्जन ।
संयमो निजहितस्य बोधकः संयमो निखिलकर्मरोधकः॥९४॥

स्वागता

संयमो यदि भवेन्न जगत्यां प्राणिवर्गपरिरक्षणदक्षः ।
तन्निगोदनरकादिनिवासे क पतज्जनततिं प्रतिरुन्ध्यात्॥९५॥

आर्या

सयमसहिता यतयः सुरनरपतिभि सदा प्रणम्यन्ते ।
अपि च लभन्तेऽमुत्रामन्दानन्दस्य वै कन्दम् ॥९६॥
सयमिजनवरहृदये दयास्रवन्ती सदातना वहति ।
अविरलकलरवनिचय कुर्वाणा प्रेमरसपूर्णा ॥९७॥

वसन्ततिलका

षट्कायकायिपरिपालनसंप्रवीण-
मक्षप्रसारहरणेऽपि धुरीणमेतम् ।
तं संयम सुरकदम्बकदुर्लभं वै
चित्ते दधामि सततं वरभक्तिभावात् ॥९८॥

अर्थ—मन और इन्द्रियोकी वृत्तिको रोकना सयम माना गया है। वह सयम प्राणिसयम और इन्द्रियसयमके भेदसे दो प्रकारका होता है ॥८९॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवोकी हिंसासे विरक्त होना छह प्रकारका प्राणिसयम माना गया है ॥९०॥ मनसहित पञ्च इन्द्रियोका विषयोमे प्रवृत्त नही होना छह प्रकारका इन्द्रियसयम कहा गया है। यह इन्द्रियसयम विद्वज्जनोको अतिशये इष्ट है ॥९१॥ इस

प्रकार यह बारह प्रकारका सयम सत्पुरुषोके द्वारा मुक्तिके लिए कहा गया है। संयमसे रहित यह मनुष्य ससाररूपी अटवीके मध्यमे चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है ॥९२॥

जब यह जगत् विषयरूपी राक्षसोके समूहसे दण्डित होता हुआ नाना दु खोके समूहको प्राप्त होकर अस्तव्यस्त—दु खी हो गया तब सयमरूपी रामराजा निश्चयसे उत्पन्न हुए। भावार्थ—जिस प्रकार लोकप्रसिद्धिके अनुसार रामचन्द्रजीने राक्षसोका नाश किया था उसी प्रकार सयम विषयोका नाश करता है ॥९३॥ सयम, मुनिजनोको हर्षित करनेवाला है। संयम, ससाररूपी धूलीको उडानेके लिए प्रचण्ड वायु है। सयम, आत्महितको बतानेवाला है और सयम समस्त कर्मोंको रोकनेवाला है अर्थात् सयम ही परम सवर है ॥९४॥ यदि पृथिवीपर प्राणिसमूहकी रक्षा करनेमे समर्थ सयम नही होता तो निगोद और नरकादि गतियोमे पड़ते हुए जनसमूहको कौन रोकता? ॥९५॥ सयमसे सहित मुनि इस लोकमे सदा देवेन्द्र और नरेन्द्रोके द्वारा नमस्कृत होते हैं तथा परभवमे नियमसे बहुत भारी हर्षके समूहको प्राप्त होते है ॥९६॥ सयमी मनुष्योके हृदयमे प्रेमरससे परिपूर्ण दयारूपी नदी निरन्तर कलकल शब्दसमूहको करती हुई निरन्तर बहती है ॥९७॥

जो छहकायके जीवोकी रक्षा करनेमे अतिशय निपुण है, इन्द्रियोका प्रसार रोकनेमे भी समर्थ है तथा देवसमूहको दुष्प्राप्य है उस सयमधर्मको मै उत्कृष्ट भक्तिभावसे सदा हृदयमे धारण करता हूँ ॥९८॥

आगे तपधर्मका वर्णन किया जाता है—

आर्या

इच्छानां विनिरोधस्तपः प्रगीत महर्षिसंघातैः।
बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्वेधा तद् भिद्यते मुनिभिः ॥९९॥

अनुष्टुप्

उपवासादिभेदेन प्रायश्चित्तादिभेदतः।
षोढा षोढा विभिद्येते तपसी ते द्विधोदिते ॥१००॥
इद तपो महातत्त्व मुनिनाथानुमोदितम्।
आस्रवत्कर्मसंघातघातकं भवनाशनम् ॥१०१॥

उपेन्द्रवज्रा

प्रचण्डवैश्वानरमध्यलीनं यथा विशुद्धं भवतीह भर्म ।
तथा तपोवह्निचयप्रतप्तो ह्ययं निजात्मा भवति प्रशुद्धः ॥१०२॥

आर्या

उत्कटमनोऽश्वरोधस्तपःखलीनेन जायते नियमात् ।
उन्मत्तेन्द्रियदमनं तपोऽन्तरा नैव जायते पुंसाम् ॥१०३॥
त्रिदिवे त्रिदिवरमाभी रन्तुं साकं समस्ति यदि ते धीः ।
एकं तपसामुपचयमुपचिनुहि निरन्तरं तद् भोः ॥१०४॥
मुक्तिरमावरसङ्गमनोत्कं चेतो हि वर्तते यदि ते ।
तर्ह्यविलम्ब्य तपसां सङ्घं रत्नानि सञ्चिनुहि ॥१०५॥
तीव्रं तपःप्रभावं दृष्ट्वा जैनेतरे जना जैना ।
जायन्ते जगतीह क्षणेन जैनत्वसंपन्नाः ॥१०६॥
प्रावृषि वज्राघातैर्गिरिशिखराणीव कर्मशिखराणि ।
पुंसां तपोभिरत्र क्षणेन चूर्णानि जायन्ते ॥१०७॥

उपजाति

इच्छानिरोधः खलु यस्य लक्ष्म
सर्वत्र सव्यापकमस्ति तस्य ।
ध्यानादिभिन्नस्य हृतश्रमस्य
सदा हृदाहं तपसः स्मरामि ॥१०८॥

अर्थ—इच्छाओंके रुक जानेको महर्षियोके समूहने तप कहा है। वह तप बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है ॥९९॥ वे दोनो प्रकारके तप उपवासादिके भेदसे और प्रायश्चित्तादिके भेदसे छह छह प्रकारके कहे गये है। भावार्थ—बाह्य तपके उपवास, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेशके भेदसे छह भेद हैं तथा आभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह भेद हैं ॥१००॥ मुनिराजोके द्वारा अनुमोदित यह तप-रूपी महातत्त्व, आनेवाले कर्मसमूहको रोकनेवाला तथा संसारका नाश

करने वाला है। भावार्थ—तपके प्रभावसे ही नवीन कर्मोका आस्रव रुकता है और सत्तामे स्थित कर्मोकी निर्जरा होती है जिससे ससार-भ्रमण दूर होता है ॥१०१॥ जिस प्रकार प्रचण्ड अग्निके बीच पडा हुआ स्वर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार तपरूपी अग्निके द्वारा सतप्त हुआ अपना आत्मा शुद्ध हो जाता है ॥१०२॥ अत्यन्त चञ्चल मनरूपी अश्वका दमन, तपरूपी लगामके द्वारा नियमसे होता है तथा मनुष्योकी उन्मत्त इन्द्रियोका दमन तपके विना नही होता है ॥१०३॥ हे आत्मन्! स्वर्गमे देवाङ्गनाओके साथ रमण करनेकी यदि तेरी बुद्धि है तो निरन्तर एक तपका ही संचय करो। भावार्थ—तपके कालमे यदि इस जीवकी सराग परिणति रहती है तो उसके फलस्वरूप स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है ॥१०४॥ हे आत्मन्! यदि तेरा मन मुक्तिलक्ष्मीके साथ सगम करनेमे उत्कण्ठित है तो तू शीघ्र ही तपके समूहरूपी रत्नोका सचय कर। भावार्थ—वीतराग परिणतिके साथ किया हुआ तप मुक्तिका कारण है ॥१०५॥ जगत्मे तपके तीव्र प्रभावको देख कर जैनेतर लोग क्षणभरमे जैनत्वसे युक्त हो जाते है ॥१०६॥ जिस प्रकार वर्षाऋतुमे वज्रके पडनेसे पर्वतोके शिखर चूर-चूर हो जाते हैं उसी प्रकार तपोके द्वारा पुरुषोके कर्म चूर-चूर हो जाते है ॥१०७॥

निश्चयसे इच्छाओका निरोध करना ही जिसका सर्वत्र व्यापक लक्षण है, जिसके ध्यान आदि अनेक भेद हैं और ससारसम्बन्धी खेदको नष्ट करनेवाला है उस तपोधर्मका मैं हृदयसे सदा स्मरण करता हूँ ॥१०८॥

आगे त्यागधर्मका वर्णन करते है—

आर्या

सद्भाजनेषु भक्त्या योग्यपदार्थप्रदानमिह यत्तत्।
त्यागो भणितो मुनिभिर्निजपरकल्याणकन्दाय ॥१०९॥
आहाराभयबोधौपधिप्रभेदेन भिद्यते स पुनः।
त्यागश्चतुःप्रकारः श्रेयःसम्पत्तिसंहेतुः ॥११०॥
चतुर्विधाहारो यस्तपस्विनिचयाय दीयते भक्त्या।
आहारत्यागोऽसौ यतिपतिभि शस्यते बहुशः ॥१११॥
प्रवचनपरप्रसारैर्बहूपकारं करोति किल लोके।
एकः प्रवीणभिक्षुर्निजयोग्याहारमादाय ॥११२॥

विषवेदनरक्तक्षयशस्त्रग्रहणसंक्लेशेन ।
नश्यत्प्राणिसुरक्षाऽभयदानमिहोच्यते मुनिभि ॥११३॥
काञ्चनगिरिसमकाञ्चनदानसमर्जितसुपुण्यमान हि ।
एकप्राणिसुरक्षाजनितसुकृतमानतो हीनम् ॥११४॥
सूचीमुखदुर्भेद्यध्वान्तविलोचनजगज्जनानां च ।
सद्बोधदिव्यभानुप्रकाशदान तृतीयदान स्यात् ॥११५॥
अयि भो जगतां देहि ज्ञानमनन्त निरन्तरं सद्य ।
ज्ञानमिदमेकमेव भवसागरतरणसतरणि ॥११६॥
श्वासादिवेदनाचयदुःखितवपुषां निरन्तर पुसाम् ।
योग्यचिकित्सादानञ्चौपधदान प्रचक्ष्यते सद्भिः ॥११७॥
औषधदानमहिम्ना नीरोगो भवति देहिनां देह ।
नीरोगत्वे वपुषो धर्मस्याराधन भवति सुलभम् ॥११८॥

मेघान्योक्ति

हंहो गुणधर जलधर ह्यनन्यशरण विहाय सारङ्गम् ।
वर्षसि भूधरशिखरे पयोधिपूरे च किं नित्यम् ॥११९॥
किमिति कठोर गर्जसि वर्षसि सलिलस्य शीकर वै ।
मा मा वर्षम्भोधर त्यजतु कठोर तु गर्जनः सद्यः ॥१२०॥

समुद्रान्योक्ति.

तृष्णादानवपीडितविपद्यमान नर पुरो दृष्ट्वा ।
जलधे चपलतरङ्गैर्विनर्त्मानो न लज्जसे कस्मात् ॥१२१॥

चन्दनपादपान्योक्तिः

हंहो मलयज ! मूले सदा निषण्णान् भुजङ्गमान्वारय ।
येन तव सुरभिसारं भोक्तु शक्नोतु जगदेतत् ॥१२२॥

रोहणगिर्यन्योक्तिः

मा कुरु मा कुरु शोकं रत्नसमूहव्ययेन हे रोहण ।
झगिति पयोधररावो दास्यति रत्नानि ते बहुशः ॥१२३॥

खर्जूरवृक्षान्योक्तिः

रे खर्जूरानोकह ! किमेवमुत्तुङ्गमानमुद्वहसि ।
छायापि ते न भोग्या पान्थानां किं फलैरेभि ॥१२४॥

शाल्यन्योक्ति

अत्यल्पतानिमित्ताच्छाले शाखिन् नु खिद्यसे कस्मात् ।
जीवितजगज्जनोच्च त्वमेव धन्य समस्तभूभागे ॥१२५॥

इन्द्रवज्रा

त्यागं विना नैव भवेन्नु मुक्ति-
स्त्यागादृते नास्ति हितस्य पन्थाः ।
त्यागो हि लोकोत्तरमस्ति तत्त्व
यस्मात्ततोऽह किल त नमामि ॥१२६॥

अर्थ--उत्तम पात्रोमे भक्तिपूर्वक जो योग्य पदार्थ दिया जाता है उसे मुनियोने त्यागधर्म कहा है। यह त्याग धर्म स्व-परकल्याणका मूल कारण है ॥१०९॥ वह त्याग आहार, अभय, ज्ञान और औषधके भेदसे चार प्रकारका होता है। यह चारो प्रकारका दान कल्याणप्राप्तिका उत्तम हेतु है ॥११०॥ मुनिसमूहके लिये भक्तिपूर्वक जो चार प्रकारका आहार दिया जाता है वह आहारदान है। मुनिराजोके द्वारा यह दान बहुत ही प्रशसनीय कहा गयाहै ॥१११॥ एक उत्तम साधु अपने योग्य आहार लेकर प्रवचन-जिनागमके उत्कृष्ट प्रसारके द्वारा लोकमे बहुत जीवोका उपकार करता है ॥११२॥ विष, वेदना, रक्तक्षय, शस्त्रग्रहण तथा अन्य सक्लेश-भावके कारण नष्ट होते हुए प्राणियोकी रक्षा करना, मुनियो द्वारा अभय दान कहा जाता है ॥११३॥ परमार्थसे विचार किया जाय तो मेरु पर्वतके बराबर सुवर्णदानसे उत्पन्न पुण्यका प्रमाण, एक प्राणीकी सुरक्षासे उत्पन्न पुण्यके प्रमाणसे हीन है ॥११४॥ सूचीके अग्रभागसे दुर्भेद्य अज्ञानान्धकारसे अन्धे जगत्के जीवोको सम्यग्ज्ञानरूपी दिव्य सूर्यका प्रकाश देना तृतीय दान—ज्ञानदान है ॥११५॥ हे भव्य प्राणियो ! जगत्के जीवोके लिये निरन्तर शीघ्र ही ज्ञानदान देओ, क्योकि यह एक ज्ञान ही ससार-सागरसे तारनेके लिये उत्तम नौका स्वरूप है ॥११६॥ श्वास आदिकी वेदनासे जिनका शरीर पीडित हो रहा है ऐसे मनुष्योके लिये योग्य औषध

प्रदान करना सत्पुरुषोके द्वारा औषधदान कहा जाता है ॥११७॥ औषध-दानकी महिमासे जीवोका शरीर नीरोग होता है और शरीरकी नीरोगता होने पर धर्मकी आराधना सुलभ होती है ॥११८॥

आगे दानके प्रसङ्गमे अन्योक्तियो द्वारा उचित शिक्षा देते हैं—

कुछ दाता दान देते समय योग्य व्यक्तिका विचार न कर आवश्यकतासे रहित व्यक्तिके लिये दान देते हैं तथा कितने ही लोग कुवचन सुनानेके बाद भी दान नही देते हैं उन्हे सबोधित करनेके लिये अन्योक्तिके रूपमे मेघसे कहा जा रहा है कि हे गुणोको धारण करनेवाले मेघ ! तुम, जिसका अन्य सहारा नही है ऐसे चातकको छोडकर पर्वतके शिखर और समुद्रके पूरमे निरन्तर क्यो बरसते हो ? यहाँ बरसनेमें क्या उपयोगिता है । और हे मेघ ! तुम कठोर गर्जना क्यो करते हो ? पानीका एक कण भी बरसाते नही केवल कठोर गर्जना क्यो करते हो ? अच्छा हो कि बरसें नही किन्तु कठोर गर्जना तो शीघ्र छोड दो ॥११९-१२०॥

कितने ही लोग अपने आगे धनाभावसे नष्ट होते हुए मनुष्यको देख कर भी तृष्णाके वशीभूत हो उसे कुछ देते नही हैं किन्तु अपनी धनिकताका अहकार करते हैं। उन्हे सबोधित करते हुए समुद्रकी अन्योक्तिसे कहते हैं—हे समुद्र ! अपने आगे प्यासरूपी दानवके द्वारा पीडित होकर मरते हुए मनुष्यको देखकर अपनी चञ्चल लहरोसे नाचते हुए लज्जित क्यो नही होते हो ॥१२१॥

कितने ही दाताओके पास दुष्ट मनुष्य रहते हैं जिनके कारण सज्जन पुरुष उनके समीप नही पहुँच पाते, ऐसे लोगोको सबोधित करते हुए चन्दन वृक्षकी अन्योक्तिसे कहते हैं—हे चन्दन वृक्ष ! तुम अपने मूलमे बैठे हुए साँपोको दूर करो जिससे यह जगत् तुम्हारी श्रेष्ठ सुगन्धका उपभोग करनेके लिये समर्थ हो सके ॥१२२॥

कितने ही लोग दान देकर यह खेद करते हैं कि हमारे पास धनकी कमी हो गई। उन्हे रोहणगिरिकी अन्योक्तिसे सबोधित करते हैं। सस्कृत साहित्यमे एक ऐसे रोहणगिरिका वर्णन आता है कि जिसमें मेघकी गर्जनासे नये नये रत्न उत्पन्न होते रहते है—हे रोहणगिरि ! रत्नसमूहके व्यय होनेसे शोक मत करो, शोक मत करो, क्योकि मेघकी गर्जना तुम्हे शीघ्र ही बहुत रत्न देगी ॥१२३॥

कितने ही लोग सम्पत्तिशाली होने पर भी कभी किसीका उपकार नही करते। उन्हे सबोधित करनेके लिये खजूर वृक्षकी अन्योक्ति कहते

हैं—हे खजूरके वृक्ष ! तुम इस प्रकार ऊँचे होनेका अहकार क्यो करते हो ? क्योकि तेरी छाया भी पथिक जनोके उपभोगके योग्य नही है फिर ऊँचाई पर लगे हुए इन फलोसे क्या होगा ? अर्थात् तेरी न छाया किसीके काम आती है और न फल काम आते है ॥१२४॥

कितने ही लोग शक्तिवाले होनेसे सदा खिन्न रहते हैं कि हमारे पास दानके लिये पुष्कल धन नही है। उन्हे धान्यके पौधेकी अन्योक्तिसे सबोधित करते हुए कहते हैं कि हे धान्यके पौधे ! मेरे पास अत्यन्त अल्प-साधन है ऐसा विचार कर तू खिन्न क्यो हो रहा है ? तू तो अत्यन्त छोटा होकर भी जगत्के जीवोको जीवित रख रहा है और इस कारण समस्त पृथिवीतल पर एक तू ही धन्य है ॥१२५॥

त्यागधर्मका उपसहार करते हुए कहते हैं—कि त्यागके विना मुक्ति नही होती, त्यागके विना हितका मार्ग नही है और यतश्च त्याग ही लोकोत्तर—अत्यन्त श्रेष्ठ धर्म है अत उसे मैं नमस्कार करता हूँ ॥१२६॥

आगे आकिञ्चन्य धर्मका वर्णन करते है—

यस्य किञ्चन नास्तीहाकिञ्चनः स जनो मतः ।
तस्य भावो भवेन्नूनमाकिञ्चन्य मुनिप्रियम् ॥१२७॥

उपजातिवृत्तम्

परिग्रहोऽस्य द्विविधः समुक्तो
बाह्यस्तथाभ्यन्तरसंगतश्च ।
बाह्यस्य मोक्षेण न तत्र लाभो
बाह्येतरं तेन विमुञ्च पूर्वम् ॥१२८॥

वशस्थवृत्तम्

परिग्रहग्राहनिपीडितो जन
क्वचिज्जगत्यां लभते न मङ्गलम् ।
अतो महामङ्गलसङ्गलिप्सुभि-
र्विहीयतामेष परिग्रहग्रहः ॥१२९॥

अहो पल व्योमचरैर्विहायसि
पयश्चरैर्वारिणि भूमिगोचरैः ।

भुवीह नित्यं परिभुज्यते यथा
तथा धनी सर्वजनैश्च सर्वतः ॥१३०॥

भवेत्तवेच्छा यदि मुक्तिमानिनी-
मुखक्षपानाथमिहैव वीक्षितुम् ।
विमुञ्च तां तर्हि सुमूर्च्छिकां प्रियां
यतो ऽभ्यसूयासहिताः प्रिया भवे ॥१३१॥

अकिञ्चनत्वोपयुतास्तपस्विनः
सुतोषपीयूषपयोधिमध्यगाः ।
वने गृहे शैलचये सरित्पतौ
समाप्नुवन्त्येव निजात्मज सुखम् ॥१३२॥

सहस्रमध्ये समुदारघोषणा-
मिमां समक्ष प्रतिपक्षिणां ब्रुवे ।
परिग्रहो नैव जनस्य चेद्भवेत्
न तर्ह्ययं दुःखलवं लभेत वै ॥१३३॥

यथा प्रवातोज्झितमध्यभूमौ
मध्याह्नकाले तरवः समस्ताः ।
निजस्वरूपे ह्यचला भवन्ति
तथा जना सङ्गसमूहहीनाः ॥१३४॥

इति स्थिते पण्डितमानिनो नराः
परिग्रहे चापि सुख दिशन्ति ये ।
कथं न ते नाम विषेण सगत
गदन्ति दुग्ध बहुजीविकारणम् ॥१३५॥

उपजाति

आत्मानमेतं परितः प्रभावाद्
गृह्णाति यस्माद्धि परिग्रहोऽयम् ।

तस्मादरं तं परिमुच्य पूर्ण-
मकिञ्चनत्व मनसा स्मराम ॥१३६॥

अर्थ—इस ससारमे जिसके पास कुछ नही है वह मनुष्य अकिञ्चन माना गया है। अकिञ्चनका जो भाव है निश्चयसे वह आकिञ्चन्य कहलाता है। यह आकिञ्चन्य मुनियोको प्रिय है ॥१२७॥ यह परिग्रह दो प्रकारका कहा गया है—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। इनमे मात्र बाह्य परिग्रहके त्यागसे लाभ नही होता, इसलिये पहले आभ्यन्तर परिग्रह छोड़ो ॥१२८॥ परिग्रहकी चपेटसे पीडित हुआ मनुष्य पृथिवी पर कही भी मङ्गल—सुख-चैनको प्राप्त नही होता, इसलिये महामङ्गलके समागमकी इच्छा करनेवाले पुरुषोको यह परिग्रहरूपी पिशाच छोड देना चाहिये ॥१२९॥ अहो! जिस प्रकार माम आकाशमे पक्षियोके द्वारा, जलमे जलचरोके द्वारा और भूमिमे भूमिगोचरोके द्वारा निरन्तर परिभुक्त होता है उसी प्रकार धनी—परिग्रहयुक्त मनुष्य सर्वत्र सभी जनोके द्वारा परिभुक्त होता है ॥१३०॥ हे भव्य प्राणी! यदि तेरी इसी लोकमे मुक्तिरूपी स्त्रीका मुखचन्द्र देखनेकी इच्छा है तो मूर्च्छा—ममतारूपी प्रियाको छोड दिया जाय, क्योकि जगत्मे स्त्रियाँ ईर्ष्यासे सहित होती हैं ॥१३१॥

आकिञ्चन्य धर्मसे सहित तथा सतोषरूपी सुधा-सागरके मध्य अवगाहन करनेवाले तपस्वी वनमे, घरमे, पर्वतोके समूहमे और समुद्रमे स्वकीय आत्मासे समुत्पन्न सुखको नियमसे प्राप्त करते हैं ॥१३२॥ मैं हजारो मनुष्योके बीच प्रतिपक्षी जनोके सामने यह जोरदार घोषणा करता हूँ कि यदि मनुष्यके पास परिग्रह नही होता तो वह निश्चयसे दुःखके अशको भी प्राप्त नही होता है ॥१३३॥ जिस प्रकार मध्याह्न कालमे जोरदार वायुसे रहित मध्य भूमिमे स्थित समस्त वृक्ष अपने स्वरूपमे स्थिर रहते हैं उसी प्रकार परिग्रहके समूहसे रहित मनुष्य स्वरूपमे स्थिर रहते है ॥१३४॥ इस प्रकारका निर्णय होने पर जो अपने आपको ज्ञानी माननेवाले पुरुष परिग्रहमे भी सुख बताते हैं वे विष मिश्रित दूधको दीर्घकाल तक जीवित रहनेका कारण क्यो नही कहते ॥१३५॥ जिस कारण यह परिग्रह अपने प्रभावसे जीवको सब ओरसे पकड़ लेता है उस कारण हम परिग्रहको शीघ्र ही छोड कर पूर्ण आकिञ्चन्य धर्मका स्मरण करते हैं ॥१३६॥

आगे ब्रह्मचर्य धर्मका वर्णन करते हैं—

दूरादेव समुज्झित्य नारीं संसारवर्धिनीम्।
ब्रह्मणि चर्यते यत्तद् ब्रह्मचर्यं समुच्यते ॥१३७॥

नारीमात्रपरित्यागी निखिलब्रह्मचर्यवान् ।
स्वस्त्रीसन्तोषमापन्नो देशतो ब्रह्मचर्यवान् ॥१३८॥
मुक्तिस्त्रीप्रीतिसंप्राप्त्यै मनीषा यदि वर्तते ।
तर्हि त्यज झगित्येव नारीं व्रतविदूषिकाम् ॥१३९॥
ब्रह्मचर्यस्य सम्प्राप्त्यै भामिनीमभिधावतः ।
चेतसो गतिमारुध्य स्वात्मध्यानपरो भव ॥१४०॥
दुःशीलजनसंसर्गं कापथस्य प्रवर्तकम् ।
त्यज ब्रह्मव्रतप्राप्त्या अहिसङ्गमिव द्रुतम् ॥१४१॥

स्रग्धरा

चित्तं संबुध्य षण्ढ ह्यनुनयनिपुणं प्रेषितं मानिनीषु
कष्टं भो तत्तु तत्रानवरतमखिलास्वेव सक्तं समासीत् ।
हहो प्रज्ञापतीनां प्रवर तव मतेः पाणिने विभ्रमः को
येन त्वं मर्त्यरूपे मनसि दिशसि हा सन्ततं षण्ढभावम् ।१४२।
त्यक्त्वैकं ब्रह्मचर्यं जगति ननु जना राजयक्ष्मादिबाधां
क्षोणीपालैः प्रदत्तं कठिनतरमहादण्डनं लोकनिन्दाम् ।
मृत्वाश्वभ्रालयेषज्ज्वलनवितपनं क्षारपानीयसेकं
शाल्मल्यारोहणं वा बहुविधविपुलं दुःखमेवाप्नुवन्ति ॥१४३

आर्या

चिरवर्धितोऽपि संयमफलिनो ब्रह्मव्रतं विना पुंसाम् ।
स्वर्गामृतफलनिचयं फलति न कालत्रये त्रिलोक्यामपि ॥१४४
पलपूतिरुधिररचिते योषिद्गात्रे विमुच्य ये प्रीतिम् ।
आत्मनि निजे रमन्ते त एव धन्या महामान्याः ॥१४५॥

उपजाति

ये ब्रह्मचर्येण युता भवन्ति
भवन्ति ते नागनरेन्द्रमान्याः ।
योगीन्द्रवन्द्यं सरणिं शिवस्य
नमामि तद्धर्मधरापतिं तम् ॥१४६॥

चित्तं नपुंसक ज्ञात्वा भार्यासु प्रेषितं मया ।
तत्तु तत्रैव रमते हता पाणिनिना वयम् ॥

अर्थ—ससारको बढाने वाली स्त्रीको दूरसे ही छोडकर जो आत्मामे रमण किया जाता है वह ब्रह्मचर्य कहलाता है ॥१३७॥ जो स्त्रीमात्रका परित्याग करता है वह पूर्णब्रह्मचर्यसे सहित है और जो स्वस्त्रीमे सतोषको प्राप्त है वह एकदेशब्रह्मचर्यका धारक है ॥१३८॥ हे प्राणी ! यदि तेरी मुक्तिस्त्रीकी प्राप्तिके लिये बुद्धि है तो तू शीघ्र ही व्रतको दूषित करने वाली नारीको छोड दे ॥१३९॥ ब्रह्मचर्यकी प्राप्तिके लिये स्त्रीकी ओर दौडने वाले मनकी गतिको रोककर स्वात्मध्यानमे तत्पर होओ ॥१४०॥ ब्रह्मव्रतकी प्राप्तिके लिये तू कुमार्गमे प्रवर्तानेवाले कुशील मनुष्योकी सगतिको साँपके समागमके समान शीघ्र ही छोड दे ॥१४१॥

अनुनय-विनयमे निपुण मनको 'नपुसक (नपुसक लिङ्ग) समझकर मैंने स्त्रियोमे भेजा, परन्तु दु खकी बात है कि वह स्वय ही उनमे निरन्तर आसक्त हो गया । अहो, पण्डितप्रवर ! पाणिनि ! तुम्हारी बुद्धिका यह कौन विभ्रम है कि जिससे तुम मनुष्यरूप मनको निरन्तर नपुसक कहते हो । **भावार्थ**—सस्कृतव्याकरणमे मनस् शब्दको नपुसकलिङ्ग कहा है । यहाँ व्याकरणप्रसिद्ध लिङ्ग और लोकप्रसिद्ध लिङ्गको एक मानकर कहा गया है कि मैने अनुकूल करनेमे निपुण मनको नपुसक समझकर स्त्रियोके पास भेजा, परन्तु वह पुरुषके समान उन स्त्रियोमे स्वय आसक्त हो गया । इस प्रकार व्याकरणशास्त्रके प्रमुख प्रणेताको उपालम्भ दिया है कि हे पाणिने ! तुम्हारी बुद्धिका यह कौन-सा व्यामोह-कि जिससे तुम पुलिङ्ग मनको नपुसक बताया करते हो ॥१४२॥ निश्चयसे मनुष्य ससारमे एक ब्रह्मचर्यको छोडकर राजयक्ष्मा (टी० बी०) आदिकी पीडा, राजाओके द्वारा दिये हुए कठोर दण्ड और लोकनिन्दाको प्राप्त होते है तथा मरकर नरकोके मध्य अग्निमे जलना, सतप्त होना, खारे पानीसे सीचा जाना एव सेमरपर चढाये जाना आदि नाना प्रकारके बहुत दु ख प्राप्त करत है ॥१४३॥

चिरकालसे वृद्धिको प्राप्त हुआ भी सयमरूपी वृक्ष, ब्रह्मचर्यके बिना पुरुषोके लिये तीन काल और तीन लोकमे भी स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फल-को नही फलता है ॥१४४॥ मास, पूति तथा रुधिरसे रचित स्त्रीके शरीर-मे प्रीतिको छोडकर जो निज आत्मामे रमण करते है वे ही महाभाग्य-वान् तथा महामान्य है ॥१४५॥ जो मनुष्य ब्रह्मचर्यसे सहित होते है वे

नागेन्द्र तथा चक्रवर्तीके द्वारा पूज्य होते हैं, इसलिये मैं मुनिराजोके द्वारा वन्दनीय, मोक्षके मार्गस्वरूप उस धर्मराज ब्रह्मचर्यधर्मको नमस्कार करता हूँ ॥१४६॥

आगे सवरको प्राप्त करानेवाली द्वादश अनुप्रेक्षाओका वर्णन करते है—

अनित्यानुप्रेक्षा—

मालिनी

हरिहरकमलोद्भूकार्तिकेया गणेशो
जिनसुगतमहीपा वासुदेवश्च रामः ।
दशरथजनकौ हा खेचरा भूचराश्च
जगति क्व नु गतास्ते मर्त्यदेवेन्द्रवन्द्याः ॥१४७॥

अयि मम ननु चेतश्चिन्तय त्वं स्वभावं
कथमहह निपत्योद्‌्‌यसे कर्दमेऽस्मिन् ।
कमपि किल विचाराचारमालम्ब्य नूनं
त्यज झगिति ममत्व दारतोकव्रजेषु ॥१४८॥

इह जगति हि जात मृत्युना नीतमन्त
निजतरुणगुणत्वञ्चान्तमाप्त प्रवृद्धया ।
सुखमनुगतदुःख सङ्गमोऽसङ्गमेन
न हि किमपि सखे ! हा भाति नित्य भवेऽस्मिन् ॥१४९॥

क्वचिदथखररश्मिः प्रोद्भवन्भाति लोके
क्वचिदपि करजालैर्भासयन् भूविभागम् ।
क्वचिदहह निपत्योद्‌्यते नीरराशौ
क्वचिदपि न हि दृष्टं नित्यमस्तीह यत्तत् ॥१५०॥

अपि च किल निशेशः शस्यते सायमत्रो-
दितिमवलभमानो मानिनीमान्यवृन्दैः ।
अथ गतवति नक्तं काल इन्दुः स एव
ननु भवति हताशः कान्तिकाश प्रभाते ॥१५१॥

अयि भवति हि पूर्णे पौर्णमास्यां निशेशः
सकलकलकलाभिः शोभते यश्च मान्यः ।
वत भवति विपन्नो राहुणा ग्रस्यमानो
हतनिजकरमालो दीनदीनः स एव ॥१५२॥
क्वचिदपि खलु जाते देहजे रम्यरावः
प्रमदभरविवृद्धः श्रूयते वाद्यरावः ।
इह तदितरवीथ्यां तद्वियोगेन जातो
विरसविपुलरावः श्रूयते शून्यकर्णैः ॥१५३॥
इतर इह विरौति स्त्रीवियोगाभितप्तो
विलपति नरलोकः कोऽपि तोकप्रणाशात् ।
इह विलपति बालो मातृप्रेमप्रहीणो
ननु भवति न किञ्चिन्नित्यमस्यां जगत्याम् ॥१५४॥
इति वत बुद्ध्या चिन्तयित्वा स्वभावं
क्षणिकमथ कथञ्चिद् भावतानस्य तस्य ।
क्वचिदपि परिमोहं मा लभस्वालभस्व
निजशुभगुणपिण्डं कर्मशत्रुप्रचण्डम् ॥१५५॥
इह जगति जनो यः प्राप्नुवानो निजत्वं
परिहरति ममत्वं माननीयेऽपि भोगे ।
स खलु भवति शुद्धो मन्दमोहो हि नून-
मुपगतनिजभावश्चारुचैतन्यचिह्नः ॥१५६॥

अर्थ—इस ससारमे मनुष्य और देवेन्द्रोके द्वारा वन्दनीय जो हरि, हर, ब्रह्मा, कार्तिकेय, गणेश, जिन, बुद्ध, राजा, कृष्ण, बलराम, दशरथ, जनक, विद्याधर और भूमिगोचरी अनेक पुरुप हुए थे वे सब कहाँ गये ? ॥१४७॥ हे मेरे हृदय ! तू निश्चयसे आत्मस्वभावका विचार कर । खेद है कि तू इस ससाररूपी पङ्कमे पडकर क्यो दुखी हो रहा है ? कुछ अनिर्वचनीय विचारोका आश्रय लेकर तू स्त्री तथा पुत्रादिकके समूहमे शीघ्र ही ममत्वभावको छोड ॥१४८॥ जो इस जगत्मे उत्पन्न होता है वह नियमसे मृत्युके द्वारा नाशको प्राप्त होता है । अपना यौवन, रूप-

गुण भी बुढापेके द्वारा अन्तको प्राप्त हो जाता है। सुख दुःखके साथ और सयोग वियोगके साथ मिला हुआ है। हे मित्र ! इस ससारमे कोई वस्तु नित्य नही है ॥१४९॥ इस जगत्मे कही सूर्य उदित होता हुआ सुशोभित होता है, कही किरणसमूहोसे पृथिवीको देदीप्यमान करता है और बडे दु खकी बात है कि कही समुद्रमे पडकर दु खी होता है। परमार्थसे ससारमे कही भी वह वस्तु नही दिखती जो नित्य हो। **भावार्थ**—यहाँ सूर्यकी उदय, मध्य और अस्त इन तीन अवस्थाओका जो वर्णन किया गया है वह कविसम्प्रदायकी अपेक्षा किया गया है। कवि लोग मानते हैं कि सायकालके समय सूर्य समुद्रमे मग्न हो जाता है ॥१५०॥ सन्ध्याके समय उदयको प्राप्त होता हुआ चन्द्रमा स्त्रियोके मान्यसमूहोके द्वारा प्रशसाको प्राप्त होता है और रात्रिकाल समाप्त होनेपर प्रभातमे वही चन्द्रमा कान्तिके द्वारा काश पुष्पके समान होता हुआ दयनीय हो जाता है ॥१५१॥ जो चन्द्रमा पूर्णिमाकी रात्रिमे पूर्ण होता है और अपनी सुन्दर कलाओके द्वारा बडा मनोहर जान पडता है, खेद है कि वही चन्द्रमा राहुके द्वारा ग्रस्त होनेपर किरणावलीसे रहित अत्यन्त दीन हो जाता है ॥१५२॥ कही पुत्रके उत्पन्न होनेपर हर्षके भारसे वृद्धिको प्राप्त, मनोहर शब्दोंसे युक्त वाद्यध्वनि सुनाई पडती है तो कही दूसरी गलीमे पुत्रके वियोगसे उत्पन्न करुणक्रन्दनका विशाल शब्द शून्य कानोंके द्वारा सुना जाता है ॥१५३॥

इस ससारमे कोई स्त्रीके वियोगसे सतप्त होता हुआ रोता है, कोई पुत्रके मर जानेसे दुखी होता है तो कोई बालक मातृप्रेमसे वञ्चित होता हुआ विलाप कर रहा है। निश्चयसे इस पृथिवीपर कोई वस्तु नित्य नही है ॥१५४॥ इस प्रकारकी बुद्धिसे पदार्थसमूहके क्षणिक स्वभावका विचार कर किसी भी पदार्थमे मोहको प्राप्त मत हो किन्तु कर्मशत्रुओको नष्ट करनेमे समर्थ आत्माके शुभगुणसमूहको प्राप्त हो, ॥१५५॥ इस ससारमे जो मनुष्य आत्मत्वको—स्वमे स्वबुद्धिको प्राप्त होता हुआ इष्ट-भोगोमे भी ममतापरिणामको छोडता है वह नियमसे मन्दमोह, निजभाव-को प्राप्त, उत्तम चैतन्यभावसे सहित होता हुआ शुद्ध हो जाता है ॥१५६॥

अशरणभावना—

शरणमिह जगत्यां नास्ति किञ्चित् सखे हा
व्रजसि कथमहो त्व मोघमोह जनेपु ।
न खलु गहनमध्ये सिंहपादैर्विपन्नो
हरिणशिशुगणोऽयं त्रायते त्रास्यमान ॥१५७॥

अथ स किल निशेशो विष्णुपत्नीसनाभि-
रुडुखचितविहायोमध्यसंचारकारी ।
दशशतकिरणेशः प्राप्तपीयूषपुञ्जो
न हि कथमपि रक्ष्यो राहुणा ग्रस्यमानः ॥१५८॥

अपि दिनपतिरीशः पद्मबन्धुर्विजेता
तिमिरकणचयस्यालोककारी विसारी ।
जनगणमहनीयो बालसूर्यः स साय
न हि कथमपि रक्ष्यः सिन्धुमध्यावपाती ॥१५९॥

रविसुतमुखदंष्ट्रादीर्णदेहं सुदेहं
न हि कथमपि शक्तस्त्रातुमिन्द्रः सुमन्त्रः ।
अपहृतजनबाधस्तन्त्रवादी नरोऽपि
सुरगुरुरथ शुक्रश्चारुचन्द्रश्च सूर्यः ॥१६०॥

इह जगति सनाभिर्बाललीलासहायो
ह्यनितरपितृहस्तध्वस्तखेलाव्यपायः ।
सहगमनविशोभी भिन्नरूपोऽप्यभिन्नो
व्रजति न खलु सार्धं प्रेतवासं विहाय ॥१६१॥

अशरणमिति चेतश्चिन्तयित्वा निजस्य
न खलु परिममत्वं प्राप्नुहि त्व भवेषु ।
कृतवति भवतीत्थं शुद्धचिन्मात्ररूपो
भवति ननु जनोऽयं शुद्धतत्त्वोपलम्भात् ॥१६२॥

अर्थ—हे सखे ! इस पृथिवीपर कुछ भी शरण नही है फिर तू क्यो मनुष्योमे व्यर्थ मोहको प्राप्त हो रहा है । निश्चयसे वनके मध्य सिहके चरणोसे आक्रान्त भयभीत हरिणशिशुओका समूह किसीके द्वारा नही बचाया जाता है ॥१५७॥ जो लोकमे विष्णुकी पत्नी अर्थात् लक्ष्मीका भाई कहा जाता है, जो नक्षत्रोसे व्याप्त आकाशके बीचमे भ्रमण करता है, एक हजार किरणोका स्वामी है तथा अमृतके समूहको प्राप्त है ऐसा चन्द्रमा भी जब राहुके द्वारा ग्रसा जाता है तब किसी तरह उसकी रक्षा

नही होती है ॥१५८॥ जो दिनका पति—स्वामी है, कमलोका बन्धु है, अन्धकारके समूहको जीतनेवाला है, प्रकाशका कर्ता है, सर्वत्र विस्तारको प्राप्त है और जनसमूहके द्वारा पूज्य है, ऐसा बालसूर्य—प्रात कालीन सूर्य भी जब सन्ध्याके समय समुद्रके मध्य पतित होता है तब किसी प्रकार उसकी रक्षा नही हो पाती ॥१५९॥ यमराजके मुखकी दाढसे जिसका शरीर विदीर्ण हो गया है, ऐसे प्राणीकी रक्षा करनेके लिये न इन्द्र समर्थ है, न मनुष्योकी पीडाको हरनेवाला उत्तम मन्त्रका ज्ञाता मनुष्य समर्थ है, न बृहस्पति, न शुक्र, न सुन्दर चन्द्र और न सूर्य भी समर्थ है ॥१६०॥ इस जगत्मे जो बालक्रीडाओका साथी रहा है, एक ही पिताके हाथोसे जिसकी क्रीडाकी बाधायें दूर की गई हैं, जो सहगमनसे सुशोभित है और भिन्न होते हुए भी अभिन्न है ऐसा सगा भाई भी श्मशानको छोडकर आगे साथ नही जाता है ॥१६१॥ हे मेरे हृदय ! इस प्रकार अशरणभावका विचार कर, तू ससारमे ममताभावको प्राप्त न हो। आपके ऐसा करनेपर शुद्धतत्त्वकी उपलब्धि होनेसे यह जीव शुद्धचैतन्यरूप हो जाता है ॥१६२॥

संसारभावना—

इह किमपि न सार वर्तते भो भवेऽस्मि-
न्ननुभवति न को वा बद्धदारिद्र्यदुःखम् ।
नरपरिवृढपुञ्जः स्यात्पदातिः परेऽह्नि
भवति च पतिरूपोऽसौ पदातिः परत्र ॥१६३॥

उदयति दिननाथो ह्यस्तमेति क्षपेशो
न हि भवति निशा वा वासरो विद्यमानः ।
स किल निजसुतोऽपि स्यात्पिता वा पिता च
भवति निजसुतस्य स्वाङ्गजात सुतोऽपि ॥१६४॥

अभवदिह हि पूर्वं या सवित्री जनाना-
मिह भवति ततः सा प्रीतिपात्रं कलत्रम् ।
गुरुरपि बत पूर्वं यो भवेत्साम्प्रतं स
व्रजति परिभवं तं नैजशिष्यस्य वृन्दात् ।१६५॥

अपहसति जनो योऽद्यात्तवित्तः परान् स
भवति हसितपात्रं क्षुण्णगर्वः पराह्णे ।
जलभृतघटयन्त्रीकुम्भसङ्घोऽपि किं नो
भवति समयमात्र नीरशून्यो ह्यवाङ् च ॥१६६॥

त्यजतु जनसहाय लब्धलक्षव्यपायं
भजतु जिनपधर्मं सन्ततं सौख्यधर्मम् ।
भवति स खलु लोके पालको व्याधिवृन्दाद्
परिहतनिजदेहानां जनानां यतो वै ॥१६७॥

विरसमिति चलं वा चिन्तयित्वा भवं यः
सुभगनिजनिकाये लीनतामेति कोऽपि ।
भवति निखिलमान्यो लब्धलब्धव्यवृत्तः
स्फटिकमणिसमानः स प्रसन्नो मुहूर्तात् ॥१६८॥

अर्थ—हे प्राणी ! इस ससारमे कुछ भी सार नही है । कौन मनुष्य बुढापा और दरिद्रताका दु ख नही भोगता है ? जो आज राजाओका समूह है वह दूसरे दिन सेवक हो जाता है और जो आज सेवक है वह दूसरे दिन स्वामी हो जाता है ॥१६३॥ सूर्य उदित होता है और चन्द्रमा अस्तको प्राप्त होता है । रात तथा दिन भी सदा विद्यमान नही रहते । अपना पुत्र भी पिता हो जाता है और पिता भी अपने पुत्रका पुत्र हो जाता है ॥१६४॥ इस जगत्मे जो मनुष्योकी पहले माता थी वह इस जन्ममे प्रीतिका पात्र स्त्री हो जाती है । इसी प्रकार जो पहले गुरु था वह इस भवमे अपने ही शिष्योके समूहसे अनादरको प्राप्त होता है ॥१६५॥ जो आज धन प्राप्तकर दूसरोकी हँसी करता है वह, सायकाल गर्वरहित होता हुआ स्वयं हँसीका पात्र हो जाता है । जलसे भरी हुई रेंहटकी घडियोका समूह क्या क्षणमात्रमे जलरहित और अधोमुख नही हो जाता है ? ॥१६६॥ लाखो विघ्नबाधाओसे सहित अन्य मनुष्योके आलम्बनका भाव छोडो और सदा सुखरूप जिनेन्द्रधर्मका आश्रय ग्रहण करो, क्योकि लोकमे विपन्नशरीरवाले जीवोकी रोगसमूहसे रक्षा करनेवाला वही एक जिनेन्द्र धर्म है । यह संसार विरस है तथा नश्वर है ऐसा विचार कर जो कोई मनुष्य अपने स्वभावसे सुन्दर आत्मस्वरूपमे

लीनताको प्राप्त होता है वह शीघ्र ही सबके द्वारा मान्य, प्राप्तव्य तत्त्वको प्राप्त तथा स्फटिकके समान स्वच्छ हो जाता है ॥१६७-१६८॥

एकत्वभावना

स्वकृतसुकृतकर्मप्रोद्भवत्पुण्यपाकं
स्वकृतदुरितकर्मप्रोद्भवत्पापपाकम् ।
विपुलमधनदुःखं व्याधिवैविध्यदुःखं
जननमरणदुःखं चैक एव प्रयाति ॥१६९॥

विविधविकटदुःखैर्भीतिदैः सम्परीतं
ज्वलनचपलमालासंश्रितं हा समन्तात् ।
विरसनिनदपूर्णं पूतिरक्तप्रवाहं
नरकसदनमेकः सर्वदा सम्प्रयाति ॥१७०॥

असिदलतरुपत्रच्छेदनं भेदनं वा
निशितविविधशस्त्रैरग्निपुञ्जाभिपातम् ।
क्वथितजलवगाहं क्षारपानीयसेकं
नरकसदनमध्ये ह्येक एव प्रयाति ॥१७१॥

ज्वलनशतसुतप्तायोरसस्याभिपानं
विकटकठिनशस्त्रैरर्जनं दुःखराशेः ।
सघनदहनमध्ये भर्जनं भर्त्सनञ्च
भुवि नरकजनानामेक एव प्रयाति ॥१७२॥

इह जगति जनोऽयं पापपुञ्जं यदर्थं
त्वनवरतमनाः सन्नित्यशः सञ्चिनोति ।
सहगसुतरमालीबन्धुपित्रादयस्ते
न हि न हि न हि सार्धं श्वभ्रवासं प्रयान्ति ॥१७३॥

अनलसलिलवातानोकहेलासु नित्यं
भ्रमति भरति तीव्रं दुःखमेको जनोऽयम् ।
अपि च विकलमध्ये ताडनं रोधनं वा
ह्यनवरतमनन्तं दुःखमेको बिभर्ति ॥१७४॥

बहुविधबहुभारारोहण शीतमुष्णं
सलिलसमयबाधां भोजनस्याप्यभावम् ।
खलजनकृतपीडां तप्तलोहाभिदाहं
पशुजनिनिकुरम्बे यात्ययं ह्येक एव ॥१७५॥
सुभगसुतसुरामामित्रसोदर्यमातृ-
प्रभृतिहितजनानां दुःखदं त वियोगम् ।
विविधखररुजोग्रं वार्द्धयदारिद्र्यदुःखं
नरभवसमुदाये ह्येक एव प्रयाति ॥१७६॥
अपि च सुरपगेहे मानसव्याधिवृन्द-
मितरसुरसमृद्ध्यालोकजेर्ष्याज दुःखम् ।
मृतिसमयजदुःखं चेष्टलोकाभिघातं
ह्यनुभवति समन्ताद्धन्त लोकोऽयमेकः ॥१७७॥
तदनवरतमात्मन्नात्मनो ह्येकतां त्व-
मनुभव हि समन्तान्मुञ्च मोहं कुटुम्बे ।
भवसि भवसि यावन्नैकदृष्टिर्जगत्या-
मनुभवसि न तावच्छ्रेयसां संपद त्वम् ॥१७८॥

अर्थ—अपने द्वारा किये हुए पुण्यकर्मसे प्रकट होते हुए पुण्यफलको, अपने द्वारा किये पापकर्मसे प्रकट होते हुए पापफलको, बहुत भारी निर्धनताके दु खको, अनेक बीमारियोके दु खको तथा जन्ममरणके दु खको यह जीव अकेला ही प्राप्त होता है ॥१६९॥ भय उत्पन्न करनेवाले नाना-प्रकारके विकट दु खोसे जो व्याप्त है, जो सब ओरसे अग्निकी चञ्चल-ज्वालाओसे सहित है, जो विरस शब्दोसे परिपूर्ण है और जहां पीप तथा रक्तका प्रवाह बह रहा है ऐसे नरकमे निरन्तर यह जीव अकेला ही जाता है ॥१७०॥ असिपत्रवृक्षके पत्तोके द्वारा छेदा जाना, नाना प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्रोके द्वारा भेदा जाना, अग्निकी राशिमे गिराया जाना, खौलते हुए जलमे प्रवेश कराया जाना, और खारे पानीसे सीचा जाना इन दु खोको यह जीव नरकके बीच अकेला ही प्राप्त होता है ॥१७१॥ सैकड़ो अग्नियोसे तपाये हुए अयोरस—पिघले हुए लोहरसका पिलाया

जाना, अत्यन्त कठिन शस्त्रोके द्वारा दु खसमूहका प्राप्त होना, प्रचण्ड अग्निके मध्यमे भूँजा जाना और तिरस्कृत होना, इन सब दु खोको यह जीव नरकमे अकेला ही प्राप्त होता है ॥१७२॥ इस ससारमें यह जीव जिनके लिए निरन्तर एकाग्र मनसे पापसमूहका संचय करता है वे मित्र, पुत्र, स्त्रीसमूह, भाई तथा पिता आदि नरकमे इस जीवके साथ नही जाते हैं, नही जाते हैं, नही जाते हैं ॥१७३॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीवोमे यह प्राणी अकेला ही निरन्तर घूमता और तीव्र दु ख उठाता है। इसी प्रकार विकलत्रय जीवोंके मध्य भी ताडा जाना तथा रोका जाना आदिके अनन्त दु खको यह प्राणी सदा अकेला ही धारण करता है ॥१७४॥ नाना प्रकारका बहुत भारी भार लादा जाना, सर्दी, गर्मी, वर्षाकालकी बाधा, भोजनका अभाव, दुष्टजनोंके द्वारा की हुई पीडा तथा गर्म लोहेसे जलाया जाना आदि दु खोको यह जीव पशुओके जन्मसमूहमे अकेला ही प्राप्त होता है ॥१७५॥

प्रिय पुत्र, उत्तम स्त्री, मित्र, सगा भाई, तथा माता आदि हितकारी-जनोंके उस दु खदायक वियोगको, नाना प्रकारके कठिन रोगोंसे भयकर वृद्धावस्था और दरिद्रताके दु खको यह जीव मनुष्यपर्यायमे अकेला ही प्राप्त करता है ॥१७६॥

स्वर्गलोकमे भी, खेद है कि यह जीव मानसिक व्याधियोंके समूहको, अन्य देवोकी समृद्धिके देखनेसे उत्पन्न होनेवाली ईर्ष्यासे समुत्पन्न दु खको, मृत्युसमयके दु खको तथा इष्टवियोगको सब ओरसे अकेला ही भोगता है ॥१७७॥

इसलिए हे आत्मन्! तू निरन्तर अपने आपके एकत्वका अनुभव कर तथा कुटुम्ब-परिवारमे सब ओरसे मोहको छोड। यह निश्चित है कि तू इस पृथिवीपर जब तक एकदृष्टि नही होता है तब तक कल्याणोकी सपदाका अनुभव नही कर सकता है ॥१७८॥

अन्यत्वभावना

उपगतमिह नीरक्षीरवच्चैकतां यत्
तदपि मम शरीरं स्वात्मनो भिन्नमेव।
अविरलवरबोधज्योतिरात्मस्वरूप
किमु भवति पुनस्तद्दारपोतादिवृन्दम् ॥१७९॥

प्रबलपरमबोधज्योतिरीशोऽहमात्मा
त्विदमिह जडरूपं बोधहीनं शरीरम् ।
अहमयि सुखकन्दस्तद्द्वितीयं तदून-
महमपगतमूर्तिर्मूर्तियुक्तं शरीरम् ॥१८०॥

इह किल भवसिन्धावेकतासंगतोऽह
निखिलमपि तदन्यन्नैकतासंगतं तु ।
अहममरणशीलस्तत्तु मृत्युस्वभाव-
महमजननयुक्तस्तत्तु जन्माभियुक्तम् ॥१८१॥

अहमिह जगतां स्यां ज्ञायको दर्शको वा
जगदितरदिह ज्ञेयं च दृश्यं समस्ति ।
अहमतिसुखनिभृतस्तत्तु सौख्यादिहीनं
वदतु वदतु किं तद् ह्येकताप्येतयोः स्यात् ॥१८२॥

कलयतु जगदेतत्स्वात्मनो भिन्नमन्यत्
स्वमपि परपदार्थाद् बुध्यतां भिन्नमेव ।
इदमिह किल भेदज्ञानमर्थो जनानां
न हि भवति विमुक्तिर्ह्यन्तरा भेदबोधम् ॥१८३॥

अर्थ—इस जगत्मे जो शरीर दूध और पानीके समान एकरूपताको प्राप्त हो रहा है वह भी मेरी आत्मासे जब भिन्न है तब स्त्रीपुत्रादिकका समूह, जो कि स्पष्ट ही भिन्न है, तब अखण्ड ज्ञानज्योतिसे युक्त आत्मस्वरूप कैसे हो सकता है ॥१७९॥ मै उत्कृष्ट बलशाली उत्तम ज्ञानज्योतिका स्वामी आत्मा हूँ और यह शरीर ज्ञानहीन तथा जड़रूप है। अहो! मै सुखका कन्द हूँ और शरीर उससे रहित है। मैं मूर्त्तिसे रहित हूँ और शरीर मूर्तिसे सहित है ॥१८०॥ निश्चयसे इस संसारसागरमे मै एकत्वसे युक्त हूँ और मुझसे भिन्न अन्य सब पदार्थ एकत्वसे सगत नही हैं अर्थात् नानारूप हैं। मै मृत्युसे रहित हूँ शरीर मृत्युसे सहित है। मै जन्मसे युक्त नही हूँ और शरीर जन्मसे युक्त है। भावार्थ—आत्मामे जन्म-मरणका व्यवहार शरीरके आश्रयसे है। परमार्थसे आत्मद्रव्य जन्म-मरणसे रहित है ॥१८१॥ मै यहाँ तीनो लोकोका ज्ञाता द्रष्टा हूँ और

यह लोक मात्र ज्ञेय और दृश्य है अर्थात् यह किसीको जानता देखता नहीं है, मात्र आत्माके ज्ञान और दर्शनका विषय है। मैं अतिशय सुखसे परिपूर्ण हूँ और यह शरीर सौख्यादि गुणोंसे हीन है। इस दशामें कहो कि इन दोनोंमें एकता कैसे हो सकती है ॥१८२॥ इस जगत्को स्वात्मासे भिन्न जानो और परपदार्थोंसे अपने आपको भिन्न समझो। यह भेदज्ञान ही मनुष्योंका प्रयोजन है। वास्तवमें इस भेदज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती है ॥१८३॥

अशुचिभावना

जलनिधिजलपूरैः क्षाल्यतां निम्नगाश्चेत्-
तदपि न हि विशुद्धो जायते देह एषः ।
मलरचितघटः किं क्षाल्यमानोऽब्धिपूरै-
र्वद शुचिरिह दृष्टः कुत्र लोकेन केन ॥१८४॥
अयमयि निजदेहो पितृशुक्रेण तेन
विरचित इह मातुः शोणितेनापि तेन ।
पलरुधिरसमेतः कीकशादिप्रपूर्णः
ज्वरमुखशतरोगाक्रान्त एवातिशीर्णः ॥१८५॥
कृमिकुलकलितोऽयं नित्यशः शीर्यमाणो
ह्यसुरभिपरिपूर्णः कोविदप्रीतिरिक्तः ।
असुखविततिहेतुः क्षीणतां संप्रयातो
ननु पिहिततमः सन् चर्मणा भाति चारुः ॥१८६॥
यदि कथमपि देहस्यास्य चान्तर्गतं तत्
पलरुधिरमलाद्यं बाह्यदेशस्थितं स्यात् ।
वदतु वदतु किं त्वं घ्राणघोणां तदानी-
मपसरसि न दूरं कुञ्चितां सविधाय ॥१८७॥
अपि च यदि शरीरस्योर्ध्वसंवेष्टनं तद्
व्यपहरतु कदाचित् कुत्रचित्कोऽपि लोकः ।
झगिति समभियातान् काकगृद्धादिजन्तून्
लगुडशतविघातैः कस्तदा वारयेद्धोः ॥१८८॥

यदिह किल शरीरं पावनं वस्तुजातं
क्षणिकनिजसुयोगाद् दूषयत्येव नित्यम् ।
कथमिति पुनरेतस्मिन्स्वदेहे सदात्मन्
वहसि वद मुधा त्व शिष्टसंभ्रान्तिमेव ।।१८९।।

इति च जगति य कोऽपीह देहस्य नित्यं
ह्यनुभवति जुगुप्साभाजनत्वं समन्तात् ।
स किल परविरागं प्राप्नुवन् नैजदेहा-
दनुसरति सुशीघ्र संयमस्योग्रभारम् ।।१९०।।

अर्थ—इस शरीरको निरन्तर समुद्रके जलप्रवाहसे धोया जावे तो भी यह पवित्र नही होता है। मलसे निर्मित घट, समुद्रके पूरसे धोया जानेपर क्या लोकमे कही किसीके द्वारा पवित्र देखा गया है ? कहो ।।१८४।। अये भव्यप्राणियो ! यह अपना शरीर पिताके शुक्र और माताके रजसे बना हुआ है, मांस और रुधिरसे सहित है, हड्डी आदिसे परिपूर्ण है, ज्वर आदि सैकडो रोगोंसे आक्रान्त है, अत्यन्त नश्वर है, कीडोके समूहसे युक्त है, निरन्तर बिखरता जाता है, दुर्गन्धसे भरा हुआ है, विद्वज्जनोकी प्रीतिसे रहित है, दु खसमूहका कारण है, क्षीणताको प्राप्त होता रहता है और परमार्थसे चर्मसे आच्छादित होनेके कारण सुन्दर जान पडता है ।।१८५-१८६।। इस शरीरके भीतर जो मास, रुधिर तथा मल आदिक हैं वे यदि किसी तरह बाहर आ जावें तो कहो कहो, क्या तुम स्वय नाकको सिकोड कर दूर नही हट जाओगे ? ।।१८७।। इस शरीरके ऊपर जो वेष्टन है उसे यदि कोई कही कभी अलग कर दे तो शीघ्र ही झपटनेवाले कौए तथा गीध आदि जीवोको सैकडो डडोके प्रहारसे कौन हटावेगा ? ।।१८८।। इस ससारमे जो कोई पवित्र पदार्थ है उन्हे यह शरीर अपने क्षणिक सयोगसे जब निरन्तर दूषित कर देता है तब हे आत्मन् ! तुम इस अपने शरीरमे व्यर्थ ही उत्तमपनेका भ्रम क्यो धारण कर रहे हो ? ।।१८९।। इस प्रकार इस ससारमे जो कोई इस शरीरकी ग्लानिका अनुभव करता है अर्थात् यह मानता है कि मेरा शरीर सब ओरसे ग्लानिका पात्र है वह अपने शरीरसे उत्कृष्ट विरामको प्राप्त होता हुआ शीघ्र ही सयमके उत्कृष्ट भारको धारण करता है। भावार्थ—संसारमे रागकी जड शरीरके रागमे है। इस प्राणीका सबसे अधिक राग

अपने शरीरसे ही होता है। यदि शरीरका राग छूट जावे तो सयम धारण करनेमे विलम्ब न लगे। शरीरका राग उसकी अपवित्रताका विचार करनेसे ही छूट सकता है। यही कारण है कि अशुचि भावनामे शरीरकी अपवित्रताका विचार किया गया है ॥१९०॥

आस्रवभावना

जलधिजलगता नौ रन्ध्रबाहुल्यपूर्णा
विनिचितजलभारैः समभवन्ती गरिष्ठा।
पथिकजनसुयुक्ता वै यथा वातकम्प्रा
पयसि जलनिधेर्हा जायते संनिमग्ना ॥१९१॥

जगति खलु तथायं सास्रवः प्राणिसंघो
बहुविधविधिभारैः संभृतः सन् गरिष्ठ.।
अपि च सुगुणवृन्दैः शोभितः कर्मकम्प्रो
झगिति भवपयोधौ जायते सनिमग्नः ॥१९२॥

अविरलभवहेतुस्तीव्रमिथ्यात्वमेको
ह्यविरतिरतिदर्पा चास्रवोऽयं द्वितीय।
जगदहितकरास्ते संकषायास्तृतीयो
यतिपतिततिनिन्द्यः म प्रमादश्चतुर्थः ॥१९३॥

अखिलजनसपत्नः पञ्चमश्चैष योगो
जगति मुनिमतोऽयं ह्यास्रवः पञ्चभेदः।
सततमयमिहात्मा पञ्चभिर्हेतुभेदै-
र्विविधविधिवितान नित्यश संतनोति ॥१९४॥

निखिलजनसमूहे घोषणापूर्वमेत—
त्त्वहमिदमभिवक्तुं सर्वथा प्रोद्यतोऽस्मि।
न हि भवति कदाचित्सास्रवः प्राणिपुञ्जो
ह्यभिमतनिजदेशं यातुमर्हः कदाचित् ॥१९५॥

य इति जगति नित्यं चास्रव दुःखरूपं
निजमनसि विशुद्धे भावयेद् भव्यलोकः ।
स किल जगति रुद्ध्वा द्रव्यभावास्रव तं
निजमहिमनि तथ्यानन्दवृन्द समेयात् ।।१९६।।

अर्थ—जिस प्रकार समुद्रके जलमे पडी, अनेक छिद्रोसे परिपूर्ण नौका सचित जलके भारसे अतिशय वजनदार होती हुई, पथिकजनोके साथ वायुसे कम्पित होकर, खेद है कि, समुद्रके जलमे डूब जाती है उसी प्रकार ससारमे आस्रवसे सहित यह प्राणिसमूह बहुविध कर्मोके भारसे युक्त होनेके कारण गुरुतर—वजनदार होता हुआ उत्तम गुणसमूहोसे सुशोभित तथा कर्मोसे कम्पित हो शीघ्र ही ससारसागरमे निमग्न हो जाता है ।।१९१-१९२।। तीव्र मिथ्यात्व संसारका । अनादिकालीन प्रथम आस्रव है । दूसरा आस्रव अत्यन्त अहकारसे भरा हुआ अविरति—असंयमभाव है । जगत्का अहित करनेवाले कषाय तीसरा आस्रव है, मुनिजनोके द्वारा निन्दनीय प्रमाद चौथा आस्रव है और समस्तजनोका शत्रु यह योग पाँचवाँ आस्रव है । इस जगत्मे यह आत्मा उपर्युक्त पाँच आस्रवोके द्वारा निरन्तर विविध प्रकारके कर्मसमूहका विस्तार करता रहता है ।।१९३-१९४।। मै समस्त जनसमूहके बीच घोषणापूर्वक यह कहनेके लिए तैयार हूँ कि आस्रवसे सहित प्राणियोका समूह कभी भी अपने इष्ट स्थानपर जानेके लिए समर्थ नही है ।।१९५।। इस प्रकार इस ससारमे जो कोई भव्यजीव अपने विशुद्ध हृदयमे इस दु खरूप आस्रवको निरन्तर भावना करता है वह द्रव्यास्रव और भावास्रवको रोक कर अपनी महिमामे—आत्माके वीतरागस्वभावमे वास्तविक आनन्दसमूहको प्राप्त होता है ।।१९६।।

संवरभावना

अभिनवखलकर्मानास्रवः सवरो यः
स च समितिसुधर्मोद्भावनासंयमैश्च ।
अपि च बहुलतृपाशीतनाग्न्यादिकानां
भवति विजयहेतोर्भव्यपुंसां कदाचित् ।।१९७।।
अपि सहृदय गन्तुं दीर्घसंसारसिन्धो—
रपरतटभुवं भो वाञ्छसीह द्रुतं चेत् ।
झगिति झगिति मान्यं संवरं शकरं तद्
कुरु कुरु निजशक्त्या ह्यास्रवत्कर्मपङ्क्तेः ।।१९८।।

इह जगति जनो यः संवरं त्वन्तरेण
ह्यभिलषति सुमुक्ति दीर्घसंसारबन्धात् ।
कथमिव न हि सोऽयं नौसहाय विनैव
प्रबलपवनकम्प्रं सागर सतितीर्षुः ॥१९९॥

भवति खलु विना या संवरं निर्जरा सा
न हि न हि न हि कार्यं मुक्तिदं वै करोति ।
अभिलषति जनो यः कुण्डिकां रिक्ततोया-
मभिनवजलपूरस्तेन रोध्यः पुरस्तात् ॥२००॥

अनवरतमयि त्व क्लेशदै काययष्टेः
कुरु कुरु किल तीव्रैर्निर्जरां सतपोभिः ।
तदपि सुभग न त्वं ह्यन्तरा सवर तं
भवसि भुवनमध्ये मुक्तिकान्तः कदाचित् ॥२०१॥

जगति य इति नित्यं सवर शकरं तं
विगतनिजसहाये चेतसा चिन्तयेत्सः ।
अचिरममृतराज्यं मुक्तिकान्ताधवत्वं
स्वजनितबहुसौख्यं चैकदैव प्रयाति ॥२०२॥

अर्थ—नवीन दुष्ट कर्मोका जो आस्रव रुक जाता है वह सवर कहलाता है। वह सवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, संयम और तीव्र प्यास, शीत तथा नाग्न्य आदि परीषहोपर विजय प्राप्त करनेसे कभी भव्यजीवोंके होता है ॥१९७॥ हे विचारवान् प्राणी ! यदि तू दीर्घ ससार-सागरकी दूसरी तटभूमिको शीघ्र ही प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो आत्मशक्तिके द्वारा बहुत शीघ्र आते हुए कर्मसमूहका माननीय सुखदायक सवर कर ॥१९८॥ इस ससारमे जो मनुष्य सवरके विना दीर्घ ससारके बन्धनसे मुक्तिकी इच्छा करता है वह मनुष्य नौकाकी सहायताके विना ही तूफानसे लहराते हुए समुद्रको क्या पार करनेका इच्छुक नही है ? ॥१९९॥ निश्चयसे सवरके विना जो निर्जरा होती है वह मोक्षदायक कार्यको नही कर सकती है। ठीक ही है जो मनुष्य जलाशयको जलरहित करना चाहता है उसे पहले नवीन जलका प्रवाह

रोकना चाहिये ॥२००॥ हे भव्य ! भले ही तू शरीरयष्टिको क्लेश देनेवाले उत्कट तपोसे निर्जरा कर ले तो भी तू इस जगत्मे उस संवरके बिना कभी भी मुक्तिकान्ताका स्वामी नही हो सकता है ॥२०१॥ इस प्रकार अपने सहायकसे रहित ससारमे जो कोई हृदयसे उस सुखकारक सवरका निरन्तर विचार करता है वह शीघ्र ही मोक्षके राज्य और आत्मजनित बहुत भारी सुखसे युक्त मुक्तिवल्लभाके स्वामित्वको प्राप्त होता है। **भावार्थ**—यद्यपि इस जीवके सिद्धोके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणे कर्मपरमाणुओकी निर्जरा प्रत्येक समय हो रही है तथापि उस निर्जराके द्वारा यह जीव ससारबन्धनसे मुक्त नही हो सकता है क्योकि जितने कर्मपरमाणुओकी निर्जरा होती है उतने ही नवीन कर्मपरमाणुओका बन्ध हो जाता है। परन्तु सम्यग्दर्शन, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रका निमित्त मिलनेपर जब नवीन कर्मोका आगमन रुक जानेसे सवर होता है तब पूर्वबद्ध कर्म निर्जराको प्राप्त होते हैं और उसके फलस्वरूप समस्त कर्मोका क्षय कर यह जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। यही कारण है कि आगममे सवर पूर्वक होनेवाली निर्जराको ही महत्त्व दिया गया है ॥२०२॥

निर्जराभावना—

भवपतननिमित्तानां भवेऽस्मिन् खलानां
सुभग वसुविधानां कर्मणामेकदेशम् ।
क्षपणमयि जनानां जायते यत्तु नित्यं
मुनिपतिनिचयेनोद्गीयते निर्जरा सा ॥२०३॥

भवति युगविधेयं कर्मणां निर्जरा सा
ह्यनशनमुखयत्नैः साधनीया परा च ।
जनहितभरसक्ता तत्र पूर्वा प्रबोध्या
त्वपि भवति परा या सा न दक्षोपकारे ॥२०४॥

अभिलषसि भवाब्धिं चेत्तरीतुं सखे भोः
झटिति तदिह नौकां निर्जरामाश्रय त्वम् ।
न हि न हि न हि लोके निर्जरामन्तरेण
शिवनगरपतित्व प्राप्यते मर्त्यलोकैः ॥२०५॥

जलधिजलगनौकाया जलं मध्यगं चेत्
सति सुषिरनिरोधे क्षिप्यते नो बहिस्तत् ।
कथमिव खलु नौः सा प्रोत्तरीतुं प्रशक्ता
जलधिसलिलगर्भं लाघवेनेह मुक्त्वा ॥२०६॥

इति जगति तपस्वी निर्जरायाः स्वरूप
प्रमुदितमनसा वै नित्यशो भावयेद् यः ।
अचिरमिह स मुक्तः कर्मणां बन्धनात्स्याद्
भवतु भवतु भिक्षो निर्जराढ्यस्ततो भोः ॥२०७॥

अर्थ—हे भव्य ! ससारपतनके कारणभूत दुष्ट आठ कर्मोंका मनुष्योंके जो निरन्तर एकदेश क्षय होता रहता है श्रेष्ठ मुनिसमूहके द्वारा वह निर्जरा कही जाती है ॥२०३॥ कर्मोंकी यह निर्जरा दो प्रकारकी होती है—एक तो अनशन आदि तपश्चरणके प्रयत्नोंसे होती है और दूसरी साधारण निर्जरा अपने आप होती रहती है। इन दोनो निर्जराओमे पहली निर्जरा ही मनुष्योका हित करनेवाली जाननी चाहिये। और जो दूसरी निर्जरा है वह उपकार करनेमे समर्थ नही है। भावार्थ—आबाधा पूर्ण होनेपर कर्मोंके निषेक स्वय ही निर्जीर्ण होने लगते हैं यह सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा प्रत्येक संसारी प्राणीके होती है परन्तु उससे कोई लाभ नही होता। तपश्चरणादि करनेसे जो कर्मपरमाणु उदयावलीमे आनेके पूर्व ही निर्जीर्ण होते हैं उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। यह अविपाक निर्जरा ही मोक्षका कारण है ॥२०४॥ हे मित्र ! यदि तू ससार-सागरसे शीघ्र ही पार होनेकी इच्छा करता है तो निर्जरारूपी नौकाका आश्रय ले, क्योकि जगत्मे निर्जराके बिना मनुष्योके द्वारा मोक्षनगरका स्वामित्व नही प्राप्त किया जा सकता ॥२०५॥ समुद्रके जलके बीचमे जो नौका पडी हुई है उसका छिद्र बन्द कर देनेपर भी यदि भीतर भरा हुआ पानी बाहर नही फेंका जाता है तो वह शीघ्र ही समुद्रके जलमध्यको छोडकर पार करनेके लिए कैसे समर्थ हो सकती है ? ॥२०६॥ इस प्रकार जो तपस्वी प्रसन्न चित्तसे निरन्तर निर्जराके स्वरूपका चिन्तन करता है वह शीघ्र ही कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होता है। इसलिये हे साधो ! तुम निर्जरासे युक्त होओ ॥२०७॥

लोकभावना

कटिगतकरयुग्मो व्यस्तपादः पृथिव्या-
मिहमनुज इवायं तुङ्गताङ्गीकृताङ्गः ।
नभसि निरवसाने राजुसप्तद्वयात्मा
भवति स किल लोको द्रव्यषट्काभिपूर्णः ।।२०८।।

अयमयि किल लोकोऽधः सुवेत्रासनाभः
पुनरिह निजमध्ये सूर्यविम्बस्य तुल्यः ।
उपरि वरमृदङ्गाकारयुक्तः समन्तात्
पवनवलयवृन्दैर्वेष्टितो राजते सः ।।२०९।।

न हि न हि ननु लोको ब्रह्मणा निर्मितोऽय
न हि न हि वसुदेवापत्यसपालितो वा ।
न हि न हि हरणीयो भूतनाथेन तेन
न हि न हि खलु शेषधारणीयः शिरोभिः ।।२१०।।

विविधविधिविपाकाज्जायमानः कदाचित्
ह्यपगतनिजसंज्ञो म्रियमाणः कदाचित् ।
अमितमिति विशालं सभरन् दुःखभारं
भ्रमति जगति जीवो नित्यशोऽस्मिन् समन्तात् ।।२११

अभिलषसि यदि त्वं लोकसिन्धुं ह्यगाधं
निजभुजबलभूत्या संतरीतुं क्षणेन ।
तदनवरतमेतल्लोकसिन्धुस्वरूपं
स्तिमितसरलदृष्टया भव्य भोश्चिन्तय त्वम् ।।२१२।।

भवति भुवनसृष्टयाश्चिन्तनैर्मानवाना-
मपगतचपलत्वं चित्तमुद्भ्रान्तियुक्तम् ।
भवति झटिति तेन ध्यानसिद्धिस्तया च
प्रबलकठिनकर्मारातिजातिप्रणाशः ।।२१३।।

अर्थ—अनन्त आकाशके बीच चौदह राजु ऊँचा तथा छह द्रव्योसे परिपूर्ण यह लोक उस मनुष्यके आकार है जो पृथिवीपर दोनो पैर फैला

कर खडा हुआ है तथा कमरपर दोनों हाथ रखे हुए है ॥२०८॥ हे जीव ! यह लोक नीचे वेत्रासनके समान है, मध्यमें सूर्यविम्बके समान चपटा है और ऊपर मृदङ्गके आकार है । यह लोक सब ओरसे वातवलयोके समूहसे वेष्टित है । भावार्थ—लोकके तीन भेद हैं—१ अधोलोक, २ मध्यलोक और ३ ऊर्ध्वलोक । इनमें अधोलोक नीचे सात राजू फैला हुआ है और ऊपर एक राजू चौडा है अत. इसका आकार वेत्रासन (मूढा) के समान है । मध्यलोक समान धरातलपर एक राजू चौडा है इसलिये यह सूर्य-मण्डल अथवा झल्लराके समान है । ऊर्ध्वलोक प्रारम्भमें एक राजू, वीचमें पाँच राजू और ऊपर एक राजू चौडा है अत इसका आकार मृदङ्गके समान है । मेरुपर्वतका मूलभाग पृथिवीमे एक हजार योजन और ऊपर निन्यानवे हजार योजन है । मध्यलोककी ऊपर नीचेकी सीमा मेरुपर्वतके वरावर है । उसके नीचे अधोलोक और ऊपर ऊर्ध्वलोक हैं । लोकके चारो ओर घनोदधि वातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय ये तीन वातवलय हैं । लोकके नीचे जो वातवलय हैं उनकी मोटाई वीस-वीस हजार योजनकी है । ऊपर क्रमश घटती गई है । ऊपर लोकान्तमे तीनो वातवलयोकी मोटाई क्रमश तीन कोश, दो कोश और पन्द्रह सौ पचहत्तर धनुप प्रमाण है ॥२०९॥ यह लोक न तो ब्रह्माके द्वारा रचा गया है, न विष्णुके द्वारा सुरक्षित है, न महेशके द्वारा हरण करने योग्य है और न शेपनागके द्वारा अपने शिरोंसे धारण करने योग्य है ॥२१०॥ विविध कर्मोंके उदयसे यह जीव कभी उत्पन्न होता है, कभी निष्प्राण होता हुआ मरता है । इस प्रकार अपरिमित विशाल दु खके भारको भरता हुआ यह जीव इस जगत्मे सब ओर निरन्तर भ्रमण करता है ॥२११॥ हे भव्य ! यदि तू इस अगाध ससार-सागरको अपने भुजवलके वैभवके द्वारा शीघ्र ही तैरना चाहता है तो निरन्तर निश्चल तथा सरल दृष्टिसे इस ससार-सागरके स्वरूपका विचार कर ॥२१२॥ लोककी रचनाका विचार करनेसे मनुष्योका चञ्चल चित्त निश्चल हो जाता है । निश्चल चित्तके द्वारा शीघ्र ही ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानकी सिद्धिके द्वारा प्रवल तथा कठिन कर्मरूपी शत्रुओके समूहका क्षय हो जाता है ॥२१३॥

बोधिदुर्लभभावना

जगदिदमखिल हि स्थावरैः प्राणिपुञ्जै-
रभिखचितमनन्तैः सन्तत वर्तते भोः ।
भवति च किल तत्र द्व्यक्षकादित्वलब्धि-
जलधितलगरत्नप्राप्तिवद् दुःखलभ्या ॥२१४॥

विकलविततिमध्ये पञ्चखत्वस्य लाभो
गुणमणिनिकुरम्बे चोपकारज्ञतेव ।
विविधकठिनयत्नैः प्रापणीयः कदाचिद्
भवति भुवनमध्ये त केषांश्चिदेव ॥२१५॥

अहिमृगगवयादौ सङ्गमे मानवानां
सुमणिरिव समन्तात्कृच्छ्रलभ्यं नरत्वम् ।
अपगतवति तस्मिंस्तस्य भूयोऽपि लाभो
दहनगतरुतत्तोत्पत्तिवद् दुःखसाध्यः ॥२१६॥

तदपि यदि सुलब्धं जायते कर्महाने-
र्विषयकरणगोत्रारोगकत्वादिकं तत् ।
असुखबहुकयत्नै प्राप्यतेऽस्यां जगत्यां
सुखदजिनपधर्मस्तत्र भोः कष्टलभ्य ॥२१७॥

अपि सुकुलबलादिः स्वर्गिनागेन्द्र भोगः
प्रचुरधनसमूहो भामिनीमण्डलं वा ।
नृपतिमधुरमैत्र्यं चेतरत्सर्वमेतत्
सुलभमिह जनानां दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥२१८॥

जगति सुखदबोधिं रत्नमासाद्य भाग्याद्
विषयतरलशाते रञ्जन यत्तु पुंसाम् ।
भवति तदिह तेषामाढ्यतागर्वितानां
मलयजतरुदाहो भस्मपुञ्जाय पुंसाम् ॥२१९॥

विषयजचलसौख्यादाप्नुवन् ना विरामं
न खलु न खलु शीघ्रं हयेति सम्यक् समाधिम् ।
भवति च सुसमाधौ बोधिलाभः फलाढ्य-
स्तदिति झगिति नित्य चीयतां भोः समाधिः ॥२२०

य इति जगति नित्यं चिन्तयेद् बोधिरत्नं
प्रबलतरसुभागात्प्रापणीयं जन सः।
कथमपि किल लब्धं बोधिरत्नं प्रयत्नैः
सततमिह समग्रं पालयेत्तत्त्वदृष्ट्या ॥२२१॥

अर्थ—हे प्राणियो ! यह समस्त ससार सब ओरसे अनन्त स्थावर-जीवोके समूहसे भरा हुआ है। इसमे द्वीन्द्रियादिककी प्राप्ति होना समुद्रके तलभागमे पडे हुए रत्नकी प्राप्तिके समान कष्टसाध्य है ॥२१४॥ विकलत्रय जीवोंके समूहमे पञ्चेन्द्रियपर्यायकी प्राप्ति गुणरूपी मणियोंके समूहमें कृतज्ञतागुणके समान नानाप्रकारके कठिन प्रयत्नोसे कभी सभव है और वह भी ससारके मध्यमें किन्ही जीवोको ही होती है, सबको नही ॥२१५॥ जिस प्रकार मनुष्योकी भीडमे उत्तम मणिका मिलना कठिन है उसी प्रकार सर्प, मृग तथा गवय आदि पञ्चेन्द्रिय जीवोंके मध्यमे मनुष्य-भव सब ओरसे अत्यन्त कष्टसाध्य है। वह मनुष्यभव प्राप्त होकर यदि नष्ट हो जाता है तो उसका पुन प्राप्त होना जले हुए वृक्षका फिरसे उसी वृक्षके रूपमे उत्पन्न होनेके समान दु खसाध्य है ॥२१६॥ यदि कर्मकी हानिसे वह मनुष्यभव मिल भी जाता है तो पञ्चेन्द्रियोके विषय, इन्द्रिय, गोत्र और नीरोगता आदि इस पृथिवीमे बहुत अधिक दु खदायक प्रयत्नोसे प्राप्त होते हैं और यह सब भी मिल जावें तो सुखदायक जिन-धर्मका मिलना कष्टलभ्य है ॥२१७॥ अथवा उत्तम कुल, बल आदिक, देव और नागेन्द्रोके भोग, प्रचुरधनका समूह, स्त्रियोका समूह, राजाओकी मधुर मित्रता तथा और भी सब कुछ मनुष्योको सुलभ है परन्तु बोधि-रूपी रत्नकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥ १८॥ इस जगत्मे सुखदायक बोधिरत्नको पाकर विषयजनित नश्वर सुखमे पुरुषोका जो अनुरक्त होना है वह धनाढ्यताके अहकारी मनुष्योका भस्मसमूहके लिए चन्दनवृक्षके जलानेके समान है ॥२१९॥ यदि कोई मनुष्य विषयजन्य चञ्चल सुखसे विरक्तिको भी प्राप्त कर लेता है तो वह शीघ ही उत्तमसमाधिको प्राप्त नही होता है। चूँकि उत्तमसमाधिके प्राप्त होनेपर ही बोधिकी प्राप्ति सफल होती है इसलिए हे भव्यप्राणियो ! निरन्तर शीघ्र ही उस समाधिको प्राप्त किया जाय ॥२२०॥ इस प्रकार जगत्मे जो मनुष्य प्रबलतर भाग्यसे प्राप्त होने योग्य बोधिरत्नका निरन्तर चिन्तन करता है वही किसी प्रकार प्राप्त हुए उस बोधिरत्नकी अनेक प्रयत्नो द्वारा यथार्थरूपमे पूर्ण रक्षा कर सकता है। भावार्थ—परपदार्थसे भिन्न और स्वकीय गुणपर्यायोंसे

अभिन्न ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाले आत्मस्वरूपमे अभिरुचि तथा लीनता होना बोधि कहलाती है। इसकी दुर्लभताका जो मनुष्य निरन्तर विचार करता है वही इसकी परमार्थसे रक्षा कर सकता है ॥२२१॥

धर्मभावना—

भवजलधितलाद्यः प्राणिनो मोक्षमध्ये
घरति भवति धर्मोऽसौ जिनेन्द्रैः प्रणीतः ।
स च शुभतमदृष्टिज्ञानवृत्तप्रभेदात्
त्रिविध इह समुक्तोऽयं मुनीन्द्रैर्महद्भिः ॥२२२॥

जगति यदिह चिन्तारत्नमस्ति प्रसिद्धं
तदपि जनचयेनाऽऽचिन्त्यमानं ददाति ।
अभिलषितफलालीं कल्पवृक्षोऽपि तद्वत्
फलमयि खलु दातुं कल्प्यमानः सुशक्तः ॥२२:॥

सुरभिरपि जगत्यां कामदा या प्रसिद्धा
सुरवरनिकरेणाऽऽकाम्यमाना सदैन्यम् ।
प्रभवति फलपुञ्जं सापि दातु सुराणा-
मयमिह जिनधर्मोऽप्रार्थितः कामदस्तु ॥२२४॥

अभिलषसि यदि त्वं मुक्तिकान्तापतित्वं
ह्यभिलषसि यदि त्वं सेन्द्रनागेन्द्रसौख्यम् ।
अभिलषसि यदि त्वं चक्ररत्नाधिपत्वं
तदिह जिनपधर्मश्चीयतां चेतसा भोः ॥२२५॥

इति य इह पृथिव्यां शर्मदं जैनधर्मं
ह्यकुटिलहृदयेनाजस्रमाचिन्तयन्ति ।
लघु भवति च तेषां धीरता स्वात्मधर्मे
भवति पुनरवाप्तिर्मोक्षसौख्यस्य नूनम् ॥२२६॥

अर्थ—जो जीवोको संसार-समुद्रके तलभागसे निकाल कर मोक्षके मध्यमे धर दे—पहुँचा दे, जिनेन्द्र भगवान्‌ने उसे धर्म कहा है। वह धर्म इस जगत्‌मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रके भेदसे महा-

मुनियोके द्वारा तीन प्रकारका कहा गया है ॥२२२॥ इस जगत्मे जो चिन्तामणि प्रसिद्ध है वह जनसमूहके द्वारा चिन्तित होनेपर ही देता है। उसी प्रकार कल्पवृक्ष भी याचित होनेपर अभिलषित फलसमूहको देनेके लिये समर्थ होता है। पृथिवीमे जो कामधेनु प्रसिद्ध है वह भी जब देवसमूहके द्वारा दीनतापूर्वक याचित होती है तभी देवोको फलका समूह देनेमे समर्थ होती है। परन्तु जिनेन्द्रधर्म प्रार्थनाके बिना ही वाछित फलको देनेवाला है ॥२२३-२२४॥ हे प्राणी! यदि तू मुक्तिकान्ताके स्वामित्वको चाहता है, यदि तू देव और धरणेन्द्रके सुखको चाहता है और यदि तू चक्ररत्नके स्वामित्वको चाहता है तो इस जगत्मे हृदयसे जिनधर्मका सचय किया जाय ॥२२५॥ इस प्रकार इस पृथिवीपर जो सरल हृदयसे निरन्तर सुखदायक जैनधर्मका चिन्तन करते हैं उनकी शीघ्र ही स्वात्मधर्ममे स्थिरता होती है और उसके फलस्वरूप उन्हे निश्चयसे मोक्षसुखकी उपलब्धि होती है ॥२२६॥

भावनाओका फल—

भावना मुनिभिर्ध्येता भाविताः सूरिभाषिताः।
मुक्तिकान्तासमासङ्गे दूतीतुल्याः प्रकीर्तिताः ॥२२७॥

अर्थ—मुनियोके द्वारा चिन्तवन की हुई ये ऋषिप्रणीत बारह भावनाएँ मुक्तिरूपी कान्ताका समागम करानेमे दूतीके तुल्य कही गई हैं ॥२२७॥

आगे संवरके साधक परिषहजयका वर्णन करते है—

संवराध्वदृढीभाव-निर्जरार्थं मुनीश्वरैः।
परीषहाश्च सोढव्याः क्षुधाद्या द्व्यग्रविंशतिः ॥२२८॥

अर्थ—सवरके मार्गमे दृढ रहने तथा कर्मोकी निर्जरा करनेके लिये मुनिराजोको क्षुधा आदि बाईस परीषह सहन करना चाहिये ॥२२८॥

क्षुधापरीषहजय—

साधोः क्षुत्क्षामकण्ठस्य ताम्यतो व्रतमण्डलैः।
भुक्तपूर्वस्य भोज्यस्यास्मरतो धैर्यशालिन ॥२२९॥
भुञ्जानस्यानवरतं वैराग्यामृतभोजनम्।
शस्यते तपसो हेतुः क्षुद्बाधाविजयो जिनैः ॥२३०॥

अर्थ—जिनका कण्ठ क्षुधासे कृश हो गया है, अनेक व्रतसमूहोसे जो कायक्लेशको प्राप्त हो रहे है, पहले भोगे हुए भोजनका जो स्मरण नही करते हैं, जो धैर्यसे सुशोभित है, और जो निरन्तर वैराग्यरूपी अमृतमय भोजनका उपभोग कर रहे है ऐसे साधुके जिनेन्द्र भगवान्‌ने तपका कारण-भूत क्षुधापरिषहजय कहा है ॥२२९-२३०॥

तृषापरिषहजय—

चण्डभानुसमुत्तप्तदेहयष्टेरनारतम् ।
भ्रमतश्चण्डदेशेषूपवासादिविधायिनः ॥२३१॥
तृषया शुष्ककण्ठस्य यतेः सम्यक्त्वशालिनः ।
तां प्रत्यचिन्तनं प्रोक्तमुदन्याजयनं जिनैः ॥२३२॥

अर्थ—जिनका शरीर सूर्यसे सतप्त हो रहा है, जो निरन्तर गर्म देशोमे विहार करते हैं, जो उपवासादि करते है तथा प्याससे जिनका कण्ठ सूख गया है ऐसे सम्यग्दृष्टि मुनिका उस प्यासकी बाधाका विचार नही करना जिनेन्द्रभगवान्‌के द्वारा तृषापरिषहजय कहा गया है ॥२३१-२३२॥

शीतपरिषहजय—

हिमानीपातचन्द्राभीभूतकाननसञ्चये ।
दरिद्रद्वन्द्वदन्तीयकटात्कारकरम्बिते ॥२३३॥
हेमन्ते वीतवस्त्रस्य सरित्तीरनिवासिनः ।
महावीरस्य संभिक्षोः श्लाघ्यते शीतसंजयः ॥२३४॥

अर्थ—बर्फके पडनेसे जब वनोका समूह चन्द्रमाके समान सफेद हो रहा है और जो दरिद्र स्त्री-पुरुषोके दातोकी कटकट आवाजसे व्याप्त है ऐसी हेमन्त ऋतुमे नदीके तटपर निवास करने वाले महाशक्तिशाली दिगम्बर साधुका शीतपरिषहजय प्रशसनीय होता है ॥२३३-२३४॥

उष्णपरिषहजय—

ग्रीष्मार्कतापसंजीर्णपत्रपादपराजिनि ।
दवदावशिखादीप्ते निदाघे चण्डमारुते ॥२३५॥
नैकोपवाससंभूतपित्तकोपततेर्यतेः ।
अग्निकल्पशिलापृष्ठधृतैकासनशालिनः ॥२३६॥

आतापनादियोगेन रुद्धकर्मचयागतेः ।
उष्णबाधाजयोऽजग्यो गीयते जिनसूरिभिः ॥२३७॥

अर्थ—ग्रीष्मऋतुके सूर्य सम्बन्धी सतापसे जीर्ण पत्रवाले वृक्षोंके द्वारा जो सुशोभित है, जो दावानलकी ज्वालाओंसे देदीप्यमान है तथा जिसमें गर्म लू चल रही है ऐसे ग्रीष्मकालमें अनेक उपवासोंके करनेसे जिनका पित्त भड़क उठा है, जो अग्नितुल्य शिलातलपर एकासनसे सुशोभित हैं, तथा आतापनादि योगके द्वारा जिन्होंने कर्मसमूहका आस्रव रोक दिया है ऐसे मुनिके जिनेन्द्र भगवान्‌ने श्रेष्ठतम उष्णपरिषहजय कहा है ॥२३५-२३७॥

दंशमशकपरिषहजय—

नूतनाब्दमहानादत्रस्तभीरुकचेतसि ।
सलिलासारसंछन्नगगनाभोगशोभिनि ॥२३८॥
काले जलदजालानां वृक्षमूलनिवासिनः ।
चलत्पादपपत्राली पतत्पानीयशीकरैः ॥२३९॥
शीतैरुद्भूतरोमाञ्चप्राञ्चितस्य महामुनेः ।
वृश्चिकैर्दन्दशूकाद्यैर्मशकाद्यैश्च जन्तुभिः ॥२४०॥
दष्टदेहस्य तद्बाधाऽचिन्तनं मुनिसम्मतः ।
उक्तो दंशमशकादेर्बाधाया विजयो जिनैः ॥२४१॥

अर्थ—नवीन मेघोंकी महागर्जनासे जब भीरु मनुष्योंका चित्त भयभीत हो रहा है और जलकी मूसलाधार वर्षासे आच्छादित आकाशके विस्तारसे जो सुशोभित है ऐसे वर्षाकालमें जो वृक्षोंके नीचे निवास कर रहे हैं, वृक्षोंके हिलते हुए पत्रसमूहसे टपकनेवाली पानीकी ठण्डी बूंदोंसे उत्पन्न हुए रोमाञ्चोंसे जो सुशोभित हैं तथा बिच्छू, साँप और मच्छर आदिसे जिनका शरीर डशा गया है ऐसे महामुनिका उस बाधाका विचार नही करना जिनेन्द्रभगवान्‌के द्वारा दंशमशकपरीषहजय कहा गया है। यह परिषहजय मुनियोंके द्वारा मान्य है—अर्थात् मुनि इसे सहर्ष सहन करते हैं ॥२३८-२४१॥

नाग्न्यपरिषहजय—

ग्रन्थसम्बन्धमुक्तस्य ब्रह्मचर्यविभासिनः ।
तदात्वोत्पन्नबालस्येवातिनिर्मलचेतस ॥२४२॥

जितचित्तविकारत्वाल्ललनालतिका सदा ।
निन्द्या भावयतो भिक्षोरपवर्गाभिलाषिणः ॥२४३॥
भवभोगशरीरेभ्यो विरक्तस्य प्रशस्यते ।
नाग्न्यबाधाजयः सद्भिरास्रवत्कर्मरोधकः ॥२४४॥

अर्थ—जो परिग्रहके सम्बन्धसे निर्मुक्त है, ब्रह्मचर्यसे सुशोभित है, तत्काल उत्पन्न हुए बालकके समान जिनका चित्त निर्मल है, मानसिक विकारोको जीत लेनेसे जो स्त्रियोको सदा निन्द्य समझते हैं, जो मोक्षके अभिलाषी है तथा ससार, शरीर और भोगोसे विरक्त है ऐसे मुनिका नाग्न्यपरीषहजय सत्पुरुषोके द्वारा प्रशसनीय होता है। यह नाग्न्य-परीषहजय आते हुए कर्मोको रोकनेवाला है ॥२४२-२४४॥

अरतिपरीषहजय—

वादित्रनृत्यगीतादिशून्ये शून्यनिकेतने ।
शिलागुहाकदम्बे वा कानने तरुकोटरे ॥२४५॥
वसतः सुखदुःखादौ सदा माध्यस्थ्यधारिणः ।
यतेर्जयोऽरते प्रोक्तो जिनप्रोक्तमहागमे ॥२४६॥

अर्थ—जो वादित्र, नृत्य तथा गीतादिसे शून्य, सूने घरमे, पत्थरोकी गुफाओके समूहमे, वनमे तथा वृक्षोकी कोटरमे निवास करते हैं तथा सुख-दु ख आदिमे सदा माध्यस्थ्यभावको धारण करते हैं ऐसे मुनिके जिनप्रणीत महागममे अरतिपरिषहजय कहा गया है ॥२४५-२४६॥

स्त्रीपरीषहजय—

मरन्दामन्दमाकन्दकुन्दकुड्मलमञ्जुले ।
निर्जने काननोद्देशे वनिताविभ्रमादिभिः ॥२४७॥
अभ्रान्तचेतसो भिक्षोर्मारमारणकारिणः ।
विजयः शस्यते सद्भिः स्त्रीपरिषहसंहतेः ॥२४८॥

अर्थ—बहुत भारी मकरन्दसे युक्त आम तथा कुन्दकी बोडियोसे मनोहर निर्जन वनप्रदेशमें स्त्रियोके हावभाव आदिके द्वारा जिनका चित्त भ्रान्त नही हुआ है तथा जिन्होने कामको परास्त कर दिया है ऐसे मुनिका स्त्रीपरिषहजय सत्पुरुषोके द्वारा प्रशंसनीय होता है ॥२४७-२४८॥

चैत्यचैत्यालयादीना वन्दनादिनिमित्ततः ।
चरणावृतिशून्यस्य चरतश्चेर्यया सदा ॥२४९॥
पाषाणकण्टकच्छिन्नपादयुग्मपतत्तरैः ।
शोणितैः रक्तरथ्यस्य पथ्यान्वेषणकारिणः ॥२५०॥
पुरानुभूतमातङ्गस्यन्दनाद्यभिसञ्चरम् ।
स्वप्नेऽप्यस्मरतः साधोश्चर्यादुःखजयो मतः ॥२५१॥

अर्थ—चैत्य तथा चैत्यालय आदिकी वन्दनाके निमित्त जो सदा ईर्या-समितिसे विहार करते हैं, जो चरणावृत्त—पादत्राणसे रहित हैं, पाषाण तथा कण्टक आदिसे खण्डित चरणयुगलमे अत्यधिक मात्रामे पडनेवाले रुधिरसे जिन्होने मार्गका सेचन किया है, जो आहारका अन्वेषण कर रहे हैं अर्थात् निरवद्य आहारकी खोजमे विहार कर रहे हैं और पहले गृहस्थावस्थामे अनुभूत हाथी तथा रथ आदि वाहनोके द्वारा होने वाले सचारका जो स्वप्नमे भी स्मरण नही करते है ऐसे साधुके चर्यापरिषहका जीतना माना गया है ॥२४९-२५१॥

निषद्या परिषहजय—

शाकिनीभीवहारावप्रतिध्वनितदिक्तटे ।
श्मशाने, सिंहशार्दूलविषमारावसभृते ॥२५२॥
कान्तारे, शून्यसवासे गह्वरे तरुकोटरे ।
वसतो विविधव्याधासहने धीरचेतसः ॥२५३॥
वीरकोदण्डदण्डादिनिषद्या बहुदुःखदाः ।
साधोर्धृतवतः स्वात्म्यसौख्यसभारशोभिन. ॥२५४॥
तद्बाधाऽचिन्तन सद्यो मुक्तिदो मुनिसम्मत ।
निषद्यादुःखविजयः श्लाघ्यते वरसूरिभिः ॥२५५॥

अर्थ—शाकिनियोके भयोत्पादक शब्दोकी प्रतिध्वनिसे जिसमें दिशाओके तट गूज रहे हैं ऐसे श्मशानमे, सिहो तथा व्याघ्रोंके विषम शब्दोसे परिपूर्ण वनमे, निर्जन मकानमे, गुफामे और वृक्षोकी कोटरमे जो निवास करते हैं, विविध प्रकारकी बाधाओके सहनेमे जिनका चित्त धीर है, जो वीरासन, धनुरासन अथवा दण्डासन आदि कष्टदायक आसनोको

धारण कर रहे हैं तथा जो स्वात्मसुखके समूहसे सुशोभित है ऐसे साधुका उन सब बाधाओंका चिन्तन नही करना उत्तम आचायोके द्वारा निषद्या परीषहजय प्रशंसित किया जाता है। यह निषद्यापरिषह शीघ्र ही मुक्तिको देनेवाला है तथा मुनियोके लिये अत्यन्त इष्ट हैं ॥२५२–२५५॥

शय्यापरिषहजय—

शास्त्रपाठाध्वसंचारसंजातश्रमखेदिनः ।
शर्कराकण्टकाकीर्णे भूप्रदेशेऽजने निशि ॥२५६॥
एकपार्श्वेण मौहूर्तीं निद्रां प्राप्तवतो यते. ।
प्रबाधां तत्कृतां शान्त्या सहमानस्य भूतले ॥२५७॥
शय्याबाधाजयो नित्यमास्रवत्कर्मवारकः ।
गदितो गदितग्रन्थैर्निर्ग्रन्थैर्जिनसूरिभिः ॥२५८॥

अर्थ—शास्त्रस्वाध्याय अथवा मार्गमे चलनेके कारण उत्पन्न थकावटसे जो खेदयुक्त है, कङ्कण तथा काटोसे व्याप्त विर्जन भूखण्डमे जो रात्रिके समय एक करवटसे मूहूर्तव्यापिनी निद्राको प्राप्त है तथा पृथिबीतलपर उसके द्वारा की हुई बाधाको जो शान्तिसे सहन कर रहे हैं ऐसे मुनिके शय्यापरिषहजय अनेक ग्रन्थोके रचयिता निर्ग्रन्थ जैनाचार्योंके द्वारा कहा गया है। यह शय्यापरिषहजय निरन्तर आनेवाले कर्मोंको रोकने वाला है ॥२५६-२५८॥

आक्रोशपरिषहजय—

मिथ्यादर्शनसंदृप्तदुष्टमानववर्णितम् ।
अवज्ञाभर्त्सनानिन्दासभ्यवाचाकदम्बकम् ॥२५९॥
शृण्वतोऽपि तदर्थेषु न समाहितचेतसः ।
सहसा तत्प्रतिव्याधं कर्तुं शक्नुवतोऽपि च ॥२६०॥
अभिचिन्तयतो नित्य विपाकं पापकर्मणाम् ।
ततोऽनुष्ठानसंलीनमानसस्य महायतेः ॥२६१॥
कषायगरलाभावो हृदये किल गीयते ।
जयो ह्याक्रोशबाधाया आत्मशौचविधायकः ॥२६२॥

अर्थ—मिथ्यादर्शनसे गर्वित दुष्ट मनुष्योके द्वारा कहे हुए अनादर तिरस्कार और निन्दारूप असम्य वचनोके समूहको सुनते हुए भी जिनका चित्त उन शब्दोके अर्थमे सलग्न नही होता है, जो उनका प्रतिकार करनेके लिये तत्काल समर्थ होनेपर भी जो निरन्तर पापकर्मोके विपाकका हो विचार करते हैं और तपके अनुष्ठानमे जिनका चित्त सलीन है ऐसे महामुनिके हृदयमे जो कषायरूपी विपका अभाव रहता है अर्थात् उन्हे क्रोध उत्पन्न नही होता है वह आत्मशुद्धिको करने वाला आक्रोशपरिषहजय कहलाता है ॥२५९-२६०॥

वधपरिषहजय—

रथाङ्गखड्गकोदण्ड दण्ड मुद्गरताडनैः ।
ताड्यमानशरीरस्य व्यापादकशरीरिषु ॥२६३॥
अकुर्वतो मनोदुःख मनागपिकदाचन ।
पूर्वोपार्जितदुष्कर्मफलमेतत्समागतम् ॥२६४॥
इमे वराकाः किं कुर्युरीश्वरस्य ममात्मनः ।
वपुरेतत्क्षीणरोचिः क्षणरोचिरिवाचिरम् ॥२६५॥
दर्शनज्ञानचारित्रसुखवीर्यादिसद्गुणाः ।
न हन्यन्ते कदाप्येतैर्मुधा किं मृत्युचिन्तनैः ॥२६६॥
एव चिन्तयतः साधोः सर्वत्र समदर्शिन ।
वधव्याधक्षमा दुःखक्षमैः सूरिभिरुच्यते ॥२६७॥

अर्थ—चक्र, कृपाण, धनुष, दण्ड और मुद्गरोके प्रहारसे जिनका शरीर पीडित हो रहा है फिर भी जो मारने वालोके ऊपर मनमे कभी थोडा भी दुःख नही करते हैं। किन्तु यह विचार करते हैं कि यह मेरे पूर्वोपार्जित पापकर्मका फल आया है। ये वेचारे सामर्थ्यवन्त मेरी आत्माका क्या कर सकते हैं। यह शरीर विजलीके समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख और वीर्य आदि समीचीन गुण इनके द्वारा नष्ट नही किये जा सकते। इसलिये व्यर्थ ही मृत्युकी चिन्तासे क्या लाभ है। ऐसा विचार करनेवाले सर्वसमदर्शी साधुका वधपरिषहजय दुःख-सहन करनेमे समर्थ आचार्योके द्वारा कहा जाता है ॥२६३-२६७॥

याचनापरीषहजय—

तपोऽनुष्ठानलीनस्य तपोभावनया सदा ।
निःसारीकृतदेहस्य दावदग्धतरोरिव ॥२६८॥
शिरालदेहयन्त्रस्य क्षुधाक्षीणायुषोऽपि च ।
आहारभेषजादीन्ययाचमानस्य कुत्रचित् ॥२६९॥
भिक्षाकालेऽपि शम्पावद् दुर्लक्ष्यवपुषो मुनेः ।
याचनादुःखविजयः शस्यते शस्तसूरिभिः ॥२७०॥

अर्थ—जो सदा तपकी भावनासे तपके अनुष्ठानमे लीन रहते है, जिनका शरीर दावानलसे जले हुए वृक्षके समान साररहित हो गया है, जिनका शरीररूपी यन्त्र उभरी हुई नसोसे व्याप्त है, क्षुधासे क्षीणायु होनेपर भी जो आहार तथा औषध आदिकी कही याचना नही करते हैं और चर्याके कालमे भी जिनका शरीर बिजलीके समान कठिनाईसे दिखाई देता है ऐसे मुनिका याचनापरिषहजय प्रशस्त आचार्योके द्वारा प्रशसनीय होता है ॥२६८–२७०॥

अलाभपरीषहजय—

वातस्येवातिसङ्गस्यानेकदेशविहारिणः ।
वाचयमस्य सन्तोषसुधास्वादपटीयसः ॥२७१॥
सकृत्स्वविग्रहालोकमात्रतन्त्रस्य वासरे ।
एककृत्वः करद्वन्द्वपात्रेऽतिस्वल्पभोजनम् ॥२७२॥
भुञ्जानस्य महाभिक्षोर्भिक्षां बहुदिनेष्वपि ।
अनवाप्याप्यसक्लिष्टचेतसश्चितसद्गुणम् ॥२७३॥
अलाभबाधाजयनं चयन सौख्यसन्ततेः ।
प्रशस्यते सदा सद्भिर्निर्जीर्णाखिलकर्मकम् ॥२७४॥

अर्थ—जो वायुके समान नि सङ्ग हैं, अनेक देशोमे विहार करनेवाले हैं, मौनसे रहते है, सन्तोषरूपी सुधाका स्वाद लेनेमे अत्यन्त चतुर है, एक बार अपने शरीरका आलोकन कराते हैं अर्थात् आहारके लिये किसीके घर बार बार नही जाते है, दिनमे एकबार करयुगलरूपी पात्रमे अत्यन्त अल्प भोजन करते है और बहुत दिनोमे भी भिक्षाके न मिलने पर भी जिनके चित्तमे कुछ भी सक्लेश उत्पन्न नही होता है उन महामुनिके सुख-

समूहको सचित करने वाला एव चेतनके सद्गुण रूप अलाभपरिषहजय ,सदा सत्पुरुषोके द्वारा प्रशमनीय होता है। यह अलाभपरीषहजय समस्त कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला है ।।२७२-२७५ ।।

रोगपरिषहजय—

विरुद्धाहारपानादिसेवनादिनिमित्ततः ।
वातादिरोगसघाते सजातेऽपि कलेवरे ।।२७५
जन्लमल्लौषधिव्राते सत्यपि रोगवारणे ।
शरीरत्यक्तमोहस्य प्रतिकारानपेक्षिणः ।।२७६।।
महामुनेर्महाधैर्यशालिनः क्षमतापतेः ।
अभिहितं रुजाबाधासहनं सूरिसंचयै ।।२७७।।

अर्थ—विरुद्ध-आहार-पानादिसेवनके निमित्तसे वात आदि रोग-समूहके हो जानेपर भी तथा रोगको दूर करनेवाली जल्लमल्लौषधि आदि ऋद्धिसमूहके रहते हुए भी जिन्होने शरीरमे मोह छोड दिया है, जो प्रतिकारकी अपेक्षा नही रखते हैं, महान् धैर्यसे सहित हैं तथा सब प्रकारकी सामर्थ्यसे सहित हैं ऐसे महामुनिके रोगपरिषहका जीतना आचार्योंके समूहने कहा है ।।२७५-२७८।।

तृणादिस्पर्शपरिषहजय—

शर्करामृत्तिकाकाष्ठतृणकण्टकशूलकैः ।
छिन्नेऽपि पादयुगले तत्रानासक्तचेतसः ।।२७८।।
चर्य्याशय्यानिषद्यासु हरतः प्राणिपीडनम् ।
यतेस्तृणादिसंस्पर्शबाधाया विजयो मतः ।।२७९।।

अर्थ—छोटे छोटे कङ्कण, मिट्टी, काष्ठ, तृण, कण्टक तथा शूलके द्वारा चरणयुगलके छिन्नभिन्न हो जानेपर भी उस ओर जिनका चित्त आसक्त नही है तथा जो चर्या, शय्या और निषद्यामे प्राणिपीडाका परिहार करते हैं ऐसे मुनिके तृणादिस्पर्शपरिषहका विजय माना गया है ।।२७९-२८०।।

मलपरिषहजय—

ग्रीष्मग्रीष्मांशुसन्तापजनितस्वेदबिन्दुभिः ।
संसक्तधूलिपुञ्जस्य सिध्मकण्ड्वादिखेदिनः ।।२८०।।

विग्रहे वीतमोहत्वादस्नानव्रतधारिणः ।
ज्ञानचारित्रदृष्ट्यादिशीततोयावगाहनैः ॥२८१॥
कर्मपङ्कापहाराय नित्यमुद्यतचेतसः ।
आख्यायते मलव्याधसहनं यतिभूपते ॥२८२॥

अर्थ—ग्रीष्म ऋतुसम्बन्धी सूर्यके सतापसे उत्पन्न पसीनाकी बूँदोसे जिनके धूलिका समूह लग गया है, जो सेहुआ तथा खाज आदिके खेदसे युक्त हैं, शरीरसे निर्मोह होनेके कारण जो अस्नानका व्रत धारण करते है अर्थात् जिन्होने जीवनपर्यन्तके लिए स्नानका त्याग कर दिया है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र आदि गुणरूपी शीतल जलके अवगाहनके द्वारा जो कर्मरूपी पङ्कको दूर करनेके लिए उद्यत चित्त रहते है ऐसे मुनिराजके मलपरिषहविजय कहा जाता है ॥२८१-२८३॥

सत्कारपुरस्कारपरिषहजय—

महातपस्विनः साधोर्ब्रह्मचर्ययुतात्मनः ।
परवादिमदेभालीक्रुद्धवारणवैरिणः ॥२८३॥
असत्कारपुरस्कारे लेशमात्रमखिद्यतः ।
गीयते खलु सत्कारपुरस्कारव्यथाजयः ॥२८४॥

अर्थ—जो महातपस्वी हैं, जिनकी आत्मा स्वरूपरमणरूपी ब्रह्मचर्यसे सहित है, जो परवादीरूपी मदोन्मत्त हाथियोके लिए क्रुद्ध सिंह हैं तथा सत्कारपुरस्कारके अभावमे जो रञ्चमात्र भी खेद नही करते है ऐसे साधुके सत्कारपुरस्कारपरिषहजय कहा जाता है ॥२८४-२८५॥

प्रज्ञापरिषहजय—

अङ्गपूर्वादिविज्ञस्य शब्दन्यायादिवेदिनः ।
शारदाकेलिगेहस्य मथितग्रन्थतोयधेः ॥२८५॥
तपोऽनुष्ठानदक्षस्य गर्वानुत्पत्तिरंशतः ।
प्रज्ञाबाधाजय. साधो शस्यते वरसूरिभि. ॥२८६॥

अर्थ—जो अङ्ग-पूर्वादिके ज्ञाता हैं, व्याकरण तथा न्याय आदि शास्त्रोके वेत्ता है, सरस्वतीके क्रीडामन्दिर हैं, शास्त्ररूपी सागरका मन्थन करनेवाले हैं, और तपश्चरण करनेमे समर्थ हैं ऐसे साधुके अशमात्र अहकारका उत्पन्न नही होना उत्तम आचार्योके द्वारा प्रज्ञापरिषहजय कहा जाता है ॥२८६-२८७॥

अज्ञानपरिषहजय—

अविज्ञोऽय पशुप्रख्यो नैव जानाति किञ्चन ।
इत्याथवक्षेपवचः सहमानस्य नित्यशः ॥२८७॥
साधोस्तपस्विनश्चेतःसंक्लेशानुदयः क्वचित् ।
अज्ञानबाधाविजयो गीयते मुनिमण्डलैः ॥२८८॥

अर्थ—यह अज्ञानी है, पशुके समान है, कुछ भी नही जानता है इत्यादि तिरस्कारके वचन निरन्तर सहन करता है फिर भी जिसके कही मानसिकक्लेश उत्पन्न नही होता उस तपस्वी साधुके अज्ञानपरीषहजय मुनिसमूहके द्वारा कहा जाता है ॥२८८-२८९॥

अदर्शनपरिषहजय—

वैराग्यभावनायत्तहृदयस्य तपस्विनः ।
ज्ञाताखिलपदार्थस्य धर्मनिष्णातसन्मतेः ॥२८९॥
चिरप्रव्रजितस्यापि ममाद्यापि महस्विनः ।
विज्ञानातिशयः कश्चिन्नोत्पन्न सुखदो भुवि ॥२९०॥
व्यर्थेय सर्वथा दीक्षा विफलं व्रतपालनम् ।
इत्येवमादिचिन्ताभिर्दूरगस्य महामुने. ॥२९१॥
दर्शनशुद्धिसंयोगाद् विमलीकृतचेतसः ।
जयोऽदर्शनदुःखस्य कथ्यते मुनिसत्तमैः ॥२९२॥

अर्थ—मेरा हृदय वैराग्यभावनाके अधीन रहता है, मैं तपस्वी हूँ, समस्त पदार्थोंको जानता हूँ, मेरी बुद्धि धर्ममे निष्णात है, मुझे दीक्षा लिए हुए बहुत समय हो गया और मैं बडा प्रतापी हूँ फिर भी मेरे पृथिवी-पर सुखदायक कोई भी विज्ञानका अतिशय प्रकट नही हुआ है इसलिये यह दीक्षा सर्वथा व्यर्थ है, और व्रतोका पालन करना निष्फल है इस प्रकारके विचारोसे जो दूर रहते है तथा सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताके योगसे जिनका हृदय निर्मल है ऐसे महामुनिके अदर्शनपरिपहजय श्रेष्ठ मुनि-राजोके द्वारा कहा जाता है ॥२९० २९३॥

आगे परिषहोके कारण तथा स्वामीका वर्णन करते हैं—

चारित्रमोहतो नाग्न्यनिषद्याक्रोशयाचनाः ।
स्त्रीसत्कारपुरस्कारारतयश्च भवन्ति ते ॥२९३॥

अदर्शनं भवेद् दृष्टिमोहतोऽलाभसंज्ञकः ।
अन्तरायोदयात् प्रज्ञाज्ञाने ज्ञानावृतेस्तथा ॥२९४॥
शेषाश्च वेदनीये स्युरेकादश हि वेदनाः ।
एकोनविंशतेर्भाज्या एकाद्याश्चैकदा नरे ॥२९५॥
एकादश जिने प्रोक्ता वेदना जिनभानुना ।
बादरसाम्पराये तु सर्वा अपि भवन्ति ताः ॥२९६॥
सूक्ष्मादौ साम्पराये च छद्मस्थे वीतरागके ।
उपद्रवाः प्रकथ्यन्ते चत्वारो[1] दश चापि ते ॥२९७॥

अर्थ—चारित्रमोहके उदयसे नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना, स्त्री, सत्कारपुरस्कार और अरति परिषह होते है ॥२९२॥ दर्शनमोहके उदयसे अदर्शन, अन्तरायके उदयसे अलाभ, ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान तथा वेदनीयके उदयसे शेष ग्यारह—अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मलपरिषह होते है। एक साथ–एक कालमे एक मनुष्यके एकसे लेकर उन्नीस तक परिषह होते हैं। **भावार्थ**—चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनमेसे एक कालमे एक ही होता है। इसी प्रकार शीत और उष्णमेसे एक कालमे एक ही होता है, अत तीन कम हो जानेसे उन्नीस तक परिषह हो सकते हैं। इससे अधिक नही ॥२९३-२९४॥ जिनेन्द्ररूपी सूर्यने अरहन्त भगवान्के वेदनीयके उदयमे होनेवाले ग्यारह परिषह कहे है। बादरसाम्पराय अर्थात् छठवेंसे लेकर नौवें गुणस्थान तक सभी परिषह होते हैं। सूक्ष्म-साम्पराय और छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमे चौदह परिषह कहे गये हैं। वे चौदह परिषह इस प्रकार है—अलाभ, शय्या, वध, रोग, चर्या, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, प्रज्ञा, अज्ञान, मल, तृणस्पर्श और दशमशक। **भावार्थ**—अरहत भगवान्के जो ग्यारह परिषह कहे गये है वे असातावेदनीय कर्मका उदय रहनेसे कहे गये है। मोह-का अभाव हो जानेके कारण इन ग्यारह परिषहोसे कोई कष्ट नही होता और न उनके अनन्त सुखमे कोई बाधा ही आती है ॥२९५-२९७॥

---

१ अलाभशय्यावधरोगचर्याक्षुधातृषाशीतनिदाघजाता॰ ।
प्रज्ञामलाज्ञानतृणादिसङ्गसुदशदशादिभवाश्च बाधा ॥१॥

आगे सवरका कारण जो चारित्र है उसका वर्णन करते हैं—

सामायिकं च छेदोपस्थापना परिहारकः।
सूक्ष्मस्तथा यथाख्यातं पञ्चैते सयमा मताः ॥२९८॥
एते समुक्तपूर्वत्वात्संयममार्गवर्णने।
पुनरत्र न वर्ण्यन्ते पुनरुक्तिप्रसङ्गतः ॥२९९॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये सयमके पाँच भेद माने गये है। इन सबका स्वरूप पहले सयममार्गणामे कहा जा चुका है इसलिये पुनरुक्तिके प्रसङ्गसे यहाँ फिरसे नही कहा जा रहा है ॥२९९-३००॥

आगे सवरका माहात्म्य कहते हुए इस प्रकरणका समारोप करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित

गुप्त्याद्यैः पिहितास्रव किल मुनिर्निर्जीर्णकर्मोच्चयः
सद्यो याति शिव सदातनसुखं सज्ज्ञानपुञ्जार्चितम्।
रिक्तः सवरवस्तुना नरचये देवव्रजे नारके
तिर्यग्जीवकदम्बकेऽनवरतं हा हिण्डते विष्टपे ॥३००॥

आर्या

संसारसिन्धुतरणेऽजस्र चेतः समुत्सुक यदि ते।
यतिवर तर्ह्यविलम्बं स्वात्मसुपोत सुसज्जित कुरु भोः ।३०१।

उपजाति

मुक्त्यङ्गनासङ्गसमुत्सुकं ते
यते मनश्चेदविलम्बमेव।
आत्मानमेतं किल संवरेण
रत्नेन सज्जीकुरु तत्समन्तात् ॥३०२॥

अर्थ—जिसने गुप्ति आदिके द्वारा आस्रवको रोक दिया है तथा जिसके कर्मसमूहकी निर्जरा हो गई है ऐसा मुनि शीघ्र ही शाश्वतसुखसे सहित तथा सम्यग्ज्ञानके समूहसे पूजित मोक्षको प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो सवर पदार्थसे रहित है वह नरसमूह, देवसमूह, नारक

और तिर्यञ्च जीवोके समूहरूप लोकमे निरन्तर भ्रमण करता रहता है ॥३००॥

हे यतिवर ! यदि तुम्हारा चित्त ससारसागरके पार करनेमे निरन्तर उत्सुक रहता है तो तुम शीघ्र ही अपनी आत्मारूपी जहाजको सुसज्जित कर लो—आस्रव रूप छिन्द्रोसे रहित कर लो ॥३०१॥

हे साधो ! यदि तुम्हारा मन मुक्तिरूपी अङ्गनाका समागम प्राप्त करनेके लिये उत्कण्ठित है तो तुम शीघ्र ही इस आत्माको सब ओरसे सवररूपी रत्नसे अलंकृत करो ॥३०२॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिन्तामणिमे संवरतत्त्वका वर्णन करनेवाला अष्टम मयूख समाप्त हुआ ।

●

नवमो मयूखः

अब नवम मयूखके प्रारम्भमे मगलाचरण और निर्जरातत्त्वका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

आर्या

अर्हन्त भगवन्तं नत्वा नम्रेण चेतसा सततम् ।
तत्त्व गदामि किञ्चिन्मत्यनुसारेण निर्जरासज्ञम् ॥१॥

अर्थ—मैं विनयपूर्ण हृदयसे अर्हन्त भगवान्को नमस्कार कर यथा-बुद्धि निर्जरातत्त्वका कुछ कथन करता हूँ ॥१॥

अनुष्टुप्

तपसा निर्जरा चेति समुक्त पूर्वसूरिभिः ।
तपसामेव तद्व्याख्या क्रियतेऽस्मिन्मयूखके ॥२॥
उपवासोऽवमौदर्य वृत्तिसंख्यानमेव च ।
कायक्लेशो रसत्यागो विविक्तासनकं तथा ॥३॥
एतद्बाह्यतपःषट्कं कर्माष्टकनिवारकम् ।
मुक्तिकान्तापतित्वाय सेव्यते मुनिभिश्चिरम् ॥४॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंने 'तपसा निर्जरा च' अर्थात् तपसे निर्जरा और सवर दोनो होते हैं, ऐसा कहा है इसलिये इस मयूखमे तपोकी ही व्याख्या की जाती है ॥२॥ उपवास, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, कायक्लेश, रसपरित्याग और विविक्तशय्यासन यह छह बाह्य तप हैं। ये तप आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले हैं इसलिये मुनियो द्वारा मुक्तिरूपी कान्ताका स्वामित्व प्राप्त करनेके अर्थ चिरकाल तक इनकी उपासना की जाती है ॥४॥

आगे क्रमसे इन छह बाह्य तपोका लक्षण कहते हैं—

शरीरमोहनाशाय कषायाग्निशमाय च ।
आहारविषयत्याग उपवासो निगद्यते ॥५॥

संयमाय च सन्तोषशमस्वाध्यायसिद्धये ।
अल्पभोजनकारित्वमवमोदर्यमुच्यते ॥६॥
आशावह्निनिवृत्त्यर्थं भिक्षार्थं भ्रमतो यतेः ।
रथ्यासौधादिसंख्यानं वृत्तिसंख्यानमुच्यते ॥७॥
देहप्रीतिविनाशाय चेतःशोधनहेतवे ।
आतापनादियोगेन कायक्लेशविधायनम् ॥८॥
कायक्लेशाभिधं बोध्यं तपः कर्मनिवारकम् ।
अक्षदर्पप्रहाराय निद्राया विजयाय च ॥९॥
सुखस्वाध्यायसिद्ध्यर्थं मदनव्याधिहानये ।
सर्पिरादिरसत्यागो रसत्यागः प्रकीर्त्यते ॥१०॥
मृगस्त्रीषण्ढशून्येषु शून्यागारादिधामसु ।
स्वाध्यायध्यानसंसिद्ध्यै ब्रह्मचारित्ववृद्धये ॥११॥
शय्यासनादिकं ज्ञेयं विविक्तासनकं तपः ।
बाह्यद्रव्याभ्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षतस्तथा ॥१२॥
बाह्यीकत्वं प्रबोद्धव्यमेतेषां तपसामथो ।
अन्तरङ्गाणि गद्यन्ते सत्तपांसि समासतः ॥१३॥

अर्थ—शरीर सम्बन्धी मोहका नाश करने और कषायरूपी अग्निको शान्त करनेके लिये जो आहार और विषयोका त्याग किया जाता है वह उपवास कहलाता है ॥५॥ सयमके लिये और सन्तोष, शान्ति तथा स्वाध्यायकी सिद्धिके लिये अल्पभोजन करना अवमोदर्य तप कहा जाता है। भावार्थ—इसके कवल चान्द्रायण आदि भेद है ॥६॥ आशारूपी अग्निकी निवृत्तिके लिये भिक्षार्थ भ्रमण करनेवाले साधुका गली तथा महल आदिकी संख्याका निर्धारित करना वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा जाता है ॥७॥ शरीरकी प्रीतिका नाश करने तथा चित्तकी शुद्धिके निमित आतापनादि योगके द्वारा कायक्लेश करना कायक्लेश नामका तप है। यह तप कर्मोंका निवारण करनेवाला है। इन्द्रियोका दर्प नष्ट करने, निद्राको जीतने, सुखपूर्वक स्वाध्यायकी सिद्धि तथा कामबाधाको नष्ट करनेके लिये घी आदि रसोंका जो त्याग होता है वह रसपरित्याग नामका तप कहा जाता

है ॥८-१०॥ हरिण, स्त्री, पशु और नपुंसकोसे रहित शून्यागार आदि स्थानोमे स्वाध्याय तथा ध्यानकी सिद्धिके लिये अथवा ब्रह्मचर्यकी वृद्धिके लिये शयनासन करना विविक्तशय्यासन तप कहलाता है। ये सब तप बाह्यद्रव्योकी अपेक्षा रखते हैं तथा दूसरोको दिखाई देते हैं इस लिये बाह्य तप कहे जाते हैं। अब आगे सक्षेपसे अन्तरङ्ग तप कहे जाते हैं ॥११-१३॥

आगे अन्तरङ्ग तपोका वर्णन करते हैं—

आर्या

प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्त्यं प्रचक्ष्यते सद्भिः।
स्वाध्यायो व्युत्सर्गो ध्यानञ्चान्तस्तपःषट्कम् ॥१४॥

अर्थ—१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग और ६ ध्यान ये छह अन्तरङ्ग तप हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है— ॥१४॥

प्रायश्चित्त तप—

अनुष्टुप्

परिहारः प्रमादेन जाताया दोषसन्ततेः।
विशुद्धचेतसा साधोः प्रायश्चित्तं समुच्यते ॥१५॥
आलोचनादिभेदेन तन्नवधा विभिद्यते।
आकम्पितादिभिस्तत्र दशदोषैर्विवर्जितम् ॥१६॥
गुरोश्चरणयोरग्रे निजदोषनिवेदनम्।
आलोचनं तदुद्गीतमात्मशुद्धिविधायकम् ॥१७॥
मिथ्यासुदुष्कृताद्युक्तेरभिव्यक्तप्रतिक्रियम्।
तपः समुच्यते सद्भिः प्रतिक्रमणसज्ञकम् ॥१८॥
तदुभयं तदाख्यात संसर्गे सति शोधनात्।
सुससक्तान्नपानोपकरणादिविभाजनम् ॥१९॥
आत्मशुद्धिकरः पुंसां विवेकोऽय मतः सताम्।
कायोत्सर्गादिकरण व्युत्सर्गो हि समुच्यते ॥२०॥
सलक्ष्यते तपः सद्भिरुपवासादिलक्षणम्।
दिनसप्ताहमासार्धमासादीनां निगद्यते ॥२१॥

प्रव्रज्याहापनं छेदः कर्मनिग्रहकारकः ।
पक्षमासादिभेदेन सङ्गतो दूरवर्जनम् ॥२२॥

आस्रवत्कर्मसंरोधी परिहारोऽभिधीयते ।
दीक्षाया या पुनः प्राप्ति सा ह्युपस्थापना मता ॥२३॥

अर्थ—प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषसमूहका निर्मल हृदयसे परिहार करना प्रायश्चित्त कहलाता है । यह प्रायश्चित्त आलोचना आदिके भेदसे नौ प्रकारका होता है । उनमे आकम्पित आदि दश दोषोसे रहित होकर गुरुके चरणोके आगे अपने दोषको प्रकट करना आलोचन नामका प्राय-श्चित्त कहा गया है। यह प्रायश्चित्त आत्मशुद्धिको करनेवाला है। **भावार्थ**—आलोचनाके दश दोष इस प्रकार है—१ उपकरणोके देनेपर थोडा प्रायश्चित्त देते हैं ऐसा विचार कर पहले उपकरण देना पश्चात् दोषोको प्रकट करना यह आलोचनाका पहला दोष है । २ मै प्रकृतिसे दुर्बल हूँ, बीमार हूँ, उपवासादि करनेके लिये समर्थ नही हूँ, यदि कोई लघु प्रायश्चित्त देवें तो दोषोको प्रकट करूँ इस अभिप्रायसे दोष प्रकट करना दूसरा दोष है । ३ जो दोष दूसरोके देखनेमे नही आये उन्हे छिपा कर दूसरोके द्वारा देखे हुए दोषोको प्रकट करना तीसरा दोष है । ४ आलस्य या प्रमाद वश सूक्ष्म दोषोपर दृष्टि न देकर स्थूल दोषोको कहना चौथा दोष है । ५ कठिन प्रायश्चित्तके भयसे बडे दोषोको न कह कर लघु दोषोको कहना पाँचवाँ दोष है । ६ व्रतमे ऐसा अतिचार होनेपर क्या प्रायश्चित्त होता है इस प्रकार अपने आपको अपराधी घोषित किये विना पूछ कर चुपचाप प्रायश्चित्त लेना छठवाँ दोष है । ७ पाक्षिक, चातुर्मा-सिक अथवा सावत्सरिक प्रतिक्रमणके समय जब सब साधु प्रतिक्रमण कर रहे हो और उसका कोलाहल हो रहा है उसी—कोलाहलमें अपना भी दोष कहना सातवाँ दोष है । ८ एक गुरुके द्वारा प्रायश्चित्त बताये जाने पर दूसरे गुरुसे पूछना कि क्या यह प्रायश्चित्त ठीक है आठवाँ दोष है । ९ जो गुरु अपने ही समान दोष कर रहे है उनसे प्रायश्चित्त लेना नौवाँ दोष है । और १० इस साधुके समान ही मेरा अपराध है इसलिये जो प्रायश्चित्त इसे दिया गया है वही मैं लिये लेता हूँ ऐसा विचार कर अपना दोष प्रकट नही करना दशवाँ दोष है । आलोचनाके ये दोष १ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ वादर, ५ सूक्ष्म, ६ छन्न, ७ शब्दा-

कुलित, ८ वहुजन, ९ अव्यक्त और १० तत्सेवी इन नामोमे प्रसिद्ध है।[1] अपने दोषको अपने हृदयमे चिरकाल तक न रखकर बालकके समान निश्छल भावसे जो गुरुके समक्ष प्रकट कर देता है उसके ये दोप नहीं रहते और न भविष्यमे अन्य दोप हो पाते हैं। साधुका आलोचन एकान्तमे साधु और आचार्य इन दोके सन्निधानमे हो सकता है परन्तु आर्यिकाका आलोचन खुले स्थानमे तीन व्यक्तियोंके सन्निधानमे होता है। लज्जा या परतिरस्कारके कारण जो साधु अपना अपराध गुरुके सामने प्रकट कर उसकी शुद्धि नही करता है वह आय-व्ययका लेखा नही रखने वाले कर्जदारके समान दुखी होता है। आलोचनासे रहित बडा भारी तप भी इष्ट फलको नही देता है। आलोचना करके भी जो गुरुके द्वारा दिये प्रायश्चित्तको नही करता है उसका तप असुरक्षित खेतीके समान महाफलदायक नहीं होता है और जो विधिपूर्वक आलोचना करता है उसका चित्त परिमार्जित दर्पणके समान सुशोभित रहता है ॥१५-१७॥ 'मिथ्या मे दुष्कृत भवतु' इत्यादि शब्दोके उच्चारणपूर्वक जो स्वय अपने अपराधके प्रति ग्लानिका भाव प्रकट किया जाता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है ॥१८॥ जो आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनोंके द्वारा अपराधकी शुद्धि की जाती है उसे तदुभय नामका प्रायश्चित्त कहते हैं। भावार्थ—कुछ अपराध आलोचना मात्रसे शुद्ध हो जाते है, कुछ प्रतिक्रमण मात्रसे शुद्ध हो जाते है और कुछ ऐसे अपराध होते है जिनका पहल प्रतिक्रमण होता है और पश्चात् गुरुका सयोग मिलनेपर आलोचना की जाती है। जिसमे प्रतिक्रमण और आलोचना—दोनो किये जाते हैं वह तदुभय कहलाता है ॥१९॥ ससक्त अन्न पान तथा उपकरणादिका विभाजन करना विवेक नामका प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त आत्मशुद्धिको करनेवाला है। भावार्थ—अपराधी साधुको इस प्रकारका प्रायश्चित्त देना कि तुम अन्यसाधुओके साथ आहार ग्रहण नही कर सकते और अन्य साधुओके पीछी कमण्डलु आदि उपकरणोका उपयोग नही कर सकते, यह विवेक नामका प्रायश्चित्त है। आचार्य, यह प्रायश्चित्त समयकी अवधि निश्चित कर देते हैं। कायोत्सर्गादिका करना व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त है। इस प्रायश्चित्तमे आचार्य ऐसी आज्ञा देते है कि अपराधी साधु अमुक स्थानपर इतने समय तक

---

१ आकपिय अणुमाणिय ज दिट्ठ वादर च सुहुम च।
छण्हं सादाउलिय वहुजण अव्वत्त तत्सेवी ॥
इति दश दोपा ।

कायोत्सर्ग करे—उपसर्गादिके आने पर भी निश्चित समयके भीतर उस स्थानका परित्याग न करे ॥२०॥ उपवास आदि करनेका प्रायश्चित देना तप नामका प्रायश्चित्त है। इस प्रायश्चित्तमे गुरु अपराधकी हीनाधिकता देख कर आदेश देते है कि इतने दिनके भीतर इतने उपवास करो अथवा इतने समयके लिये अमुक रसोका परित्याग करो। एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष अथवा एक मास आदिकी दीक्षा कम कर देना छेद नामका प्रायश्चित्त है। भावार्थ—साधुओमे यह व्यवस्था है कि नवीन दीक्षित साधु पुराने दीक्षित साधुको नमस्कार करते हैं। यदि किसी पुराने दीक्षित साधुकी दीक्षा कम कर दी जाती है तो उसे नवदीक्षित साधुको नमस्कार करना पडता है। यह प्रायश्चित्त कर्मोका निग्रह करनेवाला है। एक पक्ष अथवा एक मास आदिके लिये सघसे अपराधी साधुको पृथक् कर देना यह आते हुए कर्मोको रोकनेवाला परिहार नामका प्रायश्चित्त है। तथा पुरानी दीक्षाको समाप्त कर पुन नवीन दीक्षा देना यह उपस्थापना नामका प्रायश्चित्त है। सघमे जिस साधुके लिये यह प्रायश्चित्त दिया जाता है वह नवदीक्षित कहलाता है तथा उसे पूर्व दीक्षित सब साधुओको नमस्कार करना पडता है ॥२१-२३॥

विनयतप—

पूज्येषु भक्तिसम्पत्तिर्विनयः स चतुर्विधः ।
ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारादिप्रभेदतः ॥२४॥
सहित बहुमानेन मोक्षार्थं ज्ञानसञ्चयः ।
उच्यते ज्ञानविनय केवलज्ञानकारणम् ॥२५॥
जीवादितत्त्वजातस्य शङ्काकाङ्क्षादिवर्जितम् ।
श्रद्धानं विनयः प्रोक्तो दर्शनस्य जिनेन्दुना ॥२६॥
चारित्रे यत्समक्तित्व चारित्रविनयः स हि ।
उपचारो द्विधा बोध्य प्रत्यक्षेतरभेदतः ॥२७॥
प्रत्यक्षे तत्र गुर्वादावागते निजविष्टरात् ।
समुत्थायाभिगमन प्राञ्जलीनां च बन्धनम् ॥२८॥
ईषत्स्मेरकपोलत्वमहोभाग्यनिवेदनम् ।
गतानुगमनं किञ्च शिरसा नमनादिकम् ॥२९॥

आह्वोपचारविनयं पूर्वाचार्यकदम्बकम् ।
परोक्षेऽपि तनूवाङ्मनोभिरञ्जलिबन्धनम् ॥३०॥
गुणसंकीर्तन नित्यं तमाहुः पूर्वसूरयः ।
इत्थ विनयाभिधानं तपो ज्ञेयं मुमुक्षुभिः ॥३१॥

अर्थ—पूज्य पुरुषोमे भक्तिका होना विनय है। वह विनय ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचारके भेदसे चार प्रकारका है ॥२४॥ मोक्ष प्राप्तिके लिये बहुत सन्मानके साथ ज्ञानका सचय करना ज्ञानविनय कहलाला है। यह ज्ञानविनय केवलज्ञानका कारण है ॥२५॥ जीवादि तत्त्वोके समूहका शङ्का, काक्षा आदि दोषोंसे रहित श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा दर्शनविनय कहा गया है ॥२६॥ चारित्रमे भक्तिसहित होना चारित्रविनय है। प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे उपचारविनयके दो भेद जानना चाहिये ॥२७॥ गुरु आदिके आनेपर अपने आसनसे खड़े होकर उनके सामने जाना, हाथ जोडना, मन्द हास्यसे कपोलोका विकसित होना, मेरा अहोभाग्य है जो आपके दर्शन हुए, जब वे जाने लगें तब उनके पीछे चलकर उन्हें पहुँचा देना, और शिरसे नमस्कार आदि करना, इस सबको पूर्वाचार्यका समूह उपचारविनय कहते है। गुरुजनोंके परोक्षमे भी मन, वचन, कायसे उन्हे हाथ जोडना, तथा निरन्तर उनके गुणोकी प्रशसा करना, इन सबको पूर्वाचार्य परोक्षविनय कहते हैं। इस प्रकार मुमुक्षु जनोके द्वारा विनय नामका तप जाननेके योग्य है ॥२८-३१॥

वैयावृत्त्यतप—

अथ वच्मि तपःश्रेष्ठ वैयावृत्यं सुखाकरम् ।
वैयावृत्यं तपो ज्ञेय सेवनीयस्य सेवनम् ॥३२॥
अथाचार्य उपाध्यायस्तपस्वी शैक्ष्यसज्ञकः ।
ग्लानो गणः कुल सङ्घः साधु किञ्च मनोज्ञकः ॥३३॥
दशानामिति साधूनां सेवनाद् दशधा स्थितम् ।
वैयावृत्यमपि ज्ञेयं तपो निर्जरकारणम् ॥३४॥
आचरन्ति व्रतं यस्मादाचार्यः स च साधव ।
शास्त्राण्युपेत्य यस्माच्चाधीयते स हि पाठकः ॥३५॥

उपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी तपनप्रभः ।
शिक्षाशीलो मुनि शैक्ष्यो ग्लानः क्लिष्टकलेवरः ॥३६॥
उच्यते जिनचन्द्रेण गणः स्थविरसन्ततिः ।
दीक्षकाचार्यशिष्याणां सन्ततिः कुलमुच्यते ॥३७॥
चातुर्वर्ण्यमुनिव्रातः सङ्घः साधुभिरुच्यते ।
चिरप्रव्रजितो भिक्षुः साधुसञ्ज्ञोऽभिधीयते ॥३८॥
कल्याणदर्शनोद्दक्षो मनोज्ञो लोकसम्मतः ।

अर्थ—अब तपोमे श्रेष्ठ तथा सुखकी खान स्वरूप वैयावृत्त्य तपका कथन करता हूँ। सेवा करने योग्य साधुकी सेवा करना वैयावृत्त्य तप जानना चाहिये ।।३२।। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियोकी सेवा करनेसे वैयावृत्त्य तप दश प्रकारका जानना चाहिये। यह तप निर्जराका कारण है ॥३३-३४॥ जिनसे साधु व्रतोका आचरण करते हैं वे आचार्य है। जिनके पास जाकर शास्त्र पढते है वे उपाध्याय है ॥३५॥ जो उपवासादि करते है वे सूर्यके समान देदीप्यमान तपस्वी कहलाते हैं। जो शिक्षा ग्रहण करते है वे शैक्ष्य कहलाते हैं। जिनका शरीर रोगादिके क्लेशसे सहित है वे ग्लान है ।।३६।। वृद्ध मुनियोका समूह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा गण कहा जाता है। दीक्षा देनेवाले आचार्योकी जो सन्तति है वह कुल कहलाती है। ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोका समूह सघ कहा जाता है। चिरकालके दीक्षित मुनियोका सघ साधु कहलाता है और कल्याणके दिखानेमे अत्यन्त समर्थ लोकप्रिय साधु मनोज्ञ कहे जाते हैं। इन दश प्रकारके मुनियोकी वैयावृत्ति करना दश प्रकारका वैयावृत्त्य तप है ।।३७-३८।।

स्वाध्यायतप—

सुज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्याय इष्यते ॥३९॥
वाचनाप्रच्छनाम्नायानुप्रेक्षाधर्मदेशनैः ।
पञ्चधा भिद्यते सोऽय स्वाध्यायः साधुसम्मतः ॥४०॥
अथानवद्यग्रन्थार्थोभयदानं हि वाचना ।

संशयस्य विनाशाय दार्ढ्यार्थं निश्चितस्य च ॥४१॥
यः परान् प्रति संप्रश्नः प्रच्छना सा प्रचक्ष्यते ।
अर्थस्य मनसाभ्यासो ज्ञातस्याथो समुच्यते ॥४२॥
अनुप्रेक्षा, घोषशुद्धमाम्नाय परिवर्तनम् ।
वीतरागकथादीनामनुष्ठान च संसदि ॥४३॥
भाषित जिनचन्द्रेण हित धर्मोपदेशनम् ।

अर्थ—सम्यग्ज्ञानकी भावनामे आलस्यका त्याग करना स्वाध्याय माना जाता है ॥३९॥ साधुजनोको अतिशय इष्ट यह स्वाध्याय वाचना, प्रच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेशके द्वारा पाँच प्रकारका है ॥४०॥ निर्दोष ग्रन्थ, अर्थ अथवा दोनोका दान करना अर्थात् पढकर दूसरोको सुनाना वाचना नामका स्वाध्याय है। सशयका नाश करने और निश्चित वस्तुकी दृढताके लिये दूसरोके प्रति जो प्रश्न किया जाता है वह प्रच्छना स्वाध्याय कहलाता है। जाने हुए पदार्थका मनसे अभ्यास करना अर्थात् बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। उच्चारण-की शुद्धतापूर्वक आवृत्ति करना आम्नाय नामका स्वाध्याय है और सभामे वीतरागकथा आदिका अनुष्ठान करना अर्थात् उपदेश देना धर्मोप-देश नामका स्वाध्याय श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है। यह धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय सर्वजनहितकारी है ॥४१-४३॥

व्युत्सर्गतप—

अथात्मात्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्ग उच्यते ॥४४॥
बाह्याभ्यन्तरसङ्गानां त्यागाद् द्वेधा स इष्यते ।
ध्यानं चाग्रे प्रवक्ष्यामि सभेद च सलक्षणम् ॥४५॥

अर्थ—यह मैं हूँ और यह मेरा है, इस प्रकारके सकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग कहलाता है ॥४४॥ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोके त्यागसे वह व्युत्सर्ग तप दो प्रकारका माना जाता है। आगे भेद और लक्षण सहित ध्यानका कथन करूँगा ॥४५॥

आगे ध्यानतपका लक्षण कहते है—

चेतोविक्षेपसत्यागो ध्यान यतिभिरुच्यते ।
आर्त्तरौद्रादिभेदेन तच्चतुर्धा विभिद्यते ॥४६॥

आद्यत्रयेण युक्तस्य षट्सहननसंहते ।
आन्तर्मुहूर्तकादेव तद्भवेत् स्थिरचिन्तनम् ॥४७॥

अर्थ—चित्तकी चञ्चलताका त्याग करना मुनियोके द्वारा ध्यान कहा जाता है । वह ध्यान आर्त्त तथा रौद्रादिके भेदसे चार प्रकारका होता है और छह सहननोमेसे आदिके तीन सहननोसे युक्त जीवके ही अन्तर्मुहूर्त तक होता है ॥४६-४७॥

आर्तध्यान—

ऋते जातं भवेदार्त्तं ध्यान ससारकारणम् ।
तत्रानिष्टस्य सयोगे तद्वियोगाय चिन्तनम् ॥४८॥
आर्त्तमाद्यं प्रविज्ञेयं निरन्ताशर्मकारणम् ।
स्वपुत्रदारवित्तादेर्वियोगे सत्यरुन्तुदे ॥४९॥
तद्योगाय मनःक्षेपो द्वितीय ह्यार्त्तमुच्यते ।
वातपित्तादिकोपेन जाते नैकरुजाचये ॥५०॥
तदपायः कथं मे स्यादित्यजस्र प्रचिन्तनम् ।
उक्त तृतीयमार्त्तं तज्जिननक्तमधीशिना ॥५१॥
सततं भोगकाङ्क्षाभिर्लम्पटस्य नरस्य या ।
अप्राप्तविषयप्राप्तिं प्रति चित्तस्य व्यापृतिः ॥५२॥
तन्निदानाभिधं ज्ञेयमार्तध्यानं तुरीयकम् ।
अवृत्तदेशवृत्तानामार्त्तध्यानं चतुर्विधम् ॥५३॥
भवेत्प्रमत्तवृत्तानामन्यदार्त्तत्रय पुन ।
निदानवर्जितं ज्ञेयं जातुचिन्न तु सर्वदा ॥५४॥

अर्थ—ऋत अर्थात् दु.खमे जो ध्यान होता है वह ससारका कारण आर्तध्यान कहलाता है । वह आर्तध्यान अनिष्टसयोगज, इष्टवियोगज, वेदनाज और निदानके भेदसे चार प्रकारका है । उनमेसे अनिष्टका सयोग होनेपर उसे दूर करनेके लिये बार-बार चिन्तन करना अनन्त दु:खका कारणभूत पहला आर्तध्यान जानना चाहिये । अपने पुत्र, स्त्री तथा धन आदिका मर्मघाती वियोग होनेपर उनके संयोगके लिये मनका विक्षेप होना दूसरा आर्तध्यान कहलाता है । वात, पित्त आदिके प्रकोपसे

अनेक रोगोका समूह उत्पन्न होनेपर 'मेरे इनका वियोग किस प्रकार हो सकता है' इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना तीसरा आर्त्तध्यान जिनेन्द्र-चन्द्रके द्वारा कहा गया है ॥४८-५१॥ निरन्तर भोगोकी आकाक्षाके द्वारा लम्पटका अप्राप्त विषयसामग्रीको प्राप्त करनेके लिये जो मनका व्यापार होता है वह निदान नामका चौथा आर्तध्यान जानने योग्य है ॥५२॥ अविरत अर्थात् पहलेसे चतुर्थ गुणस्थान तक और देशविरत नामक पञ्चम गुणस्थानमे चारो प्रकारका आर्तध्यान होता है परन्तु प्रमत्त विरत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती जीवोके निदानको छोड कर तीन आर्तध्यान होते है। वे भी कभी-कभी होते हैं और सर्वदा नही ॥५३-५४॥

रौद्रध्यान—

रुद्रस्य कर्म भावो वा ध्यानं रौद्रं समुच्यते।
तदेतद्बद्धदुष्कर्मसन्ततिश्वभ्रकारणम् ॥५५॥

उपजाति

हिंसानृतस्तेयपरिग्रहाणां
सरक्षणेभ्यश्चलचित्तवृतेः ।
चतुर्विधत्वात्किल भिद्यते तद्
ध्यानं पुनश्चापि चतुर्विधानैः ॥५६॥

आर्या

अविरतदेशव्रतयोर्ध्यानं रौद्र समुच्यते मुनिभि ।
इदमस्ति पुनर्ध्यानं नरकायुःकारण नियतम् ॥५७॥

अर्थ—रुद्र अर्थात् क्रूर मनुष्यका जो कार्य अथवा भाव है वह रौद्र-ध्यान कहलाता है। यह रौद्रध्यान दुष्ट कर्मोंकी सन्ततिका बन्ध करनेवाला है तथा नरकका कारण है ॥५५॥ हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहके सरक्षणसें चञ्चल चित्तवृत्ति चार प्रकारकी होती है और उस चञ्चल चित्तवृत्तिके कारण रौद्रध्यान भी चार प्रकारका होता है ॥५६॥ यह ध्यान मुनियोंके द्वारा अविरत अर्थात् पहलेसे चतुर्थ तक चार गुणस्थानो और देशव्रत नामक पञ्चम गुणस्थानमे कहा गया है यह ध्यान निश्चित ही नरकायुका कारण है ॥५७॥

धर्म्यध्यान—

धर्मादनुज्झित ध्यानं धर्म्यं कर्मविरोधनम् ।
अथाज्ञापायसंस्थानविपाकविचया इति ॥५८॥
चतुर्धा भिद्यते ध्यानं धर्म्यं स्वर्गादिकारणम् ।
उपदेष्टृजनाभावात्तीव्रकर्मोदयात्पुनः ॥५९॥
सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां मन्दमत्युदयात्तथा ।
अभावे हेतुदृष्टान्तप्रत्यक्षादेः समन्ततः ॥६०॥
सर्वज्ञभाषितं ग्रन्थं प्रमाणीकृत्य चेतसा ।
इदमेवेत्थमेवात्र वस्तु नान्यन्न चान्यथा ॥६१॥
न भवन्ति मृषावादतत्परा वीतरागकाः ।
इत्याद्येन विचारेण गभीरार्थावधारणम् ॥६२॥
तत्राज्ञाविचयो ज्ञेयं ध्यानं कर्मनिबर्हणम् ।

अर्थ—धर्मसे सहित ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है। यह ध्यान कर्मोंके आस्रवको रोकने वाला है। स्वर्गादिका कारण जो धर्म्यध्यान है वह आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचयके भेदसे चार प्रकारका होता है। उपदेशक जनोका अभाव होनेसे, तीव्रकर्मोंका उदय होनेसे, पदार्थोंके सूक्ष्म होनेसे, बुद्धिके मन्द होनेसे तथा सब ओर हेतु दृष्टान्त तथा प्रत्यक्षादि—प्रमाणोका अभाव होनेसे सर्वज्ञभाषित ग्रन्थको हृदयसे प्रमाण मानकर इस जगत्मे वस्तु यही है ऐसी ही है अन्य नही है तथा अन्य प्रकार नही है। वीतराग देव असत्य-कथनमे तत्पर नही होते है इत्यादि विचारके द्वारा गम्भीर पदार्थोंका निश्चय करना आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान है। यह ध्यान कर्मोका निराकरण करने वाला है ॥५८-६२॥

अपायविचयधर्म्यध्यान—

मिथ्यात्वोदयसंतप्ता जनुषान्धा यथा जनाः ॥६३॥
मार्गात्सर्वज्ञनिर्दिष्टादपवर्गगृहावधेः ।
सम्यङ्मार्गापरिज्ञानादपयान्त्येव दूरत ॥६४॥
इति सन्मार्गतोऽपायचिन्तन स्थिरचेतसा ।

यद्वा संसृतिमध्यस्था एते देहधराः कथम् ।।६५।।
अपेयुर्नाम मिथ्यात्वमार्गादित्येव चिन्तनम् ।
अपायविचयो ध्यानं कथ्यते हितसाधनम् ।।६६।।

अर्थ—मिथ्यात्वके उदयसे सतप्त प्राणी, जन्मान्ध मनुष्योके समान मोक्षमहल तकका जो मार्ग सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा बतलाया गया है उससे मार्गका ठीक परिज्ञान न होनेके कारण दूर भटक रहे हैं इस प्रकार स्थिर चित्तसे सन्मार्गसे दूर हटनेका विचार करना अथवा ससारके मध्यमे स्थित ये प्राणी मिथ्यात्वके मार्गसे किस प्रकार दूर हट सकते हैं, ऐसा चिन्तन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। यह ध्यान स्वपर-हितका कारण है ।।६३-६६।।

विपाकविचयधर्म्यध्यान—

ज्ञानावृत्यादिभेदानां कर्मणामुदय प्रति ।
चेतसः प्रणिधान हि विपाकविचयो मतः ।।६७।।

अर्थ—ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयके प्रति चित्तका लगाना अर्थात् किस कर्मके उदयसे क्या फल प्राप्त होता है ऐसा विचार करना विपाक-विचय नामका धर्म्यध्यान है ।।६७।।

सस्थानविचयधर्म्यध्यान—

लोकाकारस्वभावादेश्चेतसा चिन्तनं तथा ।
सस्थानविचयो ध्यानं ज्ञेयं सर्वज्ञभाषितम् ।।६८।।
तच्चासयतसदृष्टिदेशव्रतविशोभिनाम् ।
प्रमत्तेतरसाधूनां भणितं परमागमे ।।६९।।

अर्थ—लोकके आकार तथा स्वभाव आदिका चित्तसे चिन्तन करना सस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा कहा गया है। यह धर्म्यध्यान अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्त विरत मुनियोके होता है ।।६८-६९।।

शुक्लध्यान—

शुक्लध्यानमथो वक्ष्ये शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
जीर्णकर्ममहासैन्यं मुक्तिकान्तामनोरमम् ।।७०।।

तदेतद्धवलं ध्यानं चतुर्धा भिद्यतेतराम् ।
पृथक्त्वेन युतं प्रोक्तं वितर्कं प्रथमं ततः ॥७१॥
एकत्वसंयुतं शुक्लं द्वितीयध्यानमीप्सितम् ।
सूक्ष्मक्रियाप्रतीपातं शुक्लध्यानतृतीयकम् ॥७२॥
गतक्रियानिवर्त्येतत्तुरीयञ्च तथा मतम् ।
तत्राद्ये धवले ध्याने जायेते पूर्ववेदिनः ॥७३॥
परे केवलिनः प्रोक्ते क्षीणज्ञानावृतेस्तु ते ।
त्रियोगिनां भवेदाद्यं द्वितीयञ्चैकयोगिनः ॥७४॥
तृतीयं काययोगस्य चतुर्थं स्यादयोगिनः ।
एकाश्रयं वितर्केण वीचारेण च संयुतम् ॥७५॥
आद्यं हि भवति ध्यानं शरदब्दमनोहरम् ।
अवीचारं द्वितीयं तु सवितर्कं समिष्यते ॥७६॥
श्रुतं वितर्को विज्ञेयस्तर्कवैशिष्ट्यशोभितः ।
अर्थव्यञ्जनयोगानां संक्रान्तिः परिवर्तनम् ॥७७॥
वीचारो मुनिभिः प्रोक्तः श्रुतज्ञानविशोभिभिः ।
इत्थं संक्षेपतः प्रोक्तं सत्तपो ध्यानसंज्ञितम् ॥७८॥

अर्थ—आगे उस शुक्लध्यानको कहूँगा जो शुद्ध स्फटिकके समान है, कर्मरूपी बडी भारी सेनाको नष्ट करनेवाला है, और मुक्तिरूपी कान्ताके मनको हरण करनेवाला है ॥७०॥ वह शुक्लध्यान चार प्रकारका है। पहला पृथक्त्ववितर्कवीचार है, दूसरा एकत्ववितर्क है, तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति माना गया है। इनमे आदिके दो ध्यान पूर्वविद्—पूर्वोके ज्ञाता मुनिके होते हैं और आगेके दो ज्ञानावरणका क्षय करनेवाले केवली भगवान्‌के कहे गये है। पहला शुक्लध्यान तीनो योगोके धारक मुनिके होता है, दूसरा शुक्लध्यान तीन योगोमेसे किसी एक योगके धारक मुनिके होता है। तीसरा शुक्लध्यान काययोगके धारक केवलीके होता है और चौथा शुक्लध्यान योगरहित मुनि अर्थात् चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली भगवान्‌के होता है। पहला शुक्लध्यान आगमके किसी शब्द या अर्थका आश्रय लेकर उत्पन्न होता है तथा

उसमे शब्द, अर्थ और योगका परिवर्तन होता रहता है। दूसरा भेद भी आगमके आश्रयसे होता है परन्तु उसमे वीचार—शब्द, अर्थ और योगका परिवर्तन नही होता। तर्ककी विशिष्टतासे सुशोभित मुनिका जो श्रुतज्ञान है—शास्त्रज्ञान है उसे वितर्क कहते है तथा शब्द, अर्थ और योगोकी जो सक्रान्ति—परिवर्त्तन है उसे श्रुतज्ञानसे शोभायमान मुनियोने वीचार कहा है। इस प्रकार सक्षेपमे ध्यान नामक समीचीन तपका कथन किया।

विशेषार्थ—शुक्लध्यानका पहला भेद अष्टम गुणस्थानसे शुरू होकर एकादश गुणस्थान तक चलता है। इस ध्यानके द्वारा दशम गुणस्थानके अन्त तक मोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय होता है। उपशमश्रेणी वालेके उपशम होता है और क्षपक श्रेणीवालेके क्षय होता है। क्षपकश्रेणीवाला दशम गुणस्थानके अन्तमे मोहकर्मकी क्षपणाको पूर्ण कर बारहवें गुणस्थानमे पहुँचता है। इस पहले भेदमे दशम गुणस्थान तक चारित्रमोहका उदय रहनेसे अबुद्धिपूर्वक इच्छा रहती है और उसके कारण शब्द, अर्थ तथा योगोमे परिवर्तन होता है। पहला भेद तीनो योगोंके आलम्बनसे शुरू होता है अत बीच बीचमे उन योगो तथा ध्यानके विषयभूत शब्द, अर्थ, द्रव्य, गुण अथवा पर्यायमे परिवर्तन होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थानमे प्रकट होता है। यहाँ इच्छाका सर्वथा अभाव होता है अत जिस योगके द्वारा ध्यान शुरू किया जाता है उसीसे अन्तर्मुहूर्त तक चलता है उसमे परिवर्तन नही होता। इसी प्रकार जिस शब्द, अर्थ, द्रव्य, गुण अथवा पर्यायको ध्येय बनाकर ध्यानको शुरू करता है उसीपर अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रहता है। इस ध्यानके फलस्वरूप ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों तथा नामकर्मकी तेरह प्रकृतियोका क्षय होता है। तीसरा भेद तेरहवें गुणस्थानके अन्तमे जब मनोयोग, वचनयोग तथा स्थूल काययोग नष्ट होकर मात्र सूक्ष्मकाय योग रह जाता है तब प्रकट होता है। इसके द्वारा यद्यपि किसी कर्म प्रकृतिका क्षय नही होता तथापि गुणश्रेणी निर्जरा सबसे अधिक होती है। चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थानमे प्रकट होता है। इस ध्यानके कालमे कोई भी योग नही रहता, पूर्ण अयोग अवस्था होती है और उसके फलस्वरूप उपान्त समयमे ७२ और अन्त समयमे १३ प्रकृतियोका क्षय होता है। इस प्रकार शुक्लध्यान ही कर्मक्षयका प्रमुख कारण है ॥७१-७८॥

आगे गुणश्रेणी निर्जराकी न्यूनाधिकता बताते हैं—

सद्दृष्टिः श्रावकः किञ्च प्रत्यनन्तवियोजकः ।
क्षपको दृष्टिमोहस्य तस्योपशमकस्तथा ॥७९॥

शान्तमोहः क्षपकश्च क्षीणमोहस्तथा जिनः ।
इत्येषां दशपात्राणां निर्जरोद्यतचेतसाम् ॥८०॥
निर्जरा किल विज्ञेयाऽसंख्येयगुणिता क्रमात् ।
इत्येवं निर्जरातत्त्वं यथाग्रन्थं निवेदितम् ॥८१॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणीवाला, उपशान्त-मोह, क्षपकश्रेणीवाला, क्षीणमोह और जिन इन निर्जरा करनेमे उद्यत चित्तवाले दश पात्रोकी निर्जरा क्रमसे असख्यातगुणी असख्यातगुणी जानना चाहिये । इस प्रकार पूर्व ग्रन्थोंके अनुसार निर्जरातत्त्वका कथन किया ॥७९-८१॥

आगे तपका माहात्म्य कहते हैं—

भवसिन्धुसमुत्तारसोत्कण्ठं मानसं यते ! ।
वर्तते यदि तत्क्षिप्रं तपस्तीव्रं समाचर ॥८२॥
मुक्तिकान्तापरिष्वङ्गसंभवानन्दकन्दलीम् ।
लब्धुमिच्छसि चेत्साधो तत्तपः शीघ्रमाचर ॥८३॥

अर्थ— हे मुनिराज ! यदि आपका मन संसाररूपी सागरको पार करनेके लिये समुत्कण्ठित है तो शीघ्र ही तीव्र तपश्चरण करो ॥८२॥ हे साधुराज ! यदि आप मुक्तिरूपी स्त्रीके समालिङ्गनसे उत्पन्न होनेवाले आनन्दकी परम्पराको प्राप्त करना चाहते है तो शीघ्र ही तपश्चरण करो ॥८३॥

द्रुतविलम्बित

यदि मनस्तव मुक्तिमनस्विनी—
प्रणयभारसमालभनोद्यतम् ।
भवति साधुपते तपसां चयं
तदचिराद् धर सुन्दरभूषणम् ॥८४॥

अर्थ—हे मुनिराज ! यदि तुम्हारा मन मुक्तिरूपी स्त्रीका प्रेमसमूह प्राप्त करनेके लिये उद्यत है तो शीघ्र ही तप.समूहरूपी सुन्दर आभूषणको धारण करो ॥८४॥

इस प्रकार सम्यक्त्वचिंतामणिमे निर्जरातत्त्वका वर्णन करनेवाला नवम मयूख समाप्त हुआ ॥९॥

दशमो मयूखः

अब मङ्गलाचरण पूर्वक मोक्षतत्त्वको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

रथोद्धता

नष्टकर्मनिचय जिनेश्वरं
बोधदृष्टिसुखवीर्यशालिनम् ।
मोक्षतत्त्वमथ कीर्त्यतेऽधुना
भक्तिभारनिभृतं प्रणम्य च ॥१॥

अर्थ—जिनके कर्मोंका समूह नष्ट हो चुका है तथा जो ज्ञान, दर्शन, सुख, और वीर्यसे सुशोभित हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान्को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर इस समय मोक्षतत्त्वका कथन किया जाता है ॥१॥

मोक्षका स्वरूप—

सर्वकर्मनिचयस्य योगिना-
मात्मनः किल विमोक्षणं तु यत् ।
तद्धि -सर्वसुखद प्रकीर्त्यते
मोक्षतत्त्वमिह साधुसचयैः ॥२॥

अर्थ--योगियो--मुनियोकी आत्मासे समस्त कर्मसमूहका जो छूटना है वह इस जगत्मे साधुसमूहके द्वारा सर्वसुखदायक मोक्ष कहा जाता है।

भावार्थ--सवर और निर्जराके द्वारा समस्त कर्मोंका सदाके लिये सब प्रकारसे छूट जाना मोक्ष कहलाता है। यह मोक्ष मुनियोको ही प्राप्त होता है, गृहस्थोंके लिये नही ॥२॥

आगे केवलज्ञानपूर्वक ही मोक्षकी प्राप्ति होती है यह कहते है--

ध्यानतीक्ष्णकरवालधारया कृत्तमोहविधिसैन्यभूपतिः ।
न्यक्कृतत्रिविधघातिको जनो बोधराज्यमतुलं प्रपद्यते ॥३॥

अर्थ—ध्यानरूपी तीक्ष्ण तलवारकी धारासे जिन्होने सर्वप्रथम मोह-रूपी कर्मसेनाके सेनापतिको नष्ट किया है और पश्चात् शेष तीन घातिया कर्मोंको नष्ट किया है ऐसा मनुष्य केवलज्ञानरूप अनुपम राज्यको प्राप्त करता है।

भावार्थ—क्षपकश्रेणीमे आरूढ मुनि शुक्लध्यानके प्रथम भेदके द्वारा दशम गुणस्थानके अन्तमे मोहनीय कर्मका पूर्ण क्षय करते है। यह मोहनीय कर्म, समस्त कर्मोंमे प्रधान है क्योकि इसके उदयमे होनेवाले मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद और कषायरूप परिणामोसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है। मोहनीयका पूर्ण क्षय हो जानेपर मुनि, सेनापतिको नष्ट करने-वाले राजाके समान निश्चिन्तताको प्राप्त होते है। पश्चात् शुक्लध्यानके द्वितीय भेदके द्वारा बारहवें गुणस्थानके अन्तमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और नामकर्मकी सोलह प्रकृतियोका क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करते है ॥३॥

नास्ति तत्किमपि भूत्रयेऽपि यज्जैनबोधविषयं न पद्यते।
अन्तशून्यमथ दर्शनं सुख वीर्यमत्र लभते जिनेश्वरः ॥४॥

अर्थ—तीनो लोकोमे वह कोई भी पदार्थ नही है जो जिनेन्द्र भगवान्के ज्ञानके विषयको प्राप्त नही होता है। वे जिनेन्द्र भगवान् घातिचतुष्कका क्षय करके अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यको प्राप्त होते है। तात्पर्य यह है कि अरहंत भगवान् अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस अनन्तचतुष्टयसे सहित होते हैं ॥४॥

नष्टनैकविधकर्मलेपनः
प्राप्तनिर्मलगुणोच्चयो जिनः।
वीतवारिधरमण्डलावलिः
संचकास्ति गगने यथा रविः ॥५॥

अर्थ—जिनका नाना प्रकारका कर्मरूपी लेप नष्ट हो गया है और जिन्हे निर्मल गुणोंका समूह प्राप्त हुआ है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् आकाशमे मेघके समूहके आवरणसे रहित सूर्यके समान देदीप्यमान होते हैं ॥५॥

आर्या

देशोनकोटिपूर्वं देशे देशे विहारमारभ्य ।
दिव्यध्वनिप्रकाशैर्जनतामोहान्धतामस हरते ॥६॥

अर्थ—वे देशोनकोटिपूर्व तक अनेक देशोमे विहार कर दिव्यध्वनिके प्रकाशद्वारा जनसमूहके मोहरूपी गाढ अन्धकारको नष्ट करते हैं ॥६॥

भावार्थ—कर्मभूमिज मनुष्यकी उत्कृष्ट स्थिति एक कोटिपूर्व वर्षकी है और उसे शीघ्रसे शीघ्र केवनज्ञान हो तो आठ वर्ष तथा अन्तर्मुहूर्तमे हो सकता है। उसके बाद उनका आर्यदेशोमे विहार होने लगता है जो वर्तमान आयुके अन्तिम अन्तर्मुहूर्त छोड कर शेष काल तक होता रहता है। उनके उपदेशोंसे-भव्य जीवोका मोहान्धकार नष्ट होता है ॥६॥

शालिनीछन्द

अन्ते शुक्लध्यानवह्निप्रतापै-
रन्त नीत्वाऽघातिनां तच्चतुष्कम् ।
आत्मानन्दं स्वात्मजात समग्रं
मुक्तो भूत्वोपाश्नुते स क्षणेन ॥७॥

अर्थ—अन्तमे शुक्लध्यानरूपी अग्निके प्रतापसे अघातिचतुष्कको नष्ट कर वे क्षणभरमे मुक्त हो कर स्वात्मोत्थ सम्पूर्ण आत्मानन्दको प्राप्त होते हैं ॥७॥

उपजाति

काले गते कल्पशतेऽपि सिद्धो
नायाति भूयो भवसिन्धुनाथम् ।
मुक्त्यङ्गनासङ्गमसौख्यपीयू-
षपानसभूतमुदावलिप्त. ॥८॥

अर्थ—सैकडों कल्पकाल बीत जानेपर भी सिद्ध परमेष्ठी पुनः ससार-सागरको प्राप्त नही होते है। वे सदा मुक्तिरूपी स्त्रीके समागम सम्बन्धी सुखामृतके पानसे उत्पन्न हर्षसे युक्त रहते हैं ॥८॥

आगे सिद्धोकी विशेषताका वर्णन करते हैं—

सम्यक्त्वज्ञानसद्दृष्टिसिद्धत्वानि विहाय वै ।
कर्मसम्बन्धजाताया अभावो भावसंहतेः ॥९॥

भव्यत्वस्यापि विज्ञेयो नाशो मुक्तिवधूपतेः ।
कर्मदुर्लेपनाभावे जीवश्चोदूर्ध्वं व्रजत्यसौ ॥१०॥
आलोकान्तात्स्वयं सिद्धो ह्येकेन समयेन च ।
धर्मास्तिकायसद्भावस्ततोऽग्रे नास्ति कुत्रचित् ॥११॥
न सिद्धानां भवेत्तेन ततोऽग्रे जातुचिद् गतिः ।
तृतीयवातवलयस्थाने संतिष्ठते चिरम् ॥१२॥

अर्थ—क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, सिद्धत्व (तथा अनन्तवीर्य) को छोडकर कर्मसम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले भावसमूहका सिद्धोके अभाव हो जाता है । मुक्तिवधूके स्वामी सिद्ध परमेष्ठीके भव्यत्वभावका भी नाश हो जाता है । कर्मरूपी दुःखदायक लेपका अभाव होनेपर वह सिद्धपरमेष्ठी एक समयमे ऊर्ध्वगति स्वभावसे लोकान्त तक पहुँच जाते हैं । लोकान्तके आगे कही भी धर्मास्तिकायका सद्भाव नही है इसलिये उसके आगे सिद्धोकी कभी भी गति नही होती है । वे तृतीय वातवलय—तनुवातवलयके पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण अन्तिम क्षेत्रमे चिर कालके लिये स्थिर हो जाते है ॥९-१२॥

अब हेतु और उदाहरणोके द्वारा सिद्धोके ऊर्ध्वगमन स्वभावको सिद्ध करते हैं—

पूर्वप्रयोगतो बन्धच्छेदान्निःसङ्गतोऽपि वा ।
तथागतिस्वभावाद्वा तेषामूर्ध्वगतिर्भवेत् ॥१३॥
कुलालप्रेरितं चक्रं निवृत्ते प्रेरणेऽपि वै ।
भ्रमत्येव यथा जीवस्तथा कर्मणि निर्गते ॥१४॥
कोशबन्धोद्गत बीजमेरण्डस्य यथोत्पतेत् ।
छिन्नबन्धस्तथा जीवो नियतं चोर्ध्वमेति सः ॥१५॥
गतलेपो यथालाबूरुद्गच्छेत् सलिलाशये ।
नष्टकर्ममृदालेपस्तथोद्गच्छति मुक्तिभाक् ॥१६॥
यथा वैश्वानरज्वाला, स्वभावदूर्ध्वमेति सा ।
तथा प्रयाति जीवोऽयं मुक्त ऊर्ध्वस्वभावत ॥१७॥

अर्थ—पूर्वप्रयोग, बन्धच्छेद, निःसङ्गता और तथागतिस्वभावसे उन सिद्धोकी ऊर्ध्वगति होती है ॥१३॥ जिस प्रकार कुम्भकारके द्वारा प्रेरित हुआ चक्र, प्रेरणाके दूर हो जानेपर भी सस्कारवश घूमता रहता है उसी प्रकार जीव भी कर्मके नष्ट हो जानेपर सस्कारवश ऊपरकी ओर गमन करता है। अथवा जिस प्रकार कोशबन्धके छिन्न होनेपर एरण्डकी मिगी ऊपरकी ओर जाती है उसी प्रकार कर्मबन्धनके छिन्न होनेपर सिद्ध जीव भी ऊपरकी ओर जाता है। अथवा लेपके गल जानेपर जिस प्रकार जलाशयमे तूमा ऊपरकी ओर उठता है उसी प्रकार कर्मरूपी मिट्टीका लेप नष्ट हो जानेपर मुक्त जीव ऊपरकी ओर गमन करता है। अथवा जिस प्रकार अग्निकी ज्वाला स्वभावसे ही ऊपरको ओर जाती है उसी प्रकार यह मुक्त जीव भी स्वभावसे ऊपरकी ओर जाता है ॥१४-१७॥

आगे सिद्धोके आठ गुणोका वर्णन करते हैं—

ज्ञानावृतेः क्षये जातेऽनन्तज्ञानं प्रकाशते।
दर्शनावरणे क्षीणे निरन्ता दृष्टिरुद्भवेत् ॥१८॥
वेदनीयविनाशेन ह्यव्याबाधो गुणो भवेत्।
प्रपन्ने पञ्चतां मोहे सम्यक्त्वमुपजायते ॥१९॥
विरहेणायुषः किञ्चावगाहनगुणो भवेत्।
सूक्ष्मत्वमिष्यते नूनमभावे नामकर्मणः ॥२०॥
गोत्रकर्मणि सछिन्ने गुणोऽगुरुलघुर्भवेत्।
अन्तरायविनाशेन वीर्यत्वमुपजायते ॥२१॥

अर्थ—ज्ञानावरणका क्षय होनेपर अनन्तज्ञान प्रकाशित होता है। दर्शनावरणके नष्ट होनेपर अनन्तदर्शन प्रकट होता है। वेदनीयका विनाश होनेसे अव्याबाध गुण होता है। मोहके नष्ट हो जानेपर सम्यक्त्वगुण उत्पन्न होता है। आयुके अभावसे अवगाहनगुण होता है। निश्चय ही नामकर्मका अभाव होनेपर सूक्ष्मत्वगुण माना जाता है। गोत्रकर्मका क्षय होनेपर अगुरुलघुगुण होता है और अन्तरायके विनाशसे वीर्यगुण प्रकट होता है ॥१८-२१॥

आगे मुक्त जीवोके वैभाविकी शक्तिका स्वाभाविक परिणमन होता है, यह कहते है—

जीवे वैभाविकीशक्तेः प्रोक्तायाः पूर्वसूरिभिः ।
ज्ञेया स्वाभाविकी वृत्तिर्मुक्तौ मुक्तिभृतां नृणाम् ॥२२

अर्थ—पूर्वाचार्योंने जीवमे जिस वैभाविकी शक्तिका कथन किया है उस शक्तिका मोक्षमे मुक्त जीवोके स्वाभाविक परिणमन होता है ॥२३॥

अब मुक्त जीवोकी अवगाहनाका वर्णन करते हैं—

ईषन्न्यूनाकृतिस्तेषामन्त्यदेहप्रमाणतः ।
क्षुण्णकर्मकदम्बानां प्रोक्ता मुक्तिर्महीतले ॥२३॥

अर्थ—जिनके कर्मसमूहका क्षय हो चुका है ऐसे सिद्ध परमेष्ठियोकी अवगाहना मुक्तिमे अन्तिम शरीरसे कुछ कम कही गई है ॥२३॥

आगे मुक्त जीवोमे आसनका कथन करते हैं—

द्वे एव चासने प्रोक्ते सिद्धानां सिद्धिसद्मनि ।
एकं पद्मासनं त्वन्यत् कायोत्सर्गासनं तथा ॥२४॥

अर्थ—सिद्ध जीवोंके मोक्षमे दो आसन कहे गये हैं—एक पद्मासन और दूसरा कायोत्सर्गासन ॥२४॥

आगे यद्यपि आत्मगुणोके विकासकी अपेक्षा सब सिद्धोमे समानता है तथापि क्षेत्र आदिकी अपेक्षा विशेषता बताते हैं—

क्षेत्रं कालं गतिं तीर्थं चारित्रं बुद्धबोधितम् ।
ज्ञानावगाहने लिङ्गं संख्यामल्पबहुत्वकम् ॥२५॥
अन्तरं च समाश्रित्य भूतप्रज्ञापनैर्नयैः ।
भेदाः सिद्धेषु संसाध्याः पण्डितानामधीश्वरैः ॥२६॥

अर्थ—ज्ञानी जनोको भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा सिद्धोमे क्षेत्र, काल, गति, तीर्थ, चारित्र, बुद्ध-बोधित, ज्ञान, अवगाहना, लिङ्ग, संख्या, अल्पबहुत्व और अन्तर इन बारह अनुयोगोका आश्रय कर भेद सिद्ध करना चाहिये।

विशेषार्थ—क्षेत्रादि अनुयोगोका वर्णन वर्तमानग्राही तथा भूतग्राही इन दो नयोके द्वारा किया गया है। जो इस प्रकार है—

क्षेत्र—

प्रश्न—क्षेत्रकी अपेक्षा किस क्षेत्रमे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा सिद्धक्षेत्रमे, अपने आत्म-प्रदेशोमे अथवा आकाशप्रदेशमे सिद्धि होती है। भूतग्राही नयकी अपेक्षा जन्मसे पन्द्रह कर्मभूमियोमे और अपहरणकी अपेक्षा मानुष क्षेत्र—अढाई द्वीपमे सिद्धि होती है।

काल—

प्रश्न—कालकी अपेक्षा किस कालमे सिद्धि होती है ?

उत्तर—वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा एक समयमे सिद्ध होता है और भूतग्राही नयकी अपेक्षा जन्मसे सामान्य रूपमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-मे उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। विशेषरूपमे अवसर्पिणी कालमे सुषमा दु षमाके अन्त भागमे और दुःषमासुषमामे उत्पन्न हुआ मनुष्य सिद्ध होता है। दुःषमामें उत्पन्न हुआ दु षमामे सिद्ध नही होता। अन्य कालमे सिद्ध नही होता। अपहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोमें सिद्ध होता है।

गति—

प्रश्न—गतिकी अपेक्षा किस गतिसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—सिद्ध गति अथवा मनुष्यगतिसे सिद्ध होते हैं।

लिङ्ग—

प्रश्न—किस लिङ्गसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—अवेदभावसे अथवा तीनो वेदोसे सिद्ध होते हैं। यह भाव-वेदकी अपेक्षा कथन है। द्रव्यवेदकी अपेक्षा केवल पुरुषवेदसे ही सिद्ध होते हैं। अथवा लिङ्गके दो भेद हैं—१ निर्ग्रन्थ लिङ्ग और २ सग्रन्थ-लिङ्ग। इनमेसे निर्ग्रन्थलिङ्ग—दिगम्बर मुद्रासे ही सिद्ध होते हैं सग्रन्थ-लिङ्गसे नही। अथवा भूतपूर्व नयकी अपेक्षा सग्रन्थलिङ्गसे भी सिद्ध होते हैं।

तीर्थ—

तीर्थसिद्ध दो प्रकारके होते हैं—१ तीर्थंकर सिद्ध और २ इतर सिद्ध। जो स्वय तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं वे तीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं और जो तीर्थंकर न होकर साधारण मनुष्यपदसे मोक्ष प्राप्त करते हैं वे इतर सिद्ध कहलाते हैं। इतर सिद्ध भी दो प्रकारके हैं—एक तीर्थंकरके रहते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं और दूसरे तीर्थंकरके अभावमे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

चारित्र—

प्रश्न—किस चारित्रसे सिद्ध होते है ?

उत्तर—अव्यपदेश—नामरहित चारित्रसे सिद्ध होते है अथवा यथाख्यात चारित्रसे सिद्ध होते है। अथवा सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात इन चार चारित्रोसे सिद्ध होते है अथवा जिनके परिहारविशुद्धि चारित्र भी होता है उनकी अपेक्षा पाँच चारित्रोसे सिद्ध होते हैं।

प्रत्येकबुद्ध—बोधितबुद्ध—

कोई मनुष्य पूर्वभवके संस्कारकी प्रबलतासे परोपदेशके विना स्वयं ही विरक्त हो दीक्षा लेकर सिद्ध होते है वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते है और कोई दूसरेके उपदेशसे प्रभावित हो दीक्षा लेकर सिद्ध होते है वे बोधितबुद्ध कहलाते हैं।

ज्ञान—

प्रश्न—किस ज्ञानसे सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—वर्तमान नयकी अपेक्षा केवलज्ञानसे सिद्ध होते है और भूतपूर्वग्राही नयकी अपेक्षा कोई मति, श्रुतके वाद केवलज्ञानी होकर सिद्ध होते है, कोई मति-श्रुत और अवधिके बाद अथवा मति,श्रुत और मन - पर्ययके बाद अथवा मति आदि चारो ज्ञानोके बाद केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होते है।

अवगाहना—

प्रश्न—सिद्धोकी कितनी अवगाहना है ?

उत्तर—सिद्धोकी उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढे तीन हाथ प्रमाण है। मध्यम अवगाहनाके अनेक विकल्प हैं। साढे तीन हाथकी अवगाहना चतुर्थ कालके अन्तमे होनेवाले जीवोके सभव होती है अथवा चतुर्थ कालमे जब मनुष्यकी पूर्ण अवगाहना सात हाथके लगभग होती है तब किसी बालकको आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्तकी अवस्थामे केवलज्ञान हो जावे तो उसकी अपेक्षा संभव होती है क्योकि केवलज्ञान होनेपर शरीरकी बाढ नही होती।

अन्तर—

प्रश्न—सिद्धोमे अन्तर कितना होता है ?

उत्तर—लगातार सिद्ध होते हुए सिद्धोमे जघन्य अनन्तर दो समय और उत्कृष्ट अनन्तर आठ समय है। जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह माह है।

संख्या—

प्रश्न—एक समयमे कितने जीव सिद्ध होते हैं ?

उत्तर—कम-से-कम एक और अधिक-से-अधिक एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं ।

अल्पबहुत्व—

क्षेत्रादि अनुयोगोकी अपेक्षा परस्पर हीनाधिकताका विचार करना अल्पबहुत्व हैं । वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्रमे सिद्ध होनेवाले जीवोमे अल्पबहुत्व नही है । भूतपूर्वग्राही नयकी अपेक्षा विचार करते हैं—क्षेत्रसिद्ध जीव दो प्रकारके हैं—१ जन्मसिद्ध और २ सहरणसिद्ध । इनमे सहरणसिद्ध जीव सबसे अल्प हैं । जन्मसिद्ध जीव इनसे सख्यातगुणे हैं । क्षेत्रोका विभाग सात प्रकारका है—१ कर्मभूमि, २ अकर्मभूमि, ३ समुद्र, ४ द्वीप, ५ ऊर्ध्वलोक, ६ अधोलोक और ७ तिर्यग्लोक । इनमे ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे थोडे हैं । इनसे अधोलोक सिद्ध सख्यातगुणे हैं । इनसे तिर्यग् लोकसिद्ध सख्यातगुणे हैं । समुद्रसिद्ध सबसे कम हैं । इनसे द्वीपसिद्ध सख्यातगुणे हैं । यह सामान्य कथन है । विशेषरूपसे विचार करनेपर लवण-समुद्रसे सिद्ध होनेवाले सबसे अल्प हैं, कालोदधिसे सिद्ध होनेवाले इनकी अपेक्षा संख्यातगुणे हैं, इनसे सख्यातगुणे जम्बूद्वीपसिद्ध है, इनसे सख्यात-गुणे धातकीखण्डसिद्ध हैं, इनसे सख्यातगुणे पुष्करार्धद्वीपसिद्ध है ।

कालविभाग तीन प्रकारका है—१ उत्सर्पिणी, २ अवसर्पिणी और ३ अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी । इनमे उत्सर्पिणीसिद्ध सबसे अल्प हैं, अव-सर्पिणीसिद्ध इनसे विशेष अधिक और अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी सिद्ध अर्थात् विदेहक्षेत्रसे सिद्ध होने वाले सिद्ध इनसे सख्यातगुणे हैं ।

अनन्तर सिद्धोमे अष्टसमयानन्तर सिद्ध सबसे अल्प हैं, सप्तसमया-नन्तर सिद्ध उनकी अपेक्षा सख्यातगुणे हैं, इस प्रकार द्विसमयानन्तर सिद्ध तक सख्यातगुणे सख्यातगुणे हैं । सान्तर सिद्धोमे छह मासके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले सबसे अल्प हैं और एक समयके अन्तरसे सिद्ध होनेवाले सख्यातगुणे हैं ।

तिर्यञ्चगतिसे मनुष्यगतिमे आकर सिद्ध होनेवालोकी सख्या सबसे थोडी है । मनुष्यगतिसे मनुष्यगतिमे आकर सिद्ध होनेवालोकी संख्या उनसे सख्यातगुणी हैं । नरकगतिसे मनुष्यगतिमे आकर सिद्ध होने वालोको सख्या उनसे सख्यातगुणी है और देवगतिसे मनुष्यगतिमे आकर सिद्ध होनेवालोकी सख्या उनसे सख्यातगुणी है ।

परमार्थसे वेदरहित जीव ही सिद्ध होते है क्योकि वेदका उदय नवम गुणस्थान तक ही रहता है। भूतग्राही नयकी अपेक्षा भावनपुसकवेदसे सिद्ध होनेवाले सबसे थोडे है, भावस्त्रीवेदसे सिद्ध होनेवाले उनकी अपेक्षा संख्यातगुणे हैं और द्रव्य तथा भाव पुवेदमे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे हैं। तीर्थानुयोगकी अपेक्षा तीर्थंकरसिद्ध सबसे अल्प हैं और अन्य सिद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं।

चारित्रानुयोगकी अपेक्षा सब यथाख्यातचारित्रसे ही सिद्ध होते है, परन्तु भूतग्राही नयकी अपेक्षा पाँच चारित्रो और चार चारित्रोसे सिद्ध होते हैं। उनमे पाँच चारित्रोसे सिद्ध होनेवाले अल्प है और चार चारित्रोसे सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे है।

प्रत्येकबुद्ध अल्प हैं और बोधितबुद्ध उनसे सख्यातगुणे हैं।

मति, श्रुत और मन पर्यय ज्ञानके बाद केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले सबसे थोडे हैं। मति, श्रुत ज्ञानके बाद केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे हैं। मति, श्रुत, अवधि और मन पर्ययज्ञान पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे है और मति, श्रुत, अवधि पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे है।

जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले सबसे थोड़े हैं। उत्कृष्ट अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यातगुणे हैं और मध्यम अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले उनसे सख्यात गुणे है।

एकसौ आठकी संख्यामे सिद्ध होनेवाले सबसे थोडे है। एकसौ आठसे लेकर पचास तक सिद्ध होनेवाले अनन्तगुणे है। उनचाससे २५ तक सिद्ध होनेवाले असंख्यातगुणे है और चौबीससे एक तक सिद्ध होनेवाले सख्यातगुणे है ॥२५-२६॥

आगे मोक्षकी प्रशंसा करते हुए कहते है—

स्रग्धरा छन्द

वातव्याधूततोयोद्धरितजलधरव्यूहसन्मार्गतुल्यो
वायूद्दीप्तप्रचण्डानलचपलशिखातप्तभर्मप्रभावः ।
शाणोल्लीढप्रभास्वत्किरणयुतमणिज्योतिराढ्यः समन्तात्
मुक्तात्मा रिक्तकर्मा विहतनिखिलसत्कर्मसङ्घोऽपि जीयात् ।२७

अर्थ—जिसके सजल मेघोका समूह वायुसे उडा दिया गया है ऐसे आकाशके समान हैं, जिनका प्रभाव, वायुसे प्रदीप्त प्रचण्ड अग्निकी चञ्चल शिखाओसे सन्तप्त स्वर्णके समान है, जो शाणपर कसे हुए देदीप्यमान किरणोसे युक्त मणिकी ज्योतिसे परिपूर्ण हैं, जो कर्मरहित हैं तथा जिनके समस्त पुण्यकर्मोका समूह भी नष्ट हो गया है ऐसे सिद्ध भगवन्त सदा जयवन्त प्रवर्तें ॥२७॥

आर्या

काञ्चनपञ्जरपतितो वनचरनाथः सुलालितो यद्वत् ।
वाञ्छति सतत सघनं गहनं स्वातन्त्र्यसद्गेहम् ॥२८॥
सुरपतिनरपतिभोगावलीं प्रपन्न सचेतनस्तद्वत् ।
भवकारागृहपतितो वाञ्छति मोक्षं सदा सुखदम् ॥२९॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णके पिंजडेमे पडा और अच्छी तरहसे पाला गया सिंह स्वतन्त्रताके घरस्वरूप सघन वनकी सदा इच्छा करता है उसी प्रकार ससाररूपी कारागृहमे पडा यह जीव इन्द्र तथा चक्रवर्तीके भोगसमूहको प्राप्त कर भी सदा सुखदायक मोक्षकी इच्छा करता है ॥२८-२९॥

शालिनी

कैवल्याढ्य दृष्टिवीर्यप्रपूर्णं
सौख्यप्राप्त कर्मशून्यं समन्तात् ।
भास्वद्भास्वज्ज्योतिरीशं स्वतन्त्रं
सिद्धात्मानं नौमि भक्त्या सदाऽहम् ॥३०॥

अर्थ—जो केवलज्ञानसे सहित हैं, दर्शन और वीर्यसे परिपूर्ण हैं, अनन्तसुखसे युक्त हैं, सब ओरसे देदीप्यमान सूर्यसदृश ज्ञानज्योतिके स्वामी है तथा स्वतन्त्र हैं उन सिद्धात्माकी मैं सदा भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ ॥३१॥

आगे व्यवहारसम्यग्दर्शनके विषय होनेसे उपस्थित देव, शास्त्र, गुरुकी, लक्षणगर्भित स्तुति करते हैं—

हिन्दीगीतिकाछन्द

गुणरत्नभूषण ! त्रि गतदूषण ! सौम्यभावनिशापते !
सद्बोधभानुविभाविभासितसकललोक ! विदांपते ! ।

निःसीमसौख्यसमूहमण्डित ! योगखण्डितरतिपते !
अर्हन्नभङ्गुरशर्मभारं देहि मे समतापते ! ॥३१॥

अर्थ—जो गुणरूपी रत्नमय आभूषणोसे सहित हैं, दूषणोसे रहित हैं, सौम्यभावके लिए चन्द्रस्वरूप हैं, सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशसे जिन्होने सकल लोकको प्रकाशित कर दिया है, जो ज्ञानियोमे अतिशय श्रेष्ठ हैं, अनन्तसुखसमूहसे सुशोभित हैं, जिन्होने ध्यानके द्वारा कामको नष्ट कर दिया है तथा जो समताके स्वामी है ऐसे हे अर्हन्त भगवान् ! आप मेरे लिए अविनाशी सुख प्रदान कीजिये ॥३१॥

वसन्ततिलका

रागाद् विना किमपि वस्तु हितं दिशन्तं
भव्योत्कराय हतकर्मचतुष्टयं तम् ।
मोहादिदोषरहितं विमलीभवन्तं
सेवे मुदा गतभवं भगवन्तमाप्तम् ॥३२॥

अर्थ—जो भव्यसमूहके लिए रागके बिना किसी हितकारी अनिर्वचनीय वस्तुका उपदेश देते है, जिन्होने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जो मोहादि दोषोसे रहित हैं, निर्मल हो रहे है तथा जिनका ससार समाप्त हो चुका है ऐसे भगवान् अर्थात् अष्टप्रातिहार्यरूप ऐश्वर्यसे सहित अरहन्तकी मैं हर्षपूर्वक सेवा—आराधना करता हूँ ॥३२॥

हिन्दीगीतिकाछन्द

सद्ध्यानतीक्ष्णकृपाणधारानिहतकर्मकदम्बकं
कृतकृत्यमखिलनरेन्द्रवन्द्यं प्राप्तसुखनिकुरम्बकम् ।
योगीन्द्रयोगनिरूपणीयं स्वात्मकेलिकलापतिं
चैतन्यपिण्डमखण्डरूपं भजे मुक्तिरमापतिम् ॥३३॥

अर्थ—समीचीन ध्यानरूपी खड्गकी धारासे जिन्होने कर्मसमूहको नष्ट कर दिया है, जो कृतकृत्य है, समस्त नरेन्द्रोके द्वारा वन्दनीय हैं, जिन्होने सुखसमूहको प्राप्त कर लिया है, योगीन्द्र—बड़े बड़े मुनिराज अपने ध्यानमे जिनका अवलोकन करते है, जो स्वकीय शुद्ध आत्मामे रमण करनेकी कलाके स्वामी है, चैतन्य—ज्ञान-दर्शनरूप चेतनाके समूह हैं, तथा अखण्डरूप है उन सिद्धपरमेष्ठीकी मैं सेवा करता हूँ ॥३३॥

वसन्ततिलका

सिद्धात् विशुद्धवरबोधधरान् प्रसिद्धान्
कर्मारिसङ्घविजयेन विवर्धमानान् ।
शुद्धान्तरीक्षतुलितानमितांश्च नित्यं
वन्दे विभून् भगवतोऽवहितो हिताय ॥३४॥

अर्थ—जो निर्मल केवलज्ञानको धारण कर रहे हैं, प्रसिद्ध हैं, कर्मरूप शत्रुसमूहपर विजय प्राप्त करनेसे निरन्तर बढ रहे हैं, निर्मल आकाशके समान हैं तथा अपरिमित—अनन्त हैं उन विभु, भगवन्त सिद्धपरमेष्ठियोको मै हितके लिए एकाग्र होता हुआ नमस्कार करता हूँ ॥३४॥

हिन्दीगीतिका छन्द

ससारसिन्धुनिमग्नजन्तुसमूहहितकरदेशन
सर्वज्ञयोगिनिवेदिताखिलवस्तुरूपनिवेशनम् ।
पूर्वापरादिविरोधशून्यमनन्तधर्मविकाशन
शास्त्रं नमामि निरन्तरं नरकादिदु खविनाशनम् ॥३५॥

अर्थ—जो ससार-सागरमे निमग्न प्राणिसमूहके लिए हितकारी उपदेश देनेवाला है, जिसमे सर्वज्ञ जिनेन्द्रके द्वारा प्रतिपादित समस्त वस्तुओका समावेश है, जो पूर्वापर आदि विरोधसे रहित है, अनन्त धर्मोंको प्रकट करनेवाला है, तथा नरकादिके दु खोका नाश करनेवाला है उस शास्त्रको मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ ॥३५॥

आर्या

पूर्वापरादिबाधारहितं सर्वज्ञवीतरागेण ।
रचितं निचितं श्रेयोनिचयैः शास्त्र भजे भक्त्या ॥३६॥

अर्थ—जो पूर्वापरादि बाधाओसे रहित है, सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा रचित है तथा कल्याणोके समूहसे परिपूर्ण है उस शास्त्रकी भक्तिपूर्वक सेवा करता हूँ ॥३६॥

हिन्दीगीतिका छन्द

आचारपञ्चकचरणचारणतत्पर समताधर
नानातपोभरकृत्तकर्मकलापमाचितशमभरम् ।
गुप्तित्रयीपरिशीलनादिविशोभितं वदतांवर
आचार्यमञ्चितमर्चया प्रार्चामि सञ्चितशंभरम् ॥३७॥

अर्थ—जो पञ्चाचारका स्वयं पालन करने तथा दूसरोसे पालन करानेमे तत्पर हैं, साम्यभावको धारण करते हैं, नाना तपोंके समूहसे कर्मसमूहको नष्ट करनेमे उद्यत है, जिन्होने शान्तिके समूहका संचय किया है, जो तीन गुप्ति आदिके परिशीलनसे सुशोभित हैं, वक्ताओमे श्रेष्ठ हैं, पूजा-आराधनासे सहित हैं तथा निराकुलतारूप सुखसमूहको सञ्चित करनेवाले है ऐसे आचार्यपरमेष्ठीकी मैं पूजा करता हूँ ॥३७॥

वसन्ततिलका

आचारयन्ति किल पञ्चतया विभिन्न-
माचारमन्तिकगतानितरान्यतीन् ये ।
तांश्च स्वयं खलु तथा चरतः समर्च्या-
नाचार्यकानवहित. प्रणमामि भक्त्या ॥३८॥

अर्थ—जो निकटस्थ मुनियोको पञ्चाचारका आचरण कराते हैं और स्वय भी उनका आचरण करते है उन पूज्य आचार्यपरमेष्ठियोको मैं एकाग्र होता हुआ भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ ॥३८॥

हिन्दीगीतिका छन्द

द्वादशविभेदविभिन्नश्रुतभरपठनपाठनकर्मठ
दुर्योगयोगनिरोधरोधितनिखिलदुःखदुर्हठम् ।
कर्त्तव्यदेशनतत्परं विज्ञानगौरवशालिनं
वन्दे सदाऽमितमोदतो गुरुदेवदीधितिमालिनम् ॥३९॥

अर्थ—जो द्वादशाङ्ग श्रुतसमूहके पठन-पाठनमे दक्ष है, जिन्होने दुर्ध्यानोका प्रसङ्ग रोक कर समस्त दु खदायक कदाग्रहोको दूर कर दिया है, जो कर्त्तव्यका उपदेश देनेमे तत्पर हैं, और वीतराग-विज्ञानके गौरवसे सुशोभित हैं उन उपाध्यायपरमेष्ठीरूपी सूर्यको मैं सदा अपरिमित हर्षसे नमस्कार करता हूँ ॥३९॥

वसन्ततिलका

एकादशाङ्गकुशलांश्च समग्रपूर्व-
विज्ञान् यतीन् पठनपाठनकर्मठांस्तान् ।
अध्यापकान् श्रुतधरान् सुगतान् समस्तान्
वन्दामहे सुरवरैः श्रितपादपद्मान् ॥४०॥

अर्थ—जो ग्यारह अङ्गोमे कुशल हैं, समस्त पूर्वोके ज्ञाता हैं, पठन-पाठनमें निपुण हैं, शास्त्रोके धारक हैं, उत्तम ज्ञानसे सहित हैं तथा इन्द्रोके द्वारा पूजितचरण हैं उन समस्त उपाध्याय परमेष्ठियोको हम नमस्कार करते हैं ॥४०॥

हिन्दीगीतिका छन्द

सयमसमित्यावश्यकापरिहाणिगुप्तिविभूषितं
पञ्चाक्षदान्तिसमुद्यत समतासुधाभरभूषितम् ।
भूपृष्ठविष्टरशायिनं ह्यातापनादिविभूषितं
साधुं सदा परमेष्ठिनं वन्दे मुदा शमभूषितम् ॥४१॥

अर्थ—जो सयम, समिति, आवश्कापरिहाणि और गुप्तियोंसे विभूषित हैं, पञ्चेन्द्रियोका दमन करनेमे उद्यत हैं, समतारूपी अमृतके समूहसे सुशोभित हैं, पृथिवीतलरूप शय्यापर शयन करनेवाले है, आतापनादि योगोसे अलकृत हैं तथा प्रशमभाव—लोकोत्तर शान्तिसे विराजमान हैं उन साधुपरमेष्ठीको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥४१॥

उपजाति

संसारमेतं खलु सारहीनं
विबुध्य मुक्त्यध्वनि वर्तमानाः ।
ये साधयन्त्यात्महित वनेषु
यतीन्यजे तान् वरभक्तिभावात् ॥४२॥

अर्थ—जो निश्चयसे ससारको सारहीन जानकर मुक्तिके मार्गमें वर्त्तमान हैं—प्रयाण कर रहे हैं तथा जो वनोमे आत्महितकी साधना करते हैं उन मुनियो—साधुपरमेष्ठियोकी मैं उत्कृष्ट भक्तिभावसे पूजा करता हूँ ॥४२॥

आगे अन्तमङ्गल करते हैं—

आर्या

गतविरुजं जितजलज नततमदिविजं समग्रगुणसज्जम् ।
हृतमुक्तिस्त्रीलज्जं चरणपयोजं भजे जिनेन्द्रस्य ॥४३॥

अर्थ—जो रोगरहित हैं, कमलको जीतनेवाले हैं, जिन्हे देव अत्यन्त नमस्कार करते हैं, जो समस्तगुणोंसे सुसज्जित हैं और जिन्होने मुक्ति-

रूपी स्त्रीकी लज्जाको दूर कर दिया है ऐसे जिनराजके चरणकमलोंकी सेवा करता हूँ ॥४३॥

स्रक्छन्दः

विषमविषयदवदहनघनहितः
सकलमनुजखगदिविजचयनतः ।
निखिलहृदयरथसुरपनगतति-
र्जयति जगति गुणविपुलजिनपतिः ॥४४॥

अर्थ—जो विषम विषयरूपी दावानलको शान्त करनेके लिए मेघके समान हितकारी हैं, समस्त मनुष्य, विद्याधर और देवोंके समूह जिन्हे नमस्कार करते हैं और जो, सबके मनोरथोंकी पूर्ति करनेके लिए कल्प-वृक्षोंके समूह है ऐसे विशाल गुणोंके धारक जिनेन्द्र भगवान् जगत्मे सदा जयवत प्रवर्तते हैं ॥४४॥

इस प्रकार सम्यक्त्व-चिन्तामणिमे मोक्षतत्त्व तथा देव-शास्त्र-गुरुका वर्णन करनेवाला दशम मयूख समाप्त हुआ ॥१०॥

सम्यक्त्व-चिन्तामणिः समाप्तः ।

●

प्रशस्तिः

गल्लीलालतनूजेन जानक्युदरसंभुवा ।
दयाचन्द्रस्य शिष्येण सागरग्रामवासिना ॥१॥

पन्नालालेन बालेन पूर्वाचार्यानुसारिणा ।
देव-शास्त्र-गुरून् भक्त्या नमता शुद्धचेतसा ॥२॥

पूर्वसूरिकृतान् ग्रन्थानाश्रित्य मन्दबुद्धिना ।
अल्पप्रज्ञजनोद्धारहेतवे रचितो ह्ययम् ॥३॥

ग्रन्थः सम्यक्त्वचिन्तादिर्मणिश्चिन्तामणीयताम् ।
भव्याना भद्रबुद्धीना तत्त्वज्ञानाभिलाषिणाम् ॥४॥

मुनिरसाब्धियुग्माख्ये(२४६७) वीरनिर्वाणवत्सरे ।
रचितोऽयं मया ग्रन्थः प्रतिष्ठा लभता सदा ॥५॥

असाधवो हसिष्यन्ति स्खलितं ह्यवलोक्य मे ।
साधवस्तु महाप्रज्ञा समाधास्यन्ति निश्चितम् ॥६॥

जिनागमविरुद्धस्य तत्त्वस्य प्रतिपादने ।
निरन्तर विभीतोऽस्मि क्षमन्ता मा ततो बुधाः ॥७॥

येषामाधारमासाद्य ग्रन्थोऽयमुदितः क्षितौ ।
सर्वांस्तान्मनसा वन्दे पूर्वाचार्यान्पुनः पुनः ॥८॥

श्लोकानुक्रमणिका

इ

प

म

श

ष

स

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२५	विज्ञातलोक त्रितय	विज्ञातलोकत्रितय
३	१२	जयाताच्छुभ	जयताच्छुभ
३	१५	कुन्दकन्दाचार्य	कुन्दकुन्दाचार्य
४	३	जिन	जिनने
५	१३	श्लोकै	श्लोकं
६	४	—विमोहितम	—विमोहिनम्
७	१	अधारभूत	आधारभूत
७	१३	क्रुश	कृश
९	१८	आत्मा	आत्माको
१०	१३	आत्मनैव कूत	आत्मनैव कृत
१०	१५	तत्प्रतीकाराभावे	तस्य प्रतीकाराभावे
१६	१०	एव	एव
१६	१५	दीर्णस्येव	दीर्णस्य
१९	३	विघाय	विधाय
२०	२०	सर्वज्ञनामभाक	सर्वज्ञनामभाक्
२०	२६	वय. कृत	वय कृत
२२	२०	मुक्ति	मुक्तिं
२५	१८	याग्यता	योग्यता
२६	९	पूर्वोका	पूर्वोक्त
५०	१०	भव्यजीवान	भव्यजीवाना
५२	२८	देशघती	देशघाती
५७	२३	ओपशामिक	औपशमिक
६६	३	घेय	ज्ञेय
६८	१८	श्रद्धानोऽन्यथा	श्रद्धानोऽन्यथा
७२	१२	मति'	यतिः
८०	१४	विजयन्ते	राजन्ते
८४	१३	मूर्च्छला	मूर्च्छांल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८८	१५	भुज्जन्ते	भुञ्जते
९२	१	कुण्ढे	कुण्डेषु
१०२	२	यभिघीयन्ते	अभिधीयन्ते
१०३	२६	कृतकर्मकलेवरै	कृत्तकर्मकलेवरै
१०४	१७	आर्येतरपञ्चखण्डेषु	आर्यादितरखण्डेषु
११०	१५	महातले	महीतले
१११	१७	प्राकारायते	तत्प्राकारायते
११२	१०	भविना	भविताम्
११२	१६	केचिद्गर्भजन्मानः	केचिद्वै गर्भजन्मान
१२६	११	हाता जाता है	होता जाता है
१२६	२०	इत्थमेकेन्द्रियानामवगाह	इत्थमेकेन्द्रियादीनामवगाह
१२८	२०	सूचिकलाप	सूचीकलाप
१२८	२१	प्रवाताभृत	प्रवातामृत
१३०	४	कर्मागमकरण	कर्मागमकारण
१३०	१४	प्रजापते	प्रजायते
१३०	२०	विरच्यते	विधीयते
१३२	१८	चेतायुताना	चेतोयुताना
१३८	६	विनाशनाम	विनाशनाय
१३८	२५	विधुतदोऽस्य	विधुतदोऽस्य
१३९	१६	भूरिभूति	भूरिभूते
१४४	२१	लोकावमासक	वै लोकावभासकम्
१४८	११	यमिसयत	यमिसमत
१४८	१३	यातेषु या तेषू	यातेषु
२०६	७	मिचुमर्दस्य	पिचुमर्दस्य
२२२	१८	वन्धो नु	वन्धो न
२२३	१२	षडपि च	षट् च हि
२२५	१६	विक्रियाञ्च शरीरस्य	विक्रियाख्यशरीरस्य
२३१	२८	वन्वन्तीह	बध्नन्तीह
२३४	२५	तद्वुभृत्सुभि	तद्बुभुत्सुभि
२३४	२९	प्रोक्ता सक्षेपाद्वा	प्रोक्ताऽसंक्षेपाद्वा
२३७	१५	आगे अनुभाग	आगे उत्कृष्ट अनुभाग
२३७	१८	अतिसक्लेशभावे न	अतिसंक्लेशभावेन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३७	१९	शुभानाशुभाना	शुभानामशुभाना
२४९	३०	भज्जन	भञ्जनं
२५०	१९	सदृश	सदृशं
२५८	१४	जाना	जान
२६०	२०	पमदस्स	पयदस्स
२६४	१९	नेकभूषा	नैकभूषा
२७३	६	कालओ का	कलाओका
२७५	२०	सयमन'	सयमनं
२७८	८	मुपचितुहि	मुपचिनु हि
२७८	१०	संचितुहि	सचिनु हि
२८०	१	विपवेदनरक्तक्षय	विपवेदनरक्तक्षयभय
२८०	१६	शीकर वै	शीकर नैव
२८१	२०	रक्तक्षय	रक्तक्षयभय
२८८	१५	क्षागिति	क्षगिति
२८९	१३	इति वत वुद्धया	इति वत किल बुद्धया
२९८	२७	काक गृद्धादि	काकगृद्ध्रादि
३०१	२७	वहुल तृषा	वहुलतृष्णा
३०५	४	राजुसप्तद्वयात्मा	रज्जुसप्तद्वयात्मा
३०५	१३	शेषर्घारणीय'	शैषैर्धारणीय.
३०७	४	त	तद्धि
३१६	१५	क्षीणरोचि	क्षीणरोचिः
३२०	१६	चिन्ताभिर्दूरगस्य	चिन्ताभ्यो दूरगस्य
३३६	२०	सदृष्टि	सद्दृष्टि
३३८	३२	प्रत्यनन्तवियोजकः	व्रत्यनन्तवियोजकः